हिन्दी भक्ति-शृङ्गार का स्वरूप

(एक आलोचनात्मक शोधपूर्ण-प्रबन्ध)

लेखक
डॉ० मिथिलेश कान्ति
एम० ए० एल-एल० बी० डी० फिल्०
डिप० एस० एस० डी० साहित्यरत्न
शिक्षा-विभाग बिहार सरकार

अभिमत
पं० बनारसीदास चतुर्वेदी
(संसद सदस्य)

दो शब्द
डॉ० नगेन्द्र
अध्यक्ष—हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रकाशक
चैतन्य प्रकाशन
कानपुर

प्रकाशक
पं० रामदुलारे वाजपेयी
अध्यक्ष—चैतन्य प्रकाशन
कानपुर

प्रथम संस्करण जनवरी १९६१

मूल्य दस रुपये

समर्पण

वात्सल्यमूर्ति अम्मा और बाबू जी

के

कर-कमलों में

अभिमत

डाक्टर मिथिलेश कान्तिजी के 'हिन्दी भक्ति शृंगार का स्वरूप' (प्रबन्ध) को मैंने इधर-उधर से देखा है और उसे अनेक ज्ञातव्य विषयों से परिपूर्ण पाया है। निस्सन्देह उन्होंने काफ़ी परिश्रम किया है। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है और बिना किसी संकोच के उन्होंने ऐसी बातों का विश्लेषण किया है जिन पर लिखते हुए प्राचीनतावादी झिझकते। उनके ग्रन्थ को देखकर यह विश्वास हो जाता है कि आलोचना-पद्धति पहले की अपेक्षा काफी प्रगति कर गई है। श्री मिथिलेश कान्ति जी की सफलता पर मैं उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

१६, नार्थ ऐवेन्यू, नई दिल्ली
१४.१२.६२

दो शब्द

मैंने डॉ० मिथिलेश कांति के ग्रन्थ का अवलोकन किया है। लेखक ने पैनी दृष्टि से हिन्दी भक्ति-काव्य में निहित शृंगार भावना का विश्लेषण किया है। उनकी विचार पद्धति स्वतंत्र है और उन्होंने निश्चय ही अपने मंतव्य को यथावत् व्यक्त करने में साहस का परिचय दिया है। यह विषय वास्तव में अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है और संभावना है कि विद्वानों का एक वर्ग प्रस्तुत प्रबन्ध की स्थापनाओं को स्वीकार न करे, परन्तु अनुसंधाता का अपना दृष्टिकोण सर्वथा प्रमाणित है और उसकी प्रतिपादन-शैली वैज्ञानिक एवं तर्क-सम्मत है।

मुझे विश्वास है कि हिन्दी में डॉ० मिथिलेश कांति के इस ग्रन्थ का आदर होगा।

हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

—नगेन्द्र

अभिमत

डाक्टर मिथिलेश कान्तिजी के 'हिन्दी भक्ति शृंगार का स्वरूप' (प्रबन्ध) को मैंने इधर-उधर से देखा है और उसे अनेक ज्ञातव्य विषयों से परिपूर्ण पाया है। निस्सन्देह, उन्होंने काफ़ी परिश्रम किया है। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है और बिना किसी संकोच के उन्होंने ऐसी बातों का विश्लेषण किया है जिन पर लिखते हुए प्राचीनवादी झिझकते। उनके ग्रन्थ को देखकर यह विश्वास हो जाता है कि आलोचना-पद्धति पहले की अपेक्षा काफ़ी प्रगति कर गई है। श्री मिथिलेश कान्ति जी की सफलता पर मैं उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

६६, नार्थ ऐवेन्यू, नई दिल्ली
१४ १२ ६२

दो शब्द

मैंने डॉ० मिथिलेश कांति के ग्रन्थ का अवलोकन किया है। लेखक ने पैनी दृष्टि से हिन्दी भक्ति-काव्य में निहित शृंगार भावना का विश्लेषण किया है। उसकी विचार पद्धति स्वतंत्र है और उसने निस्संकोच ही अपने मन्तव्य को यथावत् व्यक्त करने में साहस का परिचय दिया है। यह विषय वास्तव में अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है और संभावना है कि विद्वानों का एक वर्ग प्रस्तुत प्रबन्ध की स्थापनाओं को स्वीकार न करे, परन्तु अनुसंधाता का अपना दृष्टिकोण सर्वथा प्रमाणित है और उसकी प्रतिपादन-शैली वैज्ञानिक एवं तर्क-सम्मत है।

मुझे विश्वास है कि हिन्दी में डॉ० मिथिलेश कांति के इस ग्रन्थ का आदर होगा।

हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

—नगेन्द्र

अपनी बात

आज से लगभग दस वर्ष पूर्व हिन्दी भक्ति शृंगार की अनेक समस्याओं ने मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया था। तभी से मैं इस साहित्य का अध्ययन मनन और चिंतन करता आ रहा हूँ। यह साहित्य अति विशाल और गहन है, इसकी समस्याएँ जटिल हैं। इसकी सभी समस्याओं का मैं समाधान पा गया हूँ यह कहना कठिन है। फिर भी मैं जो कुछ जान सका हूँ उसका एक अंश इस ग्रंथ में प्रस्तुत है। इस विषय का विस्तृत अध्ययन मेरे शोध-प्रबन्ध में है।

भक्ति-शृंगार के इस अध्ययन में मैंने भक्ति और साहित्य-शास्त्र के अतिरिक्त सुधारस मनोविज्ञान और कामशास्त्र का भी सहारा लिया है। आशा है कि यह ग्रंथ भक्ति शृंगार के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होगा।

इस ग्रंथ को लिखने की प्रेरणा श्री रामकुमार वाजपेयीजी ने दी। मैं उनका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। मेरी अग्रजा श्रीमती डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव ने मुझे बराबर प्रोत्साहन दिया। उनके स्नेह का सदा आकांक्षी हूँ।

—लेखक

विषय-सूची



प्रथम अध्याय

धर्म में काम की परम्परा

धर्म और काम-भावना का सम्बन्ध अत्यन्त निकट का है। विश्व के लगभग सभी धर्मों में काम का किसी न किसी रूप में प्रवेश है। इतना ही नहीं, ऐसे भी अनेक धर्म हैं जिनकी भित्ति ही काम पर आधारित है। भारतीय धर्मों में भक्ति-सम्प्रदायों के लिए तो यह और भी सत्य है। हिन्दी भक्ति-साहित्य में प्रवाहित होनेवाली काम की अत्यन्त वेगवाली धारा से कौन अपरिचित है! यथार्थ में यदि भक्ति-साहित्य से काम भावना निकाल दी जाए तो उसके बाद जो कुछ बच रहेगा वह अत्यन्त नीरस, अनाकर्षक और प्रायः महत्त्वहीन होगा। इस काम-भावना के निष्कासन से न जाने कितने भक्ति-सम्प्रदायों की नींव ही हिल जाएगी।

धर्म और काम के इस व्यापक साहचर्य के अनेक कारण हैं। यह न तो अनायास ही है और न ही इसे जान बूझकर मानव-काम-तुष्टि को ध्यान में रख कर धर्म का मूलाधार बनाया गया है। यह सम्बन्ध सहज और स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध के मूल कारणों को भारतीय धार्मिक साधना की पृष्ठभूमि में समझकर ही हम हिन्दी भक्तिकालीन शृंगार के स्वरूप को हृदयंगम कर सकते हैं। इसीका संक्षिप्त विवरण एवं विवेचन इस अध्याय में किया जा रहा है।

धर्म में काम के स्वरूप के अध्ययन में यथेष्ट सतर्कता की आवश्यकता है। काम मानव की मूल एवं अत्यन्त वेगवाली भावना है। धर्म से इसका सम्बन्ध धार्मिक इतिहास के अंग रूप में है। धर्म और काम यह साहचर्य इस प्रकार के अध्ययन को तीव्र मोहकता प्रदान करता है। फलस्वरूप अध्येता अक्सर अपना सन्तुलन खो बैठता है। वह दो में से किसी एक को महत्त्व देने लगता है और किसी एक को ही सर्वोपरि मान बैठता है। वह या तो धर्म को सम्पूर्ण रूप में कामात्मक मानने लगता है अथवा यदि वह दूसरे पक्ष का हुआ तो समस्त कामात्मकता को धार्मिकता प्रदान करने लगता है। दोनों ही दो सीमाओं पर हैं। अतएव विषय की रोचकता एवं उसकी मादकता से सतर्क रहते हुए सत्य की खोज के आदर्श को ग्रहण कर बिना किसी पूर्व निश्चित मान्यता की पुष्टि की हठधर्मी को लिये हमें धर्म में काम का अध्ययन करना चाहिए।

धर्म में काम के स्वरूप को समझने के लिए आदिम मानव के धर्म का अध्ययन एवं उससे विकसित हुए धार्मिक इतिहास का अवलोकन करना होगा। अतः सर्वप्रथम हम आदिम मानव के धर्म में काम का स्वरूप देखेंगे।

आदिम मानव के धर्म में काम-भावना

ऐसा अनुमान है कि आदिम मानव का जीवन अत्यन्त धार्मिक वातावरण में व्यतीत होता था। यथार्थ में वह सामान्य जगत में न रहकर अत्यधिक धार्मिक भावना से ओत-प्रोत एक असाधारण जगत में रहता था। इसका विशेष कारण था। उसकी शक्तियाँ अल्प तथा सीमित थीं। संसार के प्रत्येक कार्य में उसे रहस्यात्मकता दृष्टिगोचर होती थी। प्रकृति के रौद्र रूप को देखकर उसे भय और उसके सौम्य रूप को देखकर आनन्द होता होगा। उसने प्रत्येक वस्तु में विभिन्न शक्तियों का अनुमान किया होगा और सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में अपने ही अनुरूप किन्तु शक्ति में अपने से कहीं शक्तिमान ईश्वर की कल्पना की होगी। ईश्वर की मानव स्वरूप में कल्पना करने के कारण उसमें मानव-सुलभ गुणों का आरोप किया गया होगा। फिर मानव को सुखकर लगनेवाली वस्तुएँ ईश्वर को भी प्रिय एवं सुखकर हैं यह विचार स्वतः विकसित हुआ होगा। उसके कोप को शांत करने तथा अपने इष्ट-साधन के लिए उसे प्रसन्न करने लिए उसकी उपासना में उसकी प्रिय वस्तुओं का प्रयोग होने लगा होगा। आदिम कामोपासना का आरम्भ संभवतः इसी 'सुख' की भावना के आधार पर हुआ होगा। सुख की तीव्रतम अनुभूति संभोग में है और इष्टदेव के सम्बन्ध में भी यह बात लागू हो गई होगी। रत्योपानन्द प्रदान करनेवाली इन्द्रियाँ उस आदिम मानव के लिए (जैसा कि आज के सुसंस्कृत मानव के लिए भी है) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रही होंगी। किन्तु इस समय तक उसे सम्भवतः संभोग और संतानोत्पत्ति का सम्बन्ध ज्ञात न रहा होगा।

समय बीतने के साथ-साथ आदिम मानव को सम्भोग-क्रिया और सन्तानोत्पत्ति का सम्बन्ध ज्ञात हुआ होगा। आदिम मानव के जीवन में संतान का विशेष महत्त्व था। घरेलू काम-काज खेती-बाड़ी तथा कबीलों की शक्ति संतान पर ही आश्रित थी। विभिन्न जातियों के अवसर होनेवाले युद्धों में जन-हानि स्वाभाविक ही थी। इस कमी की पूर्ति सन्तान द्वारा होती थी। ऐसा अनुमान है कि जिस क्रिया द्वारा सन्तान उत्पन्न होती है उस क्रिया का महत्त्व अपने आप बढ़ता गया। इस प्रकार धर्म के अन्तर्गत काम की स्वीकृति हुई होगी और कामोपासना संतान प्राप्त करानेवाली तथा प्रजनन-वर्द्धक है इस विश्वास का विकास हुआ होगा। संभोग के दो पक्ष—आनन्द और संतान का संबंध होते ही सम्भोग क्रिया का प्रत्येक अवयव प्रजनन-वर्द्धक एवं धार्मिक मान लिया गया होगा।

जिस प्रकार आदिम मानव सिंह एवं अन्य जंगली जंतुओं से बचाव के लिए उनके नख, दाँत अथवा बाल आदि को अपने साथ रखता था अथवा जिस प्रकार अभिमंत्रित जल द्वारा पापों के प्रायश्चित का विश्वास था उसी प्रकार उसका यह भी विश्वास था कि वह अपनी फसल की वृद्धि भी ऐसी क्रिया द्वारा कर सकता है जिसका सम्बन्ध प्रजनन से है। अमरीका की 'मय' जाति में यह नियम है कि खेत बोने के पूर्व किसान अपनी स्त्रियों और रखैलों से कई दिनों तक अलग सोये जिससे कि खेत बोने के दिन वह अधिक प्रबल रूप से सम्भोग कर सके। ऐसी भी प्रथा है कि खेत में प्रथम बीजारोपण के अवसर पर अनेक नियुक्त स्त्री-पुरुष खेत में सम्भोग करें जिससे कृषि की वृद्धि हो सके।

आदिम वासियों के प्रजनन-नृत्य भी इसी श्रेणी में आते हैं। कृषि और मानव प्रजनन की समानता के आधार पर इन नृत्यों में स्त्री और पुरुष, दोनों ही भाग लेते हैं। ये नृत्य अंत में सम्भोग में पर्यवसित हुआ करते हैं। इसी प्रकार आखेट के लिए—पशुओं की वृद्धि के लिए स्त्री-पुरुष विभिन्न पशुओं का रूप धारण कर उनकी मैथुन क्रिया का नाट्य किया करते हैं।

इन क्रियाओं का मूल मनोविज्ञान यह है कि आदिम मानव के जीवन में धर्म पूर्णतः घुला-मिला था। आदिम मानव का तर्क था कि एक प्रकार की क्रिया से उसी प्रकार की सभी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। इसी कारण ऐसी क्रियाएँ विकसित हुईं या जीवन से सम्बद्ध धार्मिकता से ओतप्रोत और आदिम जीवन के लिए प्रभावशाली थीं।

यह संभव है कि लगभग सभी धर्मों में प्राप्य उत्पत्ति एवं सृष्टि पर विशेष बल का मूल कारण उत्पत्ति और वृद्धि-सम्बन्धित उपर्युक्त क्रियाएँ ही हों। एक बार उत्पत्ति और धर्म का सम्बन्ध निश्चित हो जाने के बाद यह स्वाभाविक ही है कि कामोपासना तथा काम प्रतीक स्वयमेव प्रचलित हो गए हों। इस संबंध में लेख द्वारा 'इमोशन्स आफ मैन' नामक पुस्तक में उद्धृत लेखक का निम्नलिखित विचार द्रष्टव्य है

"काम प्रतीक और कामात्मक विशेषताओं तथा संभोग-क्रिया का महत्त्व धर्म के सृष्टि उत्पत्ति और वृद्धि पर विशेष बल देने के कारण हुआ है। एक ऐसी शक्ति की कल्पना ही, जिस तक मानव पहुँचने का प्रयत्न कर सके अथवा जिसके द्वारा इस जीवन की कठिनाइयों से वह बच सके—उस शक्ति पर आधारित है जो कि सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति से संबंधित है।

संसार में उत्पन्न होनेवाली सभी वस्तुओं में मानव-शिशु का जन्म मानव के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतः यह कोई आश्चर्य नहीं कि प्रजनन एवं उससे

सम्बन्धित क्रियाएँ अत्यधिक धार्मिक महत्त्व प्राप्त कर लें। इसके अतिरिक्त आदिम मानव में था कि आज के सुसभ्य मानव से कहीं अधिक पवित्र और स्पष्टवक्ता था इन बातों को इतनी स्पष्टता से व्यक्त किया होगा कि हमारे आज के विचारों को धक्का लगता है और हम उसे गलत समझ बैठते हैं। (पृ० १९८—१९९)

आदिम जातियों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रकृति की दो शक्तियाँ —स्त्री और पुरुष—आदिम जातियों के धर्म में स्वीकृत हो गई थीं। यह स्वीकृति विश्व-व्यापिनी है और विभिन्न स्थानों पर इसका स्वतंत्र रूप में विकास हुआ है। इस विकास का कारण मानव-मात्र की भावनाओं की मूल एकता है। इस स्वीकृति ने कालान्तर में उपासना का रूप धारण कर लिया होगा और इसी कारण स्त्री पुरुष जननेन्द्रियाँ प्रकृति की सृष्टि एवं वर्द्धन शक्ति की तथा इनसे सम्बन्धित देवताओं की प्रतीक बन गई होंगी। इन दोनों अंगों का संयोग प्रकृति की प्रजनन-क्रिया एवं उसके जीवन का प्रतीक बन गया क्योंकि आदिम मानव में प्रकृति एवं उसकी क्रियाओं के प्रति श्रद्धा की मात्रा अत्यधिक थी।

भारतीय आदिम जातियों के धर्म में काम-तत्त्व

भारतीय आदिम जातियों का अभी तक विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ है। जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उसके अनुसार उनके धर्मों में काम की यथेष्ट महत्ता है।

मध्य भारत के गोंड लोगों में माता की वार्षिक पूजा होती है। पूजा के उपरान्त भोज होता है। इस उपासना के संबंध में विशेष ज्ञात नहीं है क्योंकि यह एकान्त में होती है। जहाँ तक ज्ञात है यह शृंगारिक होती है तथा इसमें संभोग की पूर्ण छूट रहती है। उड़ीसा के कोंडों में सूर्य देव की उपासना में 'छक्को-मक्को' भाव होता है। इसमें स्थानीय मदिरा का प्रचुर व्यवहार होता है। यह भोज फसल के समय में होता है और इसमें सब प्रकार की काम-क्रियाओं की छूट रहती है। इसी प्रकार पश्चिमी बंगाल के संथालों का बंदन उत्सव भी प्रसिद्ध होता है। इसमें कामभावी नाच गान के समान क्रियाएँ होती हैं और विवाह के रूप में इसका अंत होता है। समस्त अविवाहित युवक-युवतियाँ इसमें एक-दूसरे से सम्भोग करते हैं और अन्त में प्रत्येक पुरुष अपनी पसंद की स्त्री को विवाह के लिए चुन लेता है।

वैदिक धर्म में काम-तत्त्व

भारत के प्राचीनतम ज्ञान-स्रोत वेद हैं। सभी हिन्दू सम्प्रदाय अपना मूल वेदों में खोजते हैं। इसका यह आशय नहीं है कि वे परिवर्तित विशेषताएँ वेदों में उसी रूप में प्राप्त हैं जिस रूप में वे बाद में प्रचलित हुईं। यहाँ तक काम-तत्त्व का

सम्मान है, इसका अर्थ केवल इतना ही है कि तत्कालीन धर्म-व्यवस्था में यह स्वीकृत था और उसका उस समय प्रचार था।

संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में काम-तत्त्व

ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति स्वधा (प्रकृति) एवं शक्ति (आत्मा) के संयोग से हुई है। (१०-१२९-५)। इसमें पिता की पुत्री से संभोग-कामना एवं संयोग का भी उल्लेख है। (१०-६१-५७)। इसकी व्याख्या करते हुए सायण कहते हैं कि प्रजापति ही पिता हैं तथा पुत्री उषा है। इस प्रकार का उल्लेख शत पथ (१-६ २-१) ऐतरेय (३-३३) तथा ताण्ड्य महाब्राह्मण (८-२-१०) में भी है। ऋग्वेद में यम से यमी के सम्भोग प्रस्ताव का भी वर्णन है। यम भाई और यमी बहन है। यमी कहती है "भला वह युवक (भाई) ही क्या हुआ जिसके होते हुए मैं अनाथिनी की भाँति भटक रही हूँ। मैं कैसी बहन हूँ जो भाई के होते हुए भी संताप भोग रही हूँ। आओ रथ के दो पहियों की भाँति हम एक-दूसरे से मिल जाएँ। जिस प्रकार लता वृक्ष के चारों ओर लिपट जाती है उसी प्रकार मैं भी तुम से मिलूँ। आदि। (१०-१०-१-१४) स्वामी दयानन्द ने यम-यमी को पति पत्नी माना है जो कि विशेष संगत नहीं प्रतीत होता है यद्यपि इससे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। सम्भोग प्रस्ताव की स्थिति तो अक्षुण्ण है ही। पुरूरवा और उर्वशी के अस्थिर दाम्पत्य प्रेम का वर्णन भी ऋग्वेद में प्राप्त है। लोपामुद्रा ने भी ऋग्वेद में पति पत्नियों में समागम के लिए कहा है तथा काम को धर्म के अंतर्गत स्थान दिया है। (१-१७९-२)

ऋग्वेद में शिश्न तथा शिश्न-देवों—शिश्न-पूजकों का उल्लेख भी मिलता है। ये इन्द्रोपासना के विरोधी थे। इन्हें इन्द्र ने पराजित किया था। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के समय में शिश्नोपासक संप्रदाय थे। आर्य इनसे घृणा करते थे तथा उन्होंने इनका विरोध भी किया था।

अथर्ववेद में भी अनेक शृङ्गारिक उल्लेख मिलते हैं यथा—

"हे पुरुष तू पत्नी के शिलस्पर्श पर आ जा। हाथ का सहारा दे। प्रसन्न चित्त होकर पत्नी को चिपका ले और हर्ष मनाते हुए तुम दोनों सन्तान उत्पन्न करो जिससे सविता देव भी तुम दोनों की आयु बढ़ावें।" (१४-२-३९) तथा—

'हे स्त्री! विद्वान लोग सदा से ही अपनी पत्नियों को प्राप्त कर लेने के अनन्तर उनके शरीर में अपने शरीर को पूरी तरह से मिलाते आए हैं। अतः हे ऐश्वर्यशालिनी! हे संतान चाहनेवाली! तू भी अपने पति से मिल। हे परमेश्वर! आज मुझे अपनी पत्नी में बीज-वपन करना है।' संभोग में इस प्रकार से कामोत्तेजना की प्रार्थना की गई है।

अथर्ववेद में परकीया सम्बन्ध से मिलते जुलते सम्बन्ध का भी स्पष्ट उल्लेख
है। इसके अनुसार अपने पति के अतिरिक्त उपपति रखनेवाली स्त्री अज-पंच
दोष' क्रिया द्वारा वियोग से बच सकती है और यदि उसका उपपति भी इस क्रिया
को करता है तो मृत्यु के बाद दोनों को एक ही लोक प्राप्त होता है। (९-५-२७
२८)। इतना ही नहीं स्वर्ग प्राप्ति के लिए किए जानेवाले कुछ ऐसे साधनों का
भी उल्लेख है जिन्हें विवाहिता स्त्री केवल अपने उपपति के साथ ही कर सकती है।

वैदिक यज्ञों में गाए जानेवाले स्तोत्रों और सामगानों में अथवा कपाल, गृह
या बलि के सम्बन्ध में चाहे कितना पारम्परिक मतभेद क्यों न हो किन्तु कुछ ऐसे
भी सिद्धान्त हैं जो कि सभी में समान रूप से परिव्याप्त हैं। समस्त यज्ञ इस
सिद्धान्त पर आधारित है कि मैथुनीकरण आध्यात्मिक एवं आनन्दोत्पादक है।
समाज में संभोग स्वयं अभिहन्य है। यह धार्मिक कृत्य है। वे 'सद' को बंद कर
गोपनीय रखते थे क्योंकि वह करना मैथुनीकरण है और इसलिए इसे छिपा कर
करना चाहिए। शिश्न-ज्योतिष का निर्माण प्रजनन के सहायक होने के कारण
किया जाता था। सद को छिपाते समय देखना अनुचित समझा जाता था। जिस
प्रकार पति-पत्नी यदि संभोग करते हुए देख लिए जाते हैं तो वे भाग जाते हैं
क्योंकि यह कार्य लज्जाजनक है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति द्वार के अतिरिक्त
किसी अन्य स्थान से सद को देखता है तो उससे कहना चाहिए कि ऐसा न करे,
क्योंकि यह संभोग देखने के समान है। हाँ! वह उसे द्वार से देख सकता है क्योंकि
द्वार देवताओं से निर्मित है। इसी प्रकार हविर्धान को भी चारों ओर से बंद करते
सोचते हैं कि उसमें से प्रजनन होना रोगा क्योंकि दूसरों द्वारा देखी गई प्रजनन
क्रिया अनुचित है। अतः हविर्धान देखने वाले को भी मना कर देना चाहिए, क्योंकि
वह संभोग देखना है। (शतपथ २-१ १-२ ४-१ ७ ९ १० ११-६ आदि)

ऐतरेय ब्राह्मण में आज्य-शास्त्र के शंसन पाठ के प्रथम पद का पाठ मैथुन
को व्यक्त करता है —

जब होतृ अनुष्टुप छंद के प्रथम पद— प्रवो देवाय अग्नये का उच्चा
रण करता है तो उसे दूसरे पद से विलग कर उच्चारित करता है क्योंकि संभोग
के समय स्त्री अपनी जंघाओं का विस्फारित करती है। होतृ उपयु क्त मंत्र के अंतिम
दोनों पदों को जोड़कर पढ़ता है क्योंकि संभोग के समय पुरुष अपनी जंघाओं को
सटाकर रखता है। यह संभोग का प्रतीक है। इस प्रकार होतृ पाठ के प्रारम्भ में
ही मैथुन-क्रिया का संपादन करता है जिससे कि प्रजनन अधिक हो। इस क्रिया से
यजमान संतति सन्तति और पशुधन प्राप्त करता है। (२-५-३)

वैदिक आर्य कभी देवी की उपासना कभी नहीं करता था। देवी को

आहुति देने के पूर्व सूर्य को भी अर्पित करने का विधान है, क्योंकि इस प्रकार देवियों का सूर्य से संयोग हो जाता है।

इस सम्बन्ध में यह विधान है कि सूर्य के लिए भी अर्पित करते समय बार बार इन्हीं मन्त्रों का उच्चारण अनावश्यक है। एक बार का उच्चारण ही यथेष्ट है क्योंकि एक पति से ही अनेक पत्नियाँ सम्भोग कर लेती हैं। अतः होता जब देवियों को आहुति देने के पूर्व सूर्य मंत्र का पाठ करता है तो वह सूर्य का सभी देवियों से मैथुन करा देता है। (ऐतरेय १–४–४)

पशुपत-वर्धन के लिए छन्दोमास यज्ञ में त्रिष्टुभ और जगती छंदों को पुरुष और स्त्री में मान करके सह-उच्चारण करते हैं। दोनों का यह सह-उच्चारण संयोग का द्योतक माना जाता है। (वही ५–३–१)

पीछे कहा जा चुका है कि वैदिक युग में केवल पुरुष या केवल स्त्री द्वारा उपासना नहीं की जाती थी। अतः यदि किसी व्यक्ति के पत्नी नहीं है तो वह कैसे उपासना करे? इसके सम्बन्ध में कहते हैं कि श्रद्धा ही उसकी पत्नी है और सत्य का सम्बन्ध सर्वोत्तम है तथा श्रद्धा और सत्य मिलकर स्वर्ग को भी विजय कर लेते हैं। (वही ७–२–९)

शतपथ में इडा कहती है कि यदि तुम यज्ञ के अवसर पर मेरा उपभोग करोगे तो तुम्हारी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण होंगी। (१–८–१ आदि)

उपनिषद्-ग्रंथों में काम-तत्त्व

उपनिषदों में भी काम की महत्ता तथा स्वीकृति के संकेत प्राप्त हैं।

छान्दोग्य में आत्म यज्ञ के अंग प्रकरण में लौकिक क्रियाओं को धार्मिक रूप दिया गया है। उसके अनुसार—

'वह (पुरुष) जो भोजन करने की इच्छा करता है जो पीने की इच्छा करता है और जो रममाण (प्रसन्न) नहीं होता—वही इसकी दीक्षा है। फिर वह जो खाता है जो पीता है और जो रति का अनुभव करता है—वह उपसदों की सादृश्यता को प्राप्त होता है। तथा वह जो हँसता है जो भक्षण करता है और जो मैथुन करता है—वे सब स्तुत शास्त्र की ही समानता को प्राप्त होते हैं तथा जो तप दान आर्जव (सरलता) अहिंसा और सत्य वचन हैं वे ही इसकी दक्षिणा हैं। इसीसे कहते हैं कि 'प्रसूता होगी' अथवा 'प्रसूता हुई' यह इसका पुनर्जन्म ही है तथा मरण ही अवभृथस्नान है। (कल्याण उपनिषदांक पृ० ४२१)

आगे चलकर 'पुरुष की अग्नि के रूप में उपासना' प्रकरण में कहा गया है —

'गौतम ! पुरुष ही अग्नि है। उसका वाक् ही समिध् है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अंगारे हैं और श्रोत्र विस्फुलिंग हैं। इस अग्नि में देवगण अन्न का होम करते हैं, उस आहुति से वीर्य उत्पन्न होता है।' (वही पृ० ४१५)

इसी प्रकार 'स्त्री की अग्नि-रूप से उपासना' प्रकरण में कहते हैं —

'गौतम ! स्त्री ही अग्नि है। उसका उपस्थ ही समिध् है, पुरुष जो उपमंत्रण करता है वह धूम है, योनि ज्वाला है तथा जो भीतर की ओर करता है वह अंगारे हैं और उससे जो सुख होता है वह विस्फुलिंग है। इस अग्नि में देवगण वीर्य का हवन करते हैं, उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है।' (वही पृ० ४१६, देखें पृ० २०४ भी)

इसीमें 'ओंकार की व्याख्या' नामक प्रारम्भिक प्रकरण में कहते हैं —

'वाणी ही ऋचा है, प्राण साम है, 'ॐ' यह अक्षर ही उद्गीथ है। जो वाणी और प्राण तथा ऋचा और साम हैं यह एक ही जोड़ा है, दो नहीं। अर्थात् वाणी अथवा ऋचा तथा प्राण अथवा साम एक दूसरे के पूरक हैं। वाणी और प्राण का अथवा ऋचा और साम का यह जोड़ा 'ॐ' रूप इस अक्षर में भली-भाँति संयुक्त किया जाता है। जिस समय स्त्री और पुरुष आपस में प्रेमपूर्वक मिलते हैं उस समय वे अवश्य ही एक-दूसरे की कामना पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार यह वाणी और प्राण का जोड़ा जब ओंकार में समाया जाता है तब वह सदा के लिए पूर्णकाम कृत-कृत्य हो जाता है। इस रहस्य को जाननेवाला जो कोई उपासक इस उद्गीथ स्वरूप अविनाशी परमेश्वर की उपासना करता है वह निश्चय ही सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति में समर्थ होता है।' (वही पृ० ४०६)

आगे चलकर 'वाम देव्य सामोपासना' में मिथुन कल्पना की गई है —

'स्त्री-पुरुष का संकेत हिंकार है, पारस्परिक सन्ताप-प्रस्ताव है, सह शयन उद्गीथ, अभिमुख-शयन प्रतिहार है, समाप्ति निधन है। वह जो पुरुष इस मिथुन में वामदेव्य-साम को स्थित जानता है सदा जोड़े से रहता है, उसका कभी वियोग नहीं होता। मिथुनी भाव से उसके सन्तान उत्पन्न होती है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है। उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओं के कारण महान् होता है तथा कीर्ति के कारण महान होता है।" (वही पृ० ४१७)

शंकर ने इसीके 'न काञ्चन परिहरेत्' के भाष्य में लिखा है कि वाम देव्य-साम जाननेवाले व्यक्ति के लिए कोई भी स्त्री त्याज्य नहीं है। वह सबसे सहवास कर सकता है।

मुण्डकोपनिषद् में सृष्टि उत्पत्ति की चर्चा करते हुए बतलाते हैं — 'परब्रह्म पुरुषोत्तम से सर्वप्रथम तो उनकी अचिन्त्य शक्ति का एक अंश अद्भुत अग्नि-तत्त्व

उत्पन्न हुआ जिसकी समिधा सूर्य है अर्थात् जो सूर्य बिम्ब के रूप में प्रज्वलित रहता है। अग्नि से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, चन्द्रमा से मेघ उत्पन्न हुए। मेघों से वर्षा द्वारा पृथ्वी में नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न हुईं। उन औषधियों के भक्षण से उत्पन्न हुए वीर्य को जब पुरुष अपनी जाति की स्त्री में सिंचन करता है तब उससे संतान उत्पन्न होती है। इस प्रकार परम पुरुष परमेश्वर से ये नाना प्रकार के चराचर जीव उत्पन्न हुए हैं। (उपनिषदांक पृ० २७१)

श्वेताश्वतरोपनिषद् का मंत्र तथा सांख्य-शास्त्र के बीज मंत्र का श्लेष द्वारा उक्त मतावलंबी अर्थ करते हैं कि प्रकृति एक तिरंगी बकरी है जो अज जीव रूप बकरे के संयोग से अपनी ही जैसी तिरंगी त्रिगुणमयी संतान उत्पन्न करती है। (वही पृ० १८४—८२)

बृहदारण्यक तो अपनी प्रतीकात्मक शैली के लिए प्रसिद्ध ही है। मानव की पूर्णता तथा उसकी इच्छाओं का वर्णन करते हुए इसमें कहा गया है— पहले एक यह आत्मा ही था। उसने कामना की कि मेरे स्त्री हो फिर मैं संतान रूप से उत्पन्न होऊँ तथा मेरे धन हो, फिर मैं कर्म करूँ। बस इतनी ही कामना है। इच्छा करने पर इससे अधिक कोई नहीं पाता। इसीसे अब भी एकाकी पुरुष यह कामना करता है कि मेरे स्त्री हो फिर मैं संतान रूप से उत्पन्न होऊँ तथा मेरे धन हो तो फिर मैं कर्म करूँ। वह जब तक इनमें से एक को भी प्राप्त नहीं करता तब तक वह अपने को अपूर्ण ही मानता है। उसकी पूर्णता इस प्रकार होती है—'मन ही इसका आत्मा है वाणी स्त्री है प्राण संतान है और नेत्र मानुष वित्त है क्योंकि वह नेत्र से ही गौ आदि मानुष-वित्त को जानता है। श्रोत्र दैव-वित्त है क्योंकि श्रोत्र से ही वह सुनता है। आत्मा (शरीर) ही इसका कर्म है क्योंकि आत्मा से ही यह कर्म करता है।" (वही पृ० ४१५)

बृहदारण्यक में चारों वर्णों की सृष्टि का उपाख्यान भी प्राप्त है। इसके अनुसार "वह (प्रथम पुरुषाकार आत्मा) भयभीत हो गया। इसीसे अकेला पुरुष भय खाता है। उसने यह विचार किया 'यदि मेरे सिवाय कोई दूसरा नहीं है तो मैं किससे डरता हूँ?' तभी इसका भय निवृत्त हो गया। किन्तु भय क्यों हुआ? क्योंकि भय तो दूसरे से ही होता है। वह रमण नहीं करता था। इसी कारण अब भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरे की इच्छा की। जिस प्रकार परस्पर आलिंगित स्त्री और पुरुष होते हैं वैसा ही उसका परिमाण हो गया। उसने इस अपनी देह को ही दो भागों में विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए। इसलिए यह शरीर अर्द्ध बृगल (द्विदल अन्न में दल) के समान है। इसलिए यह (पुरुषार्द्ध) आकाश स्त्री से पूर्ण होता। वह उस

उत्पन्न हुआ, जिसकी समिधा सूर्य है, अर्थात् जो सूर्य बिम्ब के रूप में प्रज्वलित रहता है अग्नि से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ चन्द्रमा से मेघ उत्पन्न हुए। मेघों से वर्षा द्वारा पृथ्वी में नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न हुईं। उन औषधियों के भक्षण से उत्पन्न हुए वीर्य को जब पुरुष अपनी जाति की स्त्री में सिंचन करता है तब उससे संतान उत्पन्न होती है। इस प्रकार परम पुरुष परमेश्वर से ये नाना प्रकार के चराचर जीव उत्पन्न हुए हैं। (उपनिषदांक पृ० २७१)

श्वेताश्वतरोपनिषद् का मंत्र तथा सांख्य शास्त्र के बीज मंत्र का श्लेष द्वारा उक्त मतावलंबी अर्थ करते हैं कि प्रकृति एक तिरंगी बकरी है जो अज जीव रूप बकरे के संगम से अपनी ही जैसी तिरंगी त्रिगुणमयी संतान उत्पन्न करती है। (वही पृ० १८४—८५)

बृहदारण्यक तो अपनी प्रतीकात्मक शैली के लिए प्रसिद्ध ही है। मानव की पूर्णता तथा उसकी इच्छाओं का वर्णन करते हुए इसमें कहा गया है— 'पहले एक यह आत्मा ही था। उसने कामना की कि मेरे स्त्री हो फिर मैं संतान रूप से उत्पन्न होऊँ तथा मेरे धन हो फिर मैं कर्म करूँ। बस इतनी ही कामना है। इच्छा करने पर इससे अधिक कोई नहीं पाता। इसीसे अब भी एकाकी पुरुष यह कामना करता है कि मेरे स्त्री हो फिर मैं संतान रूप से उत्पन्न होऊँ तथा मेरे धन हो तो फिर मैं कर्म करूँ। यह जब तक इनमें से एक को भी प्राप्त नहीं करता तब तक वह अपने को अपूर्ण ही मानता है। उसकी पूर्णता इस प्रकार होती है— 'मन ही इसका आत्मा है वाणी स्त्री है प्राण संतान है और नेत्र मानुष वित्त है क्योंकि वह नेत्र से ही गौ आदि मानुष-वित्त को जानता है। श्रोत्र दैव-वित्त है क्योंकि श्रोत्र से ही वह सुनता है। आत्मा (शरीर) ही इसका कर्म है क्योंकि आत्मा से ही वह कर्म करता है।" (वही पृ० ४६५)

बृहदारण्यक में चारों वर्णों की सृष्टि का उपाख्यान भी प्राप्त है। इसके अनुसार "वह (प्रथम पुरुषाकार आत्मा) भयभीत हो गया। इसीसे अकेला पुरुष भय खाता है। उसने यह विचार किया, "यदि मेरे सिवाय कोई दूसरा नहीं है तो मैं किससे डरता हूँ?" तभी इसका भय निवृत्त हो गया। किन्तु भय क्यों हुआ? क्योंकि भय तो दूसरे से ही होता है। वह रमण नहीं करता था। इसी कारण अब भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरे की इच्छा की। जिस प्रकार परस्पर आलिंगित स्त्री और पुरुष होते हैं वैसा ही उसका परिमाण हो गया। उसने इस अपनी देह को ही दो भागों में विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए। इसलिए यह शरीर अर्ध बृगल (द्विदल अन्न के दल) के समान है। इसलिए यह (पुरुषार्ध) आकाश स्त्री से पूर्ण होता। वह उस

(स्त्री) से संयुक्त हुआ उसीसे मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। उस (शतरूपा) ने यह विचार किया कि 'अपने से ही उत्पन्न करके यह मुझसे समागम क्यों करता है? अच्छा मैं छिप जाऊँ। अतः वह गौ हो गई तब दूसरा यानी मनु वृषभ होकर उससे संभोग करने लगा इससे गाय-बैल उत्पन्न हुए। तब वह घोड़ी हो गई और मनु अश्व श्रेष्ठ हो गया। फिर वह गर्दभी हो गई और मनु गर्दभ हो गया और उससे समागम करने लगा। इससे खुरवाले पशु उत्पन्न हुए। तदनन्तर शतरूपा बकरी हो गई और मनु बकरा हो गया और उससे समागम करने लगा। इससे बकरी और भेड़ों की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार चींटी से लेकर ये जितने मिथुन हैं उन सभी की उन्होंने रचना कर डाली। (उपनिषदांक पृ० ४)

इसीमें आगे चलकर पुरुष और प्रज्ञात्मा के संबंध का वर्णन स्त्री-पुरुष के मिथुन से किया गया है। 'व्यवहार में जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या का आलिंगन करनेवाला पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का उसी प्रकार यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिंगित होने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का। (वही पृ ४१०)।

धार्मिक ग्रन्थों ही को केवल मैथुन का स्वरूप नहीं दिया गया है। इसके विपरीत मैथुन-क्रिया को भी धार्मिक संस्कार रूप में मान्यता दी गई है। (शतपथ शाट्यायन श्रौत सूत्र कात्यायन श्रौत सूत्र तैत्तरीय आरण्यक ऐतरेय आरण्यक तथा गृह्य-सूत्र आदि)। छान्दोग्य उपनिषद् के वामदेव्य-सामोपासना की चर्चा हम कर चुके हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में संहिता के रूप में प्रजा का वर्णन करके संतान-प्राप्ति का रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि इस प्रजा-विषयक संहिता में माता तो मानो पूर्ववर्ण है और पिता परवर्ण है। जिस प्रकार दोनों वर्णों की संधि से एक नया वर्ण बन जाता है उसी प्रकार माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होनेवाली संतान ही इस संहिता में वर्णों की संधि (संयुक्त-स्वरूप) है तथा माता और पिता का जो ऋतुकाल में शास्त्र-विधि के अनुसार यथोचित नियमपूर्वक सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से सहवास करना है वही संधान है। जो मनुष्य इस रहस्य को समझकर सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से ऋतुकाल में धर्मयुक्त स्त्री-सहवास करता है वह अवश्य अपनी इच्छा के अनुसार श्रेष्ठ संतान प्राप्त कर लेता है। (उपनिषदांक पृ ३११)। आगे चलकर पुनः कहा गया है—'सबके साथ सुन्दर मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करना शास्त्र विधि के अनुसार गर्भाधान करना और ऋतुकाल में नियमित रूप से स्त्री-सहवास करना तथा कुटुम्ब को बढ़ाने का उपाय करना—इस प्रकार हमें सभी श्रेष्ठ कार्यों का अनुष्ठान करते रहना चाहिए। (वही पृ० ३२८)। बृहदारण्यक में तो सन्तानोत्पत्ति विज्ञान का एक सम्पूर्ण प्रकरण ही है। (वही पृ ५०४-५ ६)। स्त्री

की मल-कुंड तथा संभोग-व्यापार की सफलता का भी स्पष्ट उल्लेख है। इस क्रिया के समय मंत्रोच्चारण आवश्यक है। इसके इस स्वरूप को जाननेवाला ब्रह्मलोक प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त वैदिकाचार के वामदेव व्रत और महाव्रत में तथा अथर्ववेद के तथाकथित सौभाग्य खंड में के कामिकोपनिषद् एवं अन्य तांत्रिक उपनिषदों में भी मैथुन एक धार्मिक कृत्य के रूप में स्वीकृत है।

उपर्युक्त विस्तृत उल्लेख से यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में वैदिक धर्म में धार्मिक क्रियाओं की न केवल संभोग क्रिया से तुलना ही की जाती थी बल्कि संभोग-क्रिया को एक धार्मिक कृत्य के रूप में स्वीकार भी किया जाता था। इस प्रकार वैदिक काल और धर्म में काम की यथेष्ट प्रतिष्ठा थी।

रामायण और महाभारत में काम-तत्त्व

रामायण और महाभारत में अनेकानेक स्थलों पर नारियों के रूप का हृदयग्राही वर्णन है, तथा अनेक शृंगारी कथाओं का संकेत है जैसे अप्सराओं का शृंगी ऋषि का कामोद्दीपन करना इन्द्र का अहिल्या के साथ व्यभिचार वायु का कुशनाभ की कन्याओं से बलात्कार तथा कच-देवयानी तप्ती-संवरण और नल-दमयन्ती के उपाख्यान आदि। इन सभी में काम की अत्यन्त जीवंत परम्परा प्रवाहित होती है।

बौद्ध धर्म में काम-तत्त्व

ईसा-पूर्व लिखित बौद्ध पुस्तक 'कथा-वत्थु' में 'एकाधिप्पायों' नामक रीति के प्रचलन का उल्लेख है। यह रीति आंध्र वेतुल्यक तथा उत्तरापथ के निवासियों में प्रचलित थी। इस रीति के अनुसार परस्पर यौनात्मक संबंध किया जा सकता है। एक ही विहार के रहनेवाले, एक प्रकार की उपासना करनेवाले तथा एक ही विचार-धारा और भाववाले स्त्री-पुरुष परस्पर संभोग कर सकते हैं। (एकाधिप्पायेन मिथुनो धम्मो सेवितब्बो)।

उपर्युक्त ग्रन्थ में ही एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि यथागुप्त अर्हत के वेश में धर्म के लिए मैथुन करते हैं (अर्हतानम वण्णेना अमानुस्सा मिथुनम् धम्मम् पति सेवंती)। इस पर बुद्धघोष की व्याख्या से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि उस समय उत्तरापथ में ऐसे सम्प्रदाय प्रचलित थे जिनमें भिक्षु और भिक्षुणियों को काम-संबंध स्थापित करने की आज्ञा थी। यह संबंध धार्मिक साधन के लिए किया जाता था।

मज्झिम निकाय (भाग १ पृ० १०१) में बुद्ध ने ऐसे ब्राह्मण और श्रमणों का उल्लेख किया है जो कि भिक्षुणियों से काम-संबंध स्थापित करने में किसी प्रकार की हानि नहीं समझते थे।

प्राप्ति के लिए स्त्री नितांत आवश्यक है। डा० शास्त्री द्वारा नैपाल से लाई गई चंड रोषण महातन्त्र' में स्त्री के साथ साधना करने की विधि का विस्तृत वर्णन है।

कन्हपा आदि सिद्धों ने अन्य पच वर्णों की स्त्री के सेवन करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए अपनी स्त्री के भोग की आवश्यकता बतलाई है और महासुख का प्रतीक आलिंगन-बद्ध जोड़ा माना है। अन्त्यज स्त्रियाँ विशेषतः डोमिनी रजकी आदि का अबाध सेवन इस साधना का आवश्यक अंग है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कन्हपा के डोमिनी गीतों का उद्धरण अपने इतिहास में दिया है।

नाथ सम्प्रदाय ने यद्यपि शृंगार के आधिक्य से अपने को मुक्त रखने का प्रयत्न किया है किन्तु फिर भी शिव-शक्ति की भावना के कारण कुछ शृंगारमयी वाणी नाथ पंथ के किसी किसी ग्रन्थ (जैसे शक्ति-संगम-तंत्र) में मिल जाती है।

वैष्णव धर्म में काम-तत्व

वैष्णव धर्म की ओर यदि हम अपनी दृष्टि फेरें तो आलवार भक्त विष्णु, हरिवंश भागवत ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों तथा नारद पाँचरात्र में प्रेम-भक्ति का विकास और काम-संबंध का स्पष्ट उल्लेख है। भक्ति-साहित्य की पीठिका रूप में पुराणों में प्राप्त शृंगार का हम विस्तृत उल्लेख करेंगे। इन समस्त ग्रन्थों तथा पूर्व उल्लिखित विवरणों में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अन्तर है जिसे भूलना नहीं चाहिए। वैष्णव धर्म में काम की स्वीकृति उस साधना-रूप म नहीं है जैसी कि वैदिक आदि धर्मों में है। इनमें देवी-देवताओं की काम क्रीड़ा का ही विषद वर्णन है। ये सब वैष्णव धर्म में भी काम की स्वीकृति का संकेत करते हैं।

विदेशी धर्मों में काम-तत्व

भारतीय धर्म ही नहीं विदेशी धर्मों में भी काम की प्रचुर मात्रा मिलती है। ईसाई धर्म-ग्रन्थ म सांग आफ सालोमन' अपनी शृंगारिकता के लिए प्रसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त भी उसमें अनेक शृंगारिक अंश तथा कथाएँ प्राप्त हैं। यहाँ तक कि इस शृंगारिकता स भयभीत होकर अनुवादों में मूल बाइबिल का स्वरूप बहुत कुछ बदल दिया गया है।

मुसलमानों क सूफी-साहित्य और धर्म में भी काम-तत्व प्रचुरता से है। इन सबको बतलाना हमारा उद्देश्य नहीं है अतएव इसका संकेत-मात्र कर दिया गया है।

धर्म के अन्य क्षेत्रों में प्राप्त काम का स्वरूप

धर्म क मूल अंश के अतिरिक्त उससे सम्बन्धित अन्य क्षेत्रों में भी यथेष्ट शृंगार प्राप्त है। उनकी संक्षिप्त चर्चा आगे की जा रही है।

शिल्प में शृंगार

धर्म का शिल्प से निकट सम्बन्ध है। देवालय मस्जिद और गिरजे के रूप में धर्म का अंग बनकर शिल्प भी विश्व-व्यापक हुआ। यथार्थ में प्राचीन शिल्प धर्म के पीठों में ही अपने पूर्ण वैभव को प्राप्त हुआ है। भारत इसका अपवाद नहीं है। जिस प्रकार धर्म के एक पक्ष में काम की प्रचुरता दिखलाई जा चुकी है उसी प्रकार शिल्प में भी काम की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

मंदिर

हिन्दू मंदिर सामूहिक रूप से एकत्र होकर पूजा करने का स्थान नहीं है। यह इष्टदेव के ऐश्वर्य प्रदर्शन हेतु निर्मित प्रासाद है जिसमें इष्टदेव की उपासना निश्चित पुजारियों द्वारा निश्चित एवं विस्तृत नियमों के अनुसार होती है। मुसलमानों की मस्जिद और ईसाइयों के गिरजे से यह इसी रूप में भिन्न है।

मन्दिर केवल इष्ट के रहने का एक साधारण प्रासाद मात्र ही नहीं है बल्कि यह ब्रह्माण्ड का रूप भी है जिसमें प्रतीकों द्वारा सृष्टि की नियामक शक्तियों का चित्रण रहता है। इसका निर्माण आगमों में स्वीकृत विधानों के अनुसार ही किया जाता है और प्रत्येक देवता के लोक के ही अनुरूप उसके मंदिर का निर्माण होता है। विभिन्न प्रकार के देवताओं तथा आगमों के अनुसार मन्दिर भी विभिन्न प्रकार के होते हैं।

वलियर के मतानुसार मन्दिर का निर्माण तीन भागों में होता है। इसका मुख्य भाग बीच में होता है जिसे गर्भगृह कहते हैं। इस गर्भगृह के ऊपर सात खंडों का शिखर होता है जोकि सप्त-लोक या सप्त-भूमि का प्रतीक है। इसी गर्भगृह में इष्टदेव की मूर्ति की स्थापना होती है।

गर्भगृह के आगे दो मण्डप होते हैं। ये स्तम्भों पर आधारित होते हैं और इनमें झरोखों द्वारा प्रकाश आने की व्यवस्था रहती है। मुख्य मण्डपों के अतिरिक्त अनेक छोटे मंडप भी हो सकते हैं। सम्पूर्ण मंदिर ऊँची कुर्सी पर निर्मित होता है जिस तक जाने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं।

मंदिर में बाह्य और आभ्यंतर भागों में शिल्पकारी और अलंकार रहता है। यहाँ पर की मूर्तियों का स्थान निश्चित होता है। मंदिर का प्रत्येक स्थान महत्वपूर्ण होने के कारण उसका कोई भी स्थान रिक्त नहीं रखा जा सकता है। हिन्दू मंदिर अपने अलंकरण की विशेषताओं के द्वारा ही पहचाना जाता है और यही इसकी अन्य मंदिरों से भिन्नता है।

आजकल प्राप्त अधिकतर प्राचीन मूर्तियाँ (मथुरा से प्राप्त) सामान्यतः प्रथम शताब्दी ई० के पचास वर्ष पूर्व से लेकर द्वितीय शताब्दी ई० के पचास वर्ष

वाम भुजा उमा के स्कन्ध प्रदेश से होती हुई उन्हें आलिंगित करती हो। उमा देवी सुन्दर स्तन तथा पीन नितम्बोंवाली होनी चाहिए। उनकी दक्षिण भुजा शिव के दक्षिण स्कन्ध से होती हुई उनका आलिंगन करती हो। उनकी वाम भुजा में दर्पण होना चाहिए। उमा-महेश्वर की मूर्ति अत्यन्त सुन्दर होनी चाहिए।

'रूप-मंडन' के अनुसार 'शिव की चार भुजाएँ होनी चाहिए और उनके दक्षिण की एक भुजा में त्रिशूल और दूसरे में मातुलुंग-फल होना चाहिए। उनकी एक वाम भुजा उमा के स्कंध पर से होती हुई उनका आलिंगन करे तथा दूसरी भुजा में सर्प होना चाहिए। महेश्वर का वर्ण प्रवाल होना चाहिये। उमा का स्वरूप 'विष्णुधर्मोत्तर' में वर्णित रूप का होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वृषभ (नंदी) गणेश कार्तिकेय और नृत्य करते हुए भृंगी ऋषि की मूर्तियाँ भी अत्यन्त कलात्मक होनी चाहिए।

शिवलिंग भी शृंगारिक मूर्ति का ही एक रूप है।

भारतीय मंदिरों के अतिरिक्त विदेशों में भी उपासना-गृहों में शृंगार शिल्प प्राप्त है। इनमें से कुछ नष्ट हो गए हैं तथा अनेक संग्रहालयों में पहुँचा दिए गए हैं।

बर्मा में 'खरी' सम्प्रदाय का पेगान के निकट मिने न यू' में पेयाथोन्जू के तीन मंदिरों में शृंगारिक शिल्प प्राप्त हैं। चीन के 'पिग-योग' आवास के 'पैसन्टो' बेसलिमस और फ्रांस में सत फ्लोन्टीन के शिखर की उपासना एंटवर्प के निटजाबर के द्वार की मूर्तियाँ इटली की 'स्स-मना मेम्बो' डारसेट में टेंट्स पहाड़ी पर 'सरनो बाएंट' आयरलैंड में शैल्ला-न-जिग' नाम से प्रसिद्ध सायन कैवीडरल तथा कार्नवाल एवं हरफोर्डशायर में अब भी शृंगारात्मक शिल्प प्राप्त हैं।

इस प्रकार धर्म-शिल्प रूप में भी शृंगार विश्व-व्यापी है।

देवदासी

धर्म में शृंगार के उल्लेख में देवदासी या उससे मिलती-जुलती प्रथाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। देवदासी प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। इसके मूल स्रोत एवं विकास का पता लगाना लगभग असम्भव है। इसकी विश्व-व्यापकता एवं सभी स्थानों पर धर्म के साथ के घनिष्ठ सम्बन्ध के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह प्रथा उतनी ही प्राचीन है जितनी कि धार्मिक भावना। इसका प्राचीनतम उल्लेख मिस्र के खण्डहरों और शिलालेखों में मिलता है। ग्रीस तथा इराक में भी इसके चिह्न पाए जाते हैं।

भारतवर्ष के दक्षिणी मंदिरों में ही इसका पूर्ण विकास हुआ है। यहाँ पर यह परम्परा ७वीं शताब्दी से मिलती है। माता पिता अपनी पुत्रियों को मंदिर

में चढ़ा जाते थे । उनका विवाह वहीं के ठाकुरजी के साथ ही जाता था जिनकी उपासना वे पतिरूप से करती थीं । किन्तु जिस प्रकार ठाकुरजी अपना सब काम अपने प्रतिनिधि पुजारी के द्वारा करते हैं उसी प्रकार वे अपने वैवाहिक कृत्य भी पुजारी द्वारा करने लगे और देवदासियाँ पुजारियों की रखैल बन गईं । अनुमान है कि उनका उपयोग राजा और नगर के प्रतिष्ठित लोग तथा यात्रीगण शुल्क देकर कर सकते थे । इस रूप में वे वेश्याएं थीं । दिन में इनका काम इष्टदेव के सम्मुख हाव-भाव-नृत्य द्वारा उन्हें रिझाना था और रात्रि को यह कार्य उन्हें पुजारी राजा या यात्री के साथ भी करना पड़ता था । ऐसा भी हुआ है कि इनमें कुछ कुछ आचरणों की अत्यन्त भावुक और कवयित्रियाँ हुई हैं । इनका विशेष सम्मान हुआ है । 'अंडाल नाचियार' शायद ऐसी ही देवदासी थी । उसके भावात्मक गीत किसी भी साहित्य की निधि हो सकते हैं । ये पद दक्षिण के 'तिरुप्पावई' नामक पुस्तक में मिलते हैं । इनमें अपने इष्ट के प्रति प्रेम अपने प्रगाढ़तम रूप में प्रवाहित हुआ है । दक्षिण में ये (देवदासियाँ) अब तक होती थीं । सामाजिक भावनाएँ इस प्रथा के विरुद्ध होने से इसे हाल में ही सरकार द्वारा बन्द कर दिया गया है । कहा जाता है कि जगन्नाथ के मन्दिर में भी देवदासियाँ होती रही हैं यद्यपि उतनी प्रचुरता से नहीं जितनी कि वे दक्षिण में थीं ।

पश्चिम में भी यह प्रथा सदैव ही प्रचलित रही और अब भी है यद्यपि उसका स्वरूप कुछ भिन्न है । देवदासियों की जगह यह स्त्रियाँ 'नन्स' कहलाती हैं तथा इनका विवाह ईसा-मसीह से कर दिया जाता है जिसकी वे पति-रूप में उपासना करती हैं । इनमें भी अनेक भ्रष्ट भगिनियाँ हो गई हैं जैसे 'मेरसी' आदि । मध्ययुगीन धार्मिक संस्थाओं में भ्रष्टाचार के आधार पर अनुमान है कि ये अधिकतर मग्न लोगों की काम-पिपासा शांत करने के काम में ही आईं । धर्म द्वारा इस प्रथा को पूर्ण मान्यता प्राप्त है और आज भी ईसाई समाज में यह प्रचलित है ।

अर्चाविधि

अर्चना धर्म का बाह्य और कलात्मक रूप है । यह धार्मिक भावात्मक एवं बौद्धिक तथा दार्शनिक विचारों का बाह्य रूप है । इसका सम्बन्ध उपासना से है और इसके अंतर्गत पूजा सेवा जप होम आदि सभी वस्तुएँ आती हैं । इसके द्वारा धार्मिक तत्त्व को स्थूल रूप में प्रकट कर जन-साधारण के लिए बोधगम्य बनाया जाता है । सभी श्रेणियों के व्यक्तियों को प्रभावित करने की इसमें शक्ति भी है । इसके द्वारा मानव के विचारों में परिवर्तन और पवित्रता आती है । शारीरिक एवं मानसिक स्थिति में परिवर्तन करके यह इष्ट अथवा धर्म के सत्य स्वरूप को साक्षात् करा देता है । यही कारण है कि अर्चाविधि धर्म का महत्त्वपूर्ण

भेद है। शाक्त साधक को शिक्षा दी जाती है कि वह स्वयं शक्तियुक्त शिव है। यह केवल कथन मात्र नहीं है। यह तो अनुभव करनेवाली वस्तु है और साधक अपने साधन द्वारा इस सत्य का साक्षात्कार करता है। इसी प्रकार भक्त का निकुंज में प्रिया-प्रियतम की केलि का साक्षात्कार केवल कथन मात्र नहीं है। यह तो जीवन में उतार कर अनुभव करने की वस्तु है। इसी ध्येय को दृष्टिगत कर तीर्थयात्रा स्नान, ध्यान पूजा-पाठ, अष्टयाम सेवा जाप आदि का विधान है।

अर्चाविधि का महत्व एक अन्य रूप में भी है। धर्म का उद्देश्य विभिन्न प्रकार की साधारण मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों को पूर्वनिश्चित मान्यताओं के आधार पर सत्य या असत्य घोषित करना भी है। प्रत्येक धर्म अपने नियम और साधना द्वारा जनता को ऐसी अनुभूतियों से बचाता है जो कि उसके धार्मिक आधार के विरुद्ध हैं। ऐसी अनुभूतियों को धर्म झूठी महत्वहीन अथवा पापमय घोषित कर देते हैं। इस सम्बन्ध में युंग ने ऐसे व्यक्तियों की चर्चा की है जिनको अनुभूतियाँ हुईं किन्तु वे उनके सम्बन्ध में धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं थे। उन अनुभूतियों के दूषित प्रभाव से छुटकारा प्राप्त कराने के लिए उन व्यक्तियों को उस भयानक और बीभत्स मार्ग से ले जाना पड़ा जहाँ मानसिक द्वन्द्व उभर आते हैं मानसिक विकृतियाँ बढ़ जाती हैं और उनमें मुँह फाड़कर सामने आ जाती हैं तथा निराशाएँ पीड़ित करती हैं। इस कारण वे अर्चाविधि और साधना को मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। ऐसे व्यक्ति यदि धर्मों में विश्वास करते हैं तो अपनी अनुभूतियों को धार्मिक स्वरूप देकर उनके भयंकर परिणाम से बच जाते हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि धर्म का साधनात्मक अथवा अर्चाविधि-पक्ष मनोविज्ञान की दृष्टि से दार्शनिक पक्ष से अधिक महत्वपूर्ण है। इसका एक अन्य कारण भी है। दार्शनिक सिद्धान्त सदैव सूक्ष्म और बौद्धिक होते हैं जबकि अर्चा-विधि द्वारा उसी तत्त्व को कहीं अधिक स्पष्टता व क्रियाओं द्वारा स्पष्ट कर दिया जाता है। उस अगम तत्त्व को व्यक्त करने की यही सरलतम मनोवैज्ञानिक एवं उपयुक्त विधि है। ये अर्चाविधियाँ यदि एक ओर अनुभूतियों पर आधारित होती हैं तो दूसरी ओर इनके पीछे शताब्दियों की परम्परा और विश्वास रहता है। ये अर्चाविधियाँ सभी धर्मों में प्राप्त हैं और स्वप्न समाधि आदि के द्वारा प्रकट हो सकती हैं। इनकी उत्पत्ति कल्पना द्वारा नहीं होती। यथार्थ में इनका प्रारम्भ मानव-विकास की उस स्थिति में ही हो चुका था जबकि वह मस्तिष्क के पूर्व निश्चित उपयोग से अनभिज्ञ था। मानव के मस्तिष्क में विचार पहले आए और यह सोचने की क्रिया से अधिक बाद में हुआ। इन अनुभूतियों का विचार नहीं अनुभव हुआ था। ये अर्चाविधियाँ स्वभावतः मानव के अचेतन मन में एकाएक उत्पन्

छिपाए हैं। भविष्य में होनेवाली दुःखकारक अनुभूतियों से बचाने में वे दर्शन से अधिक उपयुक्त और सफल हैं। दर्शन अनुभूति के भावात्मक पक्ष की उपेक्षा करता है जबकि अर्चाविधि इसी भावना पक्ष के द्वारा ही अपने को व्यक्त करती है। दार्शनिक सिद्धांतों का खंडन-मंडन होता रहता है किन्तु अर्चाविधियाँ शताब्दियों तक चलती रहती हैं।

उपर्युक्त कारणों से धर्म में अर्चाविधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इष्ट की अष्टयाम सेवा शृंगार उपासना कीर्तन आरती उनके अप्रतिम सौंदर्य का चित्रण उनकी केलि का गायन आदि सभी भक्ति-सम्प्रदायों में अनिवार्य रूप से पाया जाता है।

अनुभूतियाँ

प्रत्येक धर्म में पहुँचे हुए साधक और सिद्धों की अनुभूतियों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये अनुभूतियाँ न केवल उस व्यक्ति की महत्ता की ही स्वीकृति कराती हैं बल्कि 'ईश्वर साक्षात्कार' और 'पहुँचे' होने का प्रमाण भी हैं। इन अनुभूतियों का साम्प्रदायिक मूल्य इस रूप में भी है कि इनके द्वारा सम्प्रदाय अपनी सच्चाई का डंका भी पीटते हैं।

भारतीय संतों एवं भक्तों की अनुभूतियाँ प्रामाणिक रूप में प्राप्त नहीं हैं। जो कुछ प्राप्य हैं वे भी किंवदंती हैं। सूरदास के पास श्याम की लाठी रख जाना, कीर्तन बना देना, श्रीनाथजी का स्वयं दरवाजा खोल देना, भक्त के साथ बैठकर वार्तालाप, गोद में बैठना, प्रिया-प्रियतम की काम-केलि में प्रवेश आदि का उल्लेख मिलता है। इनमें जिन सम्प्रदायों में शृंगारोपासना स्वीकृत है उनकी अनुभूतियाँ भी शृंगारात्मक होती हैं।

विदेशी संतों ने अवश्य अपनी अनुभूतियों की विस्तृत चर्चा की है। उनकी अनुभूतियाँ भी अधिकतर शृंगारात्मक हैं। ईसा के प्रति पत्नी-भाव की उनकी उपासना रही है और उन्होंने संयोगादि का अनुभव भी किया है।

ऐसी अनुभूतियाँ चैतन्यदेव के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध हैं जिनमें राधा कृष्ण के प्रेम में वे व्याकुल हो जाते थे। उनमें उस समय प्रेम के समस्त सात्विक विकार उत्पन्न हो जाते थे। भक्तों की ऐसी अनुभूतियाँ अधिकतर शृंगारिक ही हुआ करती हैं और इनका स्वरूप अपनी-अपनी धार्मिक एवं साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुकूल हुआ करता था।

उपर्युक्त ऐतिहासिक उल्लेख के बाद धर्म और काम के पुरातन सम्बन्ध के विषय में शंका नहीं रह जाती। धर्म का काम से सदैव सम्बन्ध रहा है और धर्म रूप में शृंगार की सदा स्वीकृति रही है।

द्वितीय अध्याय

धर्म में काम-तत्त्व का रहस्य

धर्म में काम-तत्त्व की परम्परा का संक्षिप्त विवरण प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। इस अध्याय में काम की इस स्थिति को समझने का प्रयत्न किया जाएगा। इस काम-तत्त्व की व्याख्या नृशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक आधार पर की जा सकती है। नृशास्त्रीय व्याख्या के अन्तर्गत धर्म के विकास एवं उसमें काम के प्रवेश के कारणों को बतलाया जाएगा। मनोवैज्ञानिक व्याख्या द्वारा धर्म और काम के सम्बन्ध को बतलाने का प्रयत्न किया जाएगा। दार्शनिक व्याख्या के अन्दर हिन्दू धर्म द्वारा इस काम-तत्त्व को समझाने का जो प्रयत्न है उसका उल्लेख रहेगा। इन तीनों व्याख्याओं के आधार पर ही हम धर्म में काम-तत्त्व के रहस्य को समझ सकेंगे।

धर्म में काम-तत्त्व की नृशास्त्रीय व्याख्या

नृशास्त्र मानव की मूल भावनाओं और रीति-रिवाज के उद्गम और विकास का अध्ययन करता है। इस अध्ययन का आधार संसार में प्राप्त आदिम जातियों के रीति-रिवाज हैं जो कि थोड़े अंश में उनमें अपने मूल रूप में अब भी प्रचलित हैं। मानव की मूल भावनाओं में धर्म और काम हैं। इनमें धर्म और काम के स्वरूप का अध्ययन नृशास्त्रियों का प्रिय विषय रहा है। उन्होंने धर्म और काम के संबंध की जो व्याख्या दी है उसीकी संक्षिप्त रूप रेखा नीचे दी जा रही है।

नृशास्त्री 'सेवी' का विचार है कि धर्म का विकास मानव की अपनी परिस्थितियों के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ होगा। इस प्रतिक्रिया के द्वारा उसने प्राकृतिक शक्तियों के रहस्य को जानने तथा उनका अपने हित के लिए उपयोग करने का प्रयत्न किया होगा। यह प्रयत्न तीन प्रकार से हुआ होगा —

पुजारी पूजा-उपासना द्वारा, चिकित्सक जड़ी-बूटी द्वारा और ओझा जादू-टोने द्वारा अपने यजमान के लिए दैवी शक्ति और सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा होगा। यह दैवी शक्ति सभी कार्यों में अपेक्षित रहती होगी क्योंकि उस समय मानव प्रकृति के सच्चे स्वरूप से अपरिचित था। उस समय पुजारी,

चिकित्सक और ओझा एक ही व्यक्ति रहते होंगे और इन तीनों कर्मों में विशेष अन्तर नहीं समझा जाता होगा। अभी भी सभ्य समाज में ऐसे रूप प्राप्त होते हैं। आदिम मानव समाज में पुजारी चिकित्सक और ओझा का एकसा ही सम्मान रहा होगा।

समय बीतने के साथ पुजारी और ओझा की स्थिति में अन्तर पड़ता गया। एक ओर धर्म का स्थान ऊंचा होता गया तो दूसरी ओर जादू-टोना को लोग हेय समझने लगे यद्यपि समाज इसका बहिष्कार न कर सका। पुजारी और भक्त का सम्मान यथावत रहा किन्तु ओझा के प्रति भय की भावना बढ़ गई। इसका कारण था। धर्म ने अधिकाधिक सामाजिक हित की भावना को अपनाया और जादू-टोने ने व्यक्तिगत स्वार्थ को। फलस्वरूप एक की मूल शक्ति दैवी और दूसरे की दानवी मानी जाने लगी। (जेम्स रिलीजन एण्ड लाइफ पृ० ११)

धर्म से जादू टोना एक अन्य रूप में भी भिन्न है। मेलिनोस्की के अनुसार धार्मिक क्रियाएं साधन नहीं साध्य हैं जबकि जादू एक क्रियात्मक कला है। यह एक सुनिश्चित ध्येय की प्राप्ति का साधन है। इसकी क्रियायें यान्त्रिक होती हैं। इसका कार्य इस विश्वास पर होता है कि यदि किसीको साधन विधि का समुचित ज्ञान है तो ध्येय प्राप्ति साधारण एवं सरल है। उस समय मानव का विश्वास था कि उपयुक्त साधन द्वारा प्रत्येक कार्य सम्भव है। उसके फल को कोई शक्ति नहीं रोक सकती। अनुमानतः इसीकी विकसित परम्परा में ही भारतीय यज्ञ आते हैं जिनके द्वारा सभी फल प्राप्त किए जा सकते हैं और उन फलों को रोकने की शक्ति किसी भी देव-दानव में नहीं है। क्योंकि भारतीय ऋषियों ने सदा जन कल्याण की भावना को यजमान की इच्छा से अधिक महत्व दिया इसीलिए उनके यज्ञों का सम्मान रहा। पर इसके विपरीत जन-कल्याण की अवहेलना करके व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए भी यज्ञ और प्रयोग होते रहे। अनुमान है कि जादू और धर्म का यह अन्तर सभ्यता के विकास के साथ हुआ होगा। आदिम कालीन सामाजिक स्थिति में यह अंतर नहीं था। जादू और धर्म दोनों ही साथ-साथ चलते थे। यज्ञ प्रयोग और प्रार्थना दोनों ही साथ प्रयुक्त होते थे। यथार्थ में उस समय व्यक्तिगत और सामाजिक भावना का स्पष्ट अन्तर नहीं था। धर्म जादू विज्ञान कला नैतिकता आदि सभी वस्तुएं थीं किन्तु उनका क्षेत्र अथवा रूप पृथक और स्पष्ट नहीं था। बहुत बाद में ही ये सब पृथक हुए होंगे।

प्रारम्भ में धर्म जादू-टोना विज्ञान एवं नैतिकता के बीच कोई सुस्पष्ट विभाजक रेखा नहीं थी बल्कि सभी एक दूसरे से घुले-मिले थे। इसी कारण है

धर्म जादू-टोना आदि सभी क्षेत्रों में काम भावना मिलती है। सभ्यता के विकास के साथ धर्म में नैतिकता के अधिकाधिक प्रवेश के कारण तथा सामाजिक व्यवस्था के स्थायित्व की दृष्टि से काम भावना एवं उसके स्थूल उपभोग की भावना का क्रमशः ह्रास होता गया। उसका सूक्ष्मीकरण और उन्नयन भी हुआ। प्रजनन कृत्यों से उत्पन्न होनेवाले यौन-सम्बन्ध व्यर्थ हो गये। अल्पकालीन मैथुन सम्बन्धों की कमी होती गई, यद्यपि पूर्णतः इसका बहिष्कार न हो सका। इसके विपरीत दूसरी ओर ऐसे धर्म-कर्म जिनमें मानव की साधना-शक्ति पर ही समस्त बल है जिनमें सही विधि और फल प्राप्ति का अनिवार्य संबंध है, उनमें स्त्री के काम-रूप का ही महत्त्व रहा और आज भी है। शाक्तों की साधनाओं में स्त्री के महत्त्व का यही रहस्य है। उनमें स्त्री सिद्धि की दात्री है।

धर्म और काम भावना के इस संबंध को सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु एक वर्ग काम भावना को ही धर्म मानता है, तो विचारकों का दूसरा वर्ग काम भावना और धम में केवल संबंध ही स्वीकार करता है, एकरूपता नहीं। ग्लारबक ने 'इंसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' में दोनों वर्गों के मतों का उल्लेख किया है।

प्रथम मत के अनुसार आधुनिक धार्मिक विश्वास आदिम युग के धार्मिक विश्वासों से विकसित हुए हैं। आदिम मानव में धर्म का विकास और अलौकिक तथा अमानव में विश्वास अपने तथा अपनी परिस्थितियों के प्रति अज्ञान से हुआ होगा। आज भी बाह्य रूप में इन विश्वासों से मुक्त होकर भी हम उनसे छूट नहीं पाये हैं।

आदिम मानव में समस्त काम क्रियाओं के प्रति अलौकिक भावना रही होगी। जड़ी-बूटी और उपचार द्वारा उत्पन्न अनुभूतियाँ भी उसे अलौकिक लगती होंगी। ये सब उसके धर्म का अनिवार्य अंग बन गई होंगी।

सभ्यता और ज्ञान के विकास के साथ धर्म में इस काम के प्रति प्रतिक्रियाएँ उठी होंगी। अनुमान है कि यह प्रतिक्रिया तीन रूप में हुई होगी। प्रथम में काम को सहज रूप में धर्म का अंग स्वीकार कर लिया गया होगा। यम, नियम, काम, क्रियाओं को धार्मिक रूप दिया गया होगा और धार्मिक क्रियाओं को काम-स्वरूप बतलाया गया होगा। वैदिक कालीन धर्म में धर्म और काम की ऐसी समता के अनेक उदाहरण हम पीछे दे आए हैं। सम्भोग यज्ञ है तथा यज्ञ सम्भोग है तथा मंत्रों का सम्भोग क्रिया रूप में पाठादि इसी स्थिति के द्योतक हैं। प्रतिक्रिया का दूसरा रूप धर्म में काम के दमन द्वारा प्रकट हुआ। धर्म में ब्रह्मचर्य का महत्त्व इसी कारण हुआ होगा। सम्भवतः इसके पीछे यह विचार रहा

और गृहस्थी मानव को सांसारिक बनानेवाले हैं। ब्रह्मचारी सभी बंधनों से मुक्त होने के कारण ईश्वर के प्रति एकनिष्ठ हो सकता है। मनोवैज्ञानिक इस विचार को इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि अविरुद्ध काम भावना धर्म के क्षेत्र में कई गुना तीव्र हो कर प्रकट होती है। इस रूप में ब्रह्मचर्य की भावना के पीछे काम का दमन है। भारतीय धर्मों में काम के इस दमन का रूप भी मिलता है। तपस्या भिक्षु-जीवन और वैराग्य का भारतीय धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन भिक्षुओं और साधुओं के जीवन में काम के दमन की प्रतिक्रिया से कितनी कामुकता उत्पन्न हुई इसका प्रमाण बौद्ध धर्म के संघों के इतिहास में है। इसीके फलस्वरूप अनेक सम्प्रदायों में बाह्य रूप से ब्रह्मचर्य पर महत्त्व देते हुए मानसिक शृंगार का द्वार खोल दिया गया। शृंगारिक सम्प्रदायों में इष्ट की शृंगार-लीला का चिंतन-मनन ऐसी ही तुष्टि करनेवाला है। इस प्रतिक्रिया का तीसरा रूप सचेष्ट होकर काम को धर्म का अंग स्वीकार करने में है। इसका विकास 'स्वतंत्र प्रेम' के रूप में हुआ। स्वतंत्र प्रेम का अर्थ है अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों से संबंध की छूट। सिद्ध सहजिया आदि में परकीया का यही आधार प्रतीत होता है। 'स्वतन्त्र प्रेम' की इस स्वीकृति के दो तर्क दिये जाते हैं। प्रथम यह कि शारीरिक और आत्मिक संबंध भिन्न भिन्न हैं। पत्नी के रहते हुए भी अन्य स्त्री से आध्यात्मिक संबंध स्थापित किया जा सकता है। दूसरी यह कि आत्मा पर शारीरिक क्रिया-कलापों का प्रभाव नहीं पड़ता। फलस्वरूप साधक उन सभी कर्मों को करने लगता है जिन्हें साधारणतः त्याज्य समझा जाता है। यह कार्य धार्मिक प्रभाव के साथ प्रकट रूप में किये जाते हैं।

भक्तों की अनुभूतियों में भी काम का स्वरूप मिलता है। इसे वे लीला-दर्शन लीला प्रवेश आदि नामों से व्यक्त करते हैं। ये अनुभूतियाँ धर्म और काम की मौलिक एकता व्यक्त करती हैं। ऐसा अनुमान है कि ये अनुभूतियाँ मानसिक व्याधि के लक्षण हैं क्योंकि अनेक मानसिक रोगियों में प्राप्त अनुभूतियों और भक्तों की अनुभूतियों में बड़ा साम्य है।

भक्तों की अनुभूतियों के संबंध में तर्क दिया जाता है कि उनका आलम्बन पार्थिव अथवा अलौकिक होता है। इस मत के लोगों का विचार है कि इससे कोई अंतर नहीं पड़ता क्योंकि भावनाएँ मूल रूप में एक हैं।

भक्तों की शृंगार प्रधान अभिव्यक्तियों को प्रतीक मानने के पक्ष में इस मत के लोग नहीं हैं। प्रो॰ जेम्स के विचार से सहमत होते हुए ये लोग इन भावनाओं को लौकिक मानते हैं। बिना लौकिकता के इनमें वह तीव्रता तथा तन्मयता नहीं आ सकती है जो कि भक्तों में उपलब्ध होती है। इस संबंध में शृंगार और धर्म में 'त्याग' की समानता भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। यही कारण है कि

प्रेमी प्रेमीपात्र की प्राप्ति के लिए साधु, योगियों का रूप बनाते हैं। प्रेमाख्यी शाखा के नायक इसके उदाहरण हैं।

इस संदर्भ में अंतिम महत्त्वपूर्ण बात है भक्त और संतों का इन कामात्मक साधनाओं और अनुभूतियों में दृढ़ विश्वास। वे इसे धर्म का अंग मानते हैं और इसकी अनैतिकता का प्रश्न उनके सामने उठता ही नहीं। मध्ययुगीन हिन्दी-भक्त-कवि ऐसे ही हैं।

धर्म और काम को एक माननेवाले लोगों के उपर्युक्त तर्क संक्षेप में इस प्रकार रखे जा सकते हैं —

(१) भक्त और संतों की अनुभूतियों और वाणियों में शृंगारिकता है। उनकी साधनाएँ कामात्मक हैं।

(२) इन कामात्मक अनुभूतियों और साधनाओं में उनका दृढ़ विश्वास है कि वे धार्मिक हैं।

(३) उनकी ये अनुभूतियाँ और अभिव्यक्तियाँ प्रतीकात्मक नहीं हैं बल्कि यथार्थ हैं और

(४) इसके पीछे

(क) वैराग्य की प्रतिक्रिया है अथवा

(ख) दमित काम-वासना प्रच्छन्न और मानसिक योग रूप में व्यक्त हुई है अथवा

(ग) इस काम की स्वीकृति शरीर के ऊपर आत्मा की महत्ता प्रतिपादित करने के कारण भी हुई है।

दूसरा वर्ग उन विद्वानों का है जो धर्म में शृंगार के प्रभाव को मानते हुए भी उसको नगण्य समझते हैं। उनके अनुसार कामात्मकता ऐसी क्रियाओं में ही अधिकतर प्राप्त है जिनको धर्म में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है जैसे जादू टोना, प्रेम-साधनाएँ आदि। धर्म में जो थोड़ी-बहुत कामात्मकता मिलती है वह केवल प्रजनन उत्सव देवदासी-प्रथा अथवा लिंगोपासना के रूप में ही है। उनका विचार है कि ऐसे उत्सव जिनमें काम-स्वतन्त्रता रहती है काम-वासना के उन्मुक्त रूप नहीं हैं बल्कि प्रजनन और उत्पत्ति की शक्तियों के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन मात्र हैं। धर्म का सम्बन्ध नैतिकता से है और वह इस (काम) शक्ति को स्वीकार कर उसका नियंत्रण करता है और पवित्रता का आदर्श स्थापित करता है।

इन लोगों के अनुसार धर्म में काम तीन रूपों में प्रकट होता है — (१) देवियाँ (२) लिंगोपासना और (३) धार्मिक और लौकिक प्रेम द्वारा।

संसार के सभी धर्मों में ऐसी देवियाँ हैं। रोम की 'वीनस' ग्रीस की 'अफ्रोडाइट', स्कैंडीनेविया की 'फ्रेया', बेबीलोन की 'इश्तर' एशटैरू की

इसमोस्टइमोल' भारत की राधा उर्वशी रंभा मेनका विमला उमा आदि ऐसी ही देवियां हैं। इन देवियों के व्यवहार और उनकी उपासना से स्पष्ट है कि भक्तों के हृदय में इन देवियों का प्रेमात्मक स्वरूप ही मुख्य है। इन देवियों के प्रति इनके स्वामियों का व्यवहार भी अनेक बार अत्यंत वासनात्मक चित्रित हुआ है।

धर्म में काम की प्रमुखता माननेवालों का कहना है कि इन देवियों का स्वरूप तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक कि इनके प्रतीकों को न समझा जाए। इन प्रतीकों में शिश्न-योनि प्रतीक सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार सर्प से संबंधित मनसा-मंगल की कथाएं भी शृंगारिक हैं। कुछ तो फल फल-युक्त वृक्ष और यहाँ तक कि मोर में भी काम प्रतीक देखते हैं। उनके अनुसार कमल' 'ॐ' तथा 'आमीन' भी काम-प्रतीक हैं।

इसका विरोध करते हुए द्वितीय मतवालों का कहना है कि अधिकतर देवियों का सम्बन्ध शृंगार से नहीं है। उदाहरणार्थ रोम की 'मिनर्वा' भारत की लक्ष्मी' 'सरस्वती' और 'सीता' आदि। इसके अतिरिक्त कालांतर में प्रेम और वासना की देवियों का भी नवीन रूप विकसित हो गया। पार्वती और विमला ऐसी ही देवियां हैं। साथ ही-साथ शृंगारिक देवियों के प्रचार का कारण उनकी बहुलता नहीं बल्कि मानव की दुर्बलताएं हैं। इनका कहना है कि सर्वत्र काम की प्रधानता देखनेवालों का मस्तिष्क स्वयं काम से इतना संयुक्त है कि उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं है। इनके अनुसार सौंदर्य और चपलता के प्रतीक सर्प में काम-प्रतीक देखना अनुचित है। इसी प्रकार कमल सुंदरता पवित्रता और आध्यात्मिकता का प्रतीक है। उसमें भी काम देखना अपनी विकृत मानसिक स्थिति का कारण है। ऐसे लोग प्रत्येक वस्तु खम्भे दरवाजे कलम दावात नाली आदि में काम-ही-काम देखते हैं जिसका वहाँ नामो निशान भी नहीं होता है।

धर्म का उद्देश्य सदा काम-वासना का नियंत्रण और दमन करना रहा है। भारत मिस्र यूरोप मैक्सिको आदि सभी देशों में ब्रह्मचर्य तथा वैराग्य की प्रतिष्ठा करने का धर्म ने सदा प्रयत्न किया है। इन देशों में विहार संघ कानवेंट आदि का निर्माण इसी काम के नियंत्रण के लिए ही हुआ था और इस कार्य की ओर वे लगन से लगे रहे। संभव है कि धर्म में काम की प्रतिष्ठा कम करने के कारण ही देवता अवतारादि का जन्म कुमारी कन्या यज्ञ आदि से प्राप्त फल अन्य इन्द्रियों से अथवा प्राकट्य द्वारा बतलाया गया है। अयोनिज देव-देवियों की कल्पना बहुत प्रचलित है। इस प्रकार धर्म ने ब्रह्मचर्य और वैराग्य को सर्वोच्च स्थान दिया है। मंदिरों में देवदासियां रही हैं और उनका दुरुपयोग भी हुआ है किंतु अधिकतर मन्दिर विहार आदि ने अपने यहां के स्त्री पुरुष भिक्षु-भिक्षुणियों आदि की पवित्रता की रक्षा का ही प्रयत्न किया है। धार्मिक कृत्यों में स्त्री की महत्ता उसकी

प्रस्तुत किए हैं। उन्माद रोग के चिकित्सकों ने बारंबार इस संबंध का उल्लेख किया है। उनके विचार से भक्तों में यह काम-व्याधि विशेष रूप से मिलती है। इस सम्बंध में क्राफ्ट-एबिंग का कहना है कि वे मरीज जो कि अपने को कुमारी मरियम अथवा ईश्वर या मसीह की पत्नी समझते हैं, उनमें आगे या पीछे विकृत काम भावना के लक्षण अवश्य प्रकट होते हैं। फ़ीरस अपनी पुस्तक 'ग्राई सैक्सुअल फ़ीज' में अपना तर्क देते हैं कि धार्मिक भावना के मूल में अज्ञातरूप से काम भावना रहती है। अपनी पुस्तक 'सैक्सुएलिज्म अनफ़ोल्डर फ़ीवर्ड' में श्लाक का कहना है कि एक अर्थ में धर्म के इतिहास को मानव काम भावना का व्यक्त इतिहास कहा जा सकता है। धर्म और काम के संबंध का अध्ययन करनेवाले अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध को स्वीकार किया है। क्राफ्ट एबिंग भी दोनों के सम्बंध को अन्योन्याश्रित कहते हैं। इस सम्बंध में प्रसिद्ध काम-शास्त्री हैवलक एलिस का विचार है कि काम भावना धर्म भावना का मूल स्रोत है, किन्तु धर्म के सम्पूर्ण रूप को बनानेवाली नहीं है। उनके अनुसार काम भावना का प्रभाव पूर्ण विकसित धर्मों पर है किन्तु उसकी मूल सामग्री इस भावना से नहीं प्राप्त हुई है। इसने शायद धर्म के विकास की सुप्त संभावनाओं को जाग्रत किया है।

मनोवैज्ञानिकों के इन विचारों को बतलाने के उपरांत धर्म और काम के संबंध में समस्त मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को उनके महत्त्वानुसार क्रम से नीचे दिया जा रहा है। इन सिद्धान्तों का संकेत पहले भी हो चुका है। इन सभी में सत्यांश है पर पूर्ण सत्य शायद इनमें से किसी एक में नहीं है।

काम-भावना के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत

काम-भावना धार्मिक भावना से पृथक है। इस विचार के अनुसार दोनों में कोई भी संबंध नहीं है। कभी-कभी काम-भावना अपनी सीमा छोड़ कर धर्म में प्रवेश कर गई है पर दोनों में कोई संबंध नहीं है। इस विचार का कारण यह है कि संसार की सभी वस्तुओं को दो रूपों में विभाजित कर दिया जाता है—एक तो पवित्र और दूसरी अपवित्र। एक धार्मिक और दूसरी अधार्मिक एक श्रेष्ठ और दूसरी निकृष्ट। यह विचार ग़लत है। इस प्रकार का विभाजन आदिम मानव में नहीं था। उसमें धार्मिक और शृंगार क्रियाओं में अन्तर प्राप्त नहीं है। यह विभाजन विकसित मानसिक अवस्था का है जिसमें काम भावना की प्रबलता को स्वीकृत करते [illegible] उससे धर्म को बचाने की भावना है। इस सिद्धांत की दुर्बलता इसकी विभाजन प्रणाली और कामको निकृष्ट मानने में है। यह सिद्धांत धर्म को अत्यंत सीमित और सूक्ष्म मानता है जो कि सत्य नहीं है।

(ख) काम-भावना और धर्म-भावना एक है। यह सिद्धांत प्रथम का

विसीम है। इसके अनुसार धार्मिक भावना काम-भावना का ही परिपक्व रूप है। काम भावना और धार्मिक भावना का विकास साथ-साथ हुआ है। शारीरिक और आध्यात्मिक प्रेम का स्वरूप एक है और उनके विकास की मर्यादाएँ भी एक हैं। ऐसा अक्सर देखा गया है कि स्त्रियों में काम-विचार धार्मिक रूप धारण कर लेता है।

उपयुक्त विचार विकसित धर्मों के संबंध में लागू नहीं होते। आज तो धर्मों में जो काम का स्वरूप मिलता है वह वासना को नियंत्रित करने के लिए है। इसके अतिरिक्त धार्मिक प्रेम के मूल में काम के साथ-साथ साहचर्य और सौंदर्य भावना भी है यह हमें नहीं भूलना चाहिए। सर्वत्र काम-ही काम देखना अनुचित है। धर्म में केवल काम भावना ही नहीं अन्य अनेक भावनाएँ भी हैं।

(ख) धर्म में काम का नियमन है। धर्म का उद्देश्य जीवन को आदर्श बनाना है। इसलिए यह जीवन की सभी क्रियाओं का नियंत्रण करना चाहता है। इन क्रियाओं में काम भी है। पहले आदिम समाज का महत्त्व था। समाज का संगठन सुदृढ़ तथा व्यापक नहीं था। उस समय अपेक्षा-काम-संयम का महत्त्व था। परिवार के संगठन के उपरांत विवाह के स्थायित्व पर अधिक बल दिया जाने लगा होगा। व्यभिचार बुरा समझा जाने लगा होगा और काम भावना नियमित की गई होगी। धर्म इसी नियमन का स्वरूप है और इसीलिए धर्म ने काम-संयम विवाह आदि को अपने अंतर्गत ले लिया। इसने काम-भावना को एक ओर रोका और दूसरी ओर विवाह के रूप में उसको एक मार्ग भी दिया। विवाह को धार्मिक क्रिया और स्थायी संबंध बनाकर धर्म ने काम भावना को सामाजिक बनाया और उसका नियंत्रण किया। इस रूप में धर्म और काम का सम्बन्ध है।

(ग) धर्म में काम की स्वीकृति है। कभी-कभी धर्म ने काम को विशेष रूप से स्वीकार कर उसे प्रश्रय भी दिया है। इस प्रश्रय का कारण सामान्यतः सामाजिक होता है और इसका रूप धार्मिक। बड़े परिवारों और उनमें भी पुत्रों की उपयोगिता देखकर धर्म ने संतानोत्पत्ति और पुत्रोत्पत्ति को धर्म से संतानोत्पत्ति और पुत्रोत्पत्ति को धर्म का अंग बना लिया। बिना पुत्र उत्पन्न हुए वंश तो नष्ट होता ही है पितर भी पीड़ित होते हैं। इस प्रकार धर्म काम को बढ़ावा देता है। यह प्रश्रय देते हुए भी वह इसकी एक सीमा से आगे नहीं बढ़ने देता है। इसी स्वीकृति के कारण भी धर्म में काम-भावना आई हो सकती है।

(घ) धर्म में काम का मिश्रण है। धर्म विविध भावों एवं मनोवेगों का मिश्रित रूप है और काम भावना उनमें से एक है। धर्म के विकसित रूप में यह

काम भावना कम होती जाती है। धर्म में भय, आत्म-सम्मान, प्रेम, करुणा, जिज्ञासा आदि अनेक भाव और मनोवेगों का मिश्रण है। ये अपने स्थूल और हेय रूप से परिष्कृत होकर धर्म में मिले हैं। जिस समय धर्म युवक-युवतियों को सामाजिक जीवन में प्रवेश कराता है उसी समय उसमें काम-भावना दिखलाई पड़ने लगती है। इस समय काम-भावना के साथ-साथ और भी अनेक विकास दिखलाई पड़ते हैं जैसे तर्कशीलता, साहसिकता आदि। अतएव यह सोचना कि धार्मिक भावना में सर्वत्र काम भावना ही है अथवा इसीके ऊपर ही धार्मिक भावना विकसित हुई है, उचित नहीं।

यह सत्य है कि बहुत से रहस्यवादियों, भक्तों और सन्तों की धार्मिकता में काम भावना का कारण शारीरिक या मानसिक विकृतियाँ होती हैं किन्तु इनकी मात्रा इतनी कम है कि इनके आधार पर ही धर्म को काम-मय मान लेना उचित नहीं है। साथ-ही-साथ अनेक धार्मिक विकृतियाँ ऐसी भी हैं जिनमें काम-भावना बिलकुल नहीं रहती तथा ऐसी भी काम-विकृतियाँ होती हैं जिनमें धार्मिकता का लेश भी नहीं रहता। अतः यह निष्कर्ष और भी अनुचित होगा कि धर्म और काम एक हैं।

प्रेम में तीन स्वतंत्र मनोवेग कार्य करते हैं—काम, साहचर्य और सौंदर्य। काम के कारण धर्म में कोमलता, स्नेह आदि का प्रवेश होता है और अपने विकृत रूप में यह कामोपासना या योनोपासना का रूप ले लेता है। साहचर्य के द्वारा परोपकार, दया, त्याग और भ्रातृत्व की भावना विकसित होती है। सौंदर्य भावना किसी भी वस्तु की सुन्दरता के प्रति आकृष्ट कर उसका आनन्द उठाने की भावना उत्पन्न करती है और इसके द्वारा ईश्वर की सर्वव्यापकता का भान होता है। इनमें साहचर्य की भावना कहीं प्रमुख है। इसके लिए आवश्यक नहीं कि लोग भिन्न लिंगी हों। रिबट ने अपनी पुस्तक 'मनोवेगों के मनोविज्ञान' (१८९७ पृ० २७१-२७२) में यह सिद्ध किया है कि साहचर्य की भावना का आधार जीवनेच्छा है। इसीके कारण एक प्रकार के जीव परस्पर आकर्षित होते हैं। इस जीवनेच्छा के कारण ही सामाजिक भावना का विकास होता है और इसमें काम का प्रवेश नहीं है। इसी साहचर्य की भावना से धर्म ने विशेष ग्रहण किया है, काम-भावना से नहीं। इस प्रकार धर्म का उद्देश्य काम की तृप्ति नहीं बल्कि जीवनेच्छा, साहचर्य और विकास है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि धर्म में काम का स्थान है। मानव की आदिम अवस्था में दोनों घुले-मिले थे। सभ्यता के विकास के साथ धर्म में काम का स्थान गौण होने लगा और उसमें बौद्धिकता आती गई। यही बौद्धिकता

के स्थान पर भावना की महत्ता हुई वहीं धर्म में काम ने प्रवेश किया क्योंकि दोनों का मूल स्रोत बड़े अंश में समान है।

धर्म में काम-तत्त्व की दार्शनिक व्याख्या

इस व्याख्या के अंतर्गत हम केवल भारतीय दार्शनिक व्याख्या देंगे। हम प्रथम अध्याय में बतला आये हैं कि भारतीय धर्म में वैदिक काल से ही काम प्राप्त है। ऐसा अनुमान है कि काम का यह स्वरूप धर्म के विकास के साथ परिवर्तित होता रहा है। इस विकास की अनुमानित रूपरेखा निम्नलिखित है —

आर्यों के आगमन के बाद उनका द्रविड़ संस्कृति के संपर्क में आना स्वाभाविक था। द्रविड़ों को निकृष्ट मानते हुए भी दोनों संस्कृतियों का संगम हो गया होगा। दोनों जातियों में परस्पर विवाह संबंध हुए। फल-स्वरूप द्रविड़ संस्कृति के देवी-देवता पशु-पक्षिणियाँ नाग-नागिनें भूत प्रेत आदि का प्रभाव आर्यों पर भी पड़ा। द्रविड़ों के अनुसार सभी वस्तुओं में आत्मा होती है। इस भावना के साथ द्रविड़ों की आर्यों में स्वीकृति हो गई और उन्हें गूढ़ धर्म के अन्दर स्थान मिला।

द्रविड़ों के लोक-प्रचलित पूजा-पाठ आदि के कारण वैदिक कालीन धर्म में काम का महत्त्व बढ़ने लगा। इसका विरोध भी हुआ पर इसे रोका नहीं जा सका और धीरे-धीरे इसे स्वीकार भी कर लिया गया। ऐसा भी संभव है कि कुछ अंशों में आर्यों में स्वतंत्र रूप से भी काम को धार्मिकता प्राप्त रही हो। सृष्टि का कारण यही काम है और अथर्ववेद में इसके आकर्षण और प्रभाव का निरंतर गान है।

आर्यों की दार्शनिक विचारधारा की मूलभित्ति परिवार पर थी। पितरों की तृप्ति के लिए सुखमय पारिवारिक जीवन होना चाहिए जिसमें पति-पत्नी अनेक पुत्रों को जन्म दें। इस सुखमय पारिवारिक जीवन की अनेक विधियों और पति पत्नी संबंध में उठनेवाली कठिनाइयों का हल धर्म के अंतर्गत आ गया। इस प्रकार काम को स्वीकार करते हुए उसे जीवन और धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग समझा गया और काम का उल्लेख धार्मिक पवित्रता के साथ किया गया। यही स्वीकृति भावी काम की अधिकता का मूलाधार है।

उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थ

संहिता काल के बाद ऋषियों के चिन्तन के फलस्वरूप एकेश्वरवाद या ब्रह्म की कल्पना विकसित हुई। इसी ब्रह्म ने इच्छा या काम से सृष्टि को उत्पन्न किया। अद्वैत से द्वैत इस प्रकार विकसित हुआ और इसी द्वैत को मिटाना ही मोक्ष है। इस रूप में मानव की प्रजनन विधि का आरोप

किया गया। वही संसार का पिता है। उसके अन्दर स्त्री और पुरुष दोनों ही तत्त्व हैं। इसलिए उसके स्वरूप की कल्पना दो ही रूप में संभव है। वह या तो अर्द्ध नारीश्वर रूप है अथवा मैथुन क्रिया में आबद्ध जोड़े का। इस ईश्वर ने भोग के लिए दूसरे की कामना की और उसका स्त्री-रूप—प्रकृति—अलग हो गया। इस प्रकृति के साथ विविध रूप में संभोग कर इस संसार की सृष्टि पुरुष ने की। यही अद्वैत का द्वैत में परिवर्तन है। संसार में प्राप्त स्त्री और पुरुष उसी द्वैत के स्वरूप हैं। इसी द्वैत का नाश ही मोक्ष जीवन का उद्देश्य है ईश्वर की प्राप्ति है। फलस्वरूप स्त्री-पुरुष चिह्न—योनि और लिंग प्रकृति और पुरुष के प्रतीक बन गए। संभोग सृष्टि का प्रतीक बना—यज्ञ कहलाया। समस्त भारतीय काम साधनाओं के दर्शन यही मूल-भित्ति है।

जिस प्रकार सृष्टि का प्रतीक संभोग बना वैसे ही ईश्वरानन्द ब्रह्मानन्द का प्रतीक भी मानवीय संभोगानन्द बना। संभोग-सुख ही संसार में प्राप्त सभी सुखों में उत्कृष्टतम है। अतएव ब्रह्मानन्द को व्यक्त करनेवाला है। इसलिए संभोग एक पावन क्रिया है, ईश्वरीय है यज्ञ है। धीरे धीरे सभी काम-क्रियाएँ पवित्र और धार्मिक हो गईं। ब्रह्म का प्रतीक "ॐ" भी संभोग का प्रतीक हो गया और सभी कामनाओं की पूर्ति करनेवाला माना जाने लगा।

इन विचारों का उपनिषदों में उच्चतम विकास हुआ जो कि जन-साधारण की बुद्धि से परे था। अतएव इन विचारों का अपूर्व प्रभाव डालने के लिए अनेक कर्मों पूजा आदि का विकास हुआ। हिन्दू धर्म को एक सूत्र में बाँधने के लिए संस्कार-विधि का विकास हुआ। विवाह को अग्नि की साक्षी दिला कर धार्मिकता प्रदान की गई। यह संस्कार विधि भारत-व्यापी हो गई।

बौद्ध धर्म और योग का प्रवेश

ब्राह्मण धर्म की वर्ण-व्यवस्था और पुजारियों आदि के दुराचार के विरुद्ध गौतम और महावीर ने विद्रोह किया तथा बौद्ध और जैन-सुधार आंदोलन चलाए। ब्राह्मण और इन धर्मों के बीच संघर्ष लगभग १० वर्षों तक चलता रहा। इसी बीच प्रतापी सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म को अपनाकर उसका प्रचार भारत ही नहीं विदेश में भी किया। इस धर्म के भिक्षुक सारे भारतवर्ष में घूम घूम कर बुद्ध का संदेश सुनाने लगे। एक बार तो लगभग सारा भारत ही बौद्ध-सा हो गया।

यह बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म की वर्ण व्यवस्था और अन्य अनेक दोषों को दूर करने में तो समर्थ हुआ पर स्वयं उसकी संस्कार-विधि आदि से अछूता न रह सका। धीरे-धीरे उसका प्रभाव बौद्ध भिक्षुओं पर पड़ता गया और उन्होंने हिन्दुओं की भोग-साधनाएँ अपना लीं। इतना ही नहीं बौद्ध धर्म को लोक-वर्ग के निकट लाने

का संचय इसीके अन्दर चलने लगा और कट्टर हीनयान के स्थान के स्थान पर उदार महायान का विकास हुआ जिसने उस समय के समाज में प्रचलित सभी प्रकार के आचार-विचार अथवा पूजा विश्वास-अन्ध-विश्वास को अपना लिया।

महायान में 'शून्यता' के रूप में परिवर्तन हुआ। बोधि चित्त ही 'बोधि चित्त' है। इसमें शून्यता और करुणा के संयोग से निर्वाण की स्थिति होती है। यही शून्यता और करुणा प्रज्ञा और उपाय हैं। इनके संयोग से निर्वाण के पर्याय महासुख की प्राप्ति होती है। शून्यता और प्रज्ञा—स्त्री प्रकृति है। करुणा उपाय—पुरुष है। दोनों का सामरस्य सम्मिलन सहज ही 'युगनद्ध' है।

इसमें दो अन्य सिद्धान्तों का भी योग है। अहंकृति के अनुसार ध्यान के अवसर पर ध्याता अपने को ध्येय रूप से देखता है। साधक स्वयं अपने को 'हेरुक' के रूप में सोचता है। इस प्रकार दोनों में अद्वय होता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार लौकिक स्त्री-पुरुष पारलौकिक स्त्री-पुरुष प्रज्ञा-उपाय के रूपान्तर हैं। साधक और मुद्रा—उपाय तथा प्रज्ञा के प्रतिरूप हैं। इस प्रकार उपाय—भगवान वज्रसत्त्व पुरुष है। प्रज्ञा भगवती मुद्रा कन्या या युवती पार्श्ववर्ती है। साधक का संयम वज्र और युवती का पद्म है। वज्र और पद्म का संयोग ही साधना है।

योग-सूत्र के सिद्धान्त भी हिन्दू और बौद्धों दोनों को समान रूप से मान्य हुए। इसके अनुसार प्रत्येक जीव का प्रतीक एक यंत्र के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यह यंत्र मानव के शरीर के अन्दर स्थित सूक्ष्म तन्त्रों को व्यक्त करता है। विभिन्न आसनों द्वारा शरीर के इन तन्त्रों को इस प्रकार बदला जा सकता है कि वे एक नवीन यंत्र का रूप धारण कर लें। यदि इन यंत्रों का अभ्यास किया जाए तो कुछ काल के बाद इन तन्त्रों को बदलने के कारण वह साधक उस नए रूप को प्राप्त कर लेता जो कि उस प्रकार के यंत्र द्वारा व्यक्त होता है। इन तन्त्रों पर अधिकार प्राप्त करने के दो मुख्य आसन हैं। एक तो पद्मासन और दूसरा काम-कला के आसन जिनकी संख्या ८४ मानी गई है। इन आसनों के अभ्यास द्वारा मनुष्य क्रोध राग द्वेष आसक्ति और अभिनिवेश से छूट कर कैवल्य प्राप्त कर लेता है।

काम-सूत्र का प्रवेश

काम-कला के आसनों के महत्व को स्वीकार करने पर उसके विवेचन की आवश्यकता पड़ी। पुराणों में काम को मोक्ष से कुछ कम महत्व है, अन्य से नहीं। अतः कामशास्त्र को धार्मिकता प्राप्त हुई और कामशास्त्र वेद माने जाने लगे। कामानन्द का ईश्वरानन्द का स्वरूप सहज ही माना जा चुका है और इस प्रकार से धार्मिक स्वीकृति मिलते ही कामशास्त्र भी धर्म में प्रविष्ट हो गई।

वैष्णव और शाक्तों का प्रवेश

दसवीं शताब्दी के आस पास साम्प्रदायिक देवताओं का ब्रह्म से तादात्म्य होने लगा । इसके फलस्वरूप तीन देवताओं को प्रमुखता प्राप्त हुई । विष्णु को परब्रह्म माननेवाले वैष्णव शिव को माननेवाले शैव और शक्ति को माननेवाले शाक्त हुए । शंकर के अद्वैत को आधार मानकर भी उसके विरोध में ही इन संप्रदायों का विकास हुआ । इन संप्रदायों ने भक्ति को भी महत्त्व दिया । इनमें इष्ट का स्वरूप मानवीय माना गया और उसकी अनुकम्पा से मुक्ति ।

शैव और शाक्त तन्त्रों में गुह्य-उपासनाएँ प्रचलित हुईं । परब्रह्म का स्वरूप शिव-शक्ति का समालिंगित रूप है । शैवों के 'सोम सिद्धांत' के अनुसार यही रूप आराध्य है । साधक भी पार्वती की प्रतिरूपा स्त्री से सानन्द आलिंगित होकर उपासना करता है ।

पाशुपतों की गणकारिका में 'साधन' के अन्तर्गत शृंगारण मंडन आदि अश्लील चेष्टाओं का विधान है । इससे तथा कौलों से संबद्ध निःश्वासतत्त्व-संहिता में गुह्य उपासना का विधान है । इस उपासना के चार विभाग हैं —(१) मूल सूत्र (२) आदि उत्तर सूत्र (३) प्रथम नय-सूत्र और (४) पूर्व गुह्य सूत्र । इसीके आधार पर कौलों में दो भेद—उत्तर कौल और पूर्व कौल हैं । उत्तर कौलों में साक्षात् युवती की देवी-रूप में पूजा होती है किन्तु पूर्व कौलों में उसके अंग-विशेष की अर्चना का ही विधान है । इन कौलों का ६ १० शताब्दी में व्यापक प्रचार था । ये नारी-रूप धारण कर देवी की उपासना करते थे ।

इन्हीं से संबद्ध 'त्रिपुर सुन्दरी' का सिद्धांत है । इसमें भी उपर्युक्त भावनाएं दिखाई देती हैं । इस मत में शिव-शक्ति के सामरस्य को 'सुन्दरी' कहते हैं । इसमें शक्ति-तत्त्व प्रधान है । सुन्दरी के रूप में कामेश्वर और कामेश्वरी दोनों का समन्वय है । यह सुन्दरी किशोरी या नित्य षोडशवर्षी है । इनकी उपासना के लिए साधक को किशोर रूप धारण करना अनिवार्य है ।

परब्रह्म के रूप में शिव-शक्ति के संगम की कल्पना के साथ ही मानव शरीर को संसार का रूप भी माना गया है । इस शरीर के मस्तिष्क में सहस्रार में शिव का निवास है तथा मूलाधार में शक्ति कुंडलिनी-रूप में रहती है । इस शक्ति का शिव से संगम कराना ही परब्रह्म को प्राप्त करना है ।

शिव-शक्ति के इस संयोग में हठयोग की साधना आवश्यक है । मानव शरीर के बाईं और दाहिनी ओर क्रमशः इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ हैं । मेरुदण्ड के भीतर से होकर सुषुम्णा नाड़ी जाती है । प्राण और अपान वायु को इसी सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा मिलाकर साधक ब्रह्म को प्राप्त करता है ।

शिव-शक्ति का यह स्वरूप पुरुष और स्त्री रूप में संसार में भी है। जिस प्रकार अंतिम सत्य शिव-शक्ति का संगम है उसी प्रकार लौकिक धरातल पर भी स्त्री-पुरुष का संगम उसी मूल सत्य का रूप है। अतएव स्त्री-पुरुष को यह साधना सम्मिलित होकर करनी चाहिए। शिव और शक्ति का यही प्रतीक लिंग और योनि है। दोनों का संयोग यज्ञ है।

परब्रह्म की इस प्राप्ति के लिए 'पंच मकार' की साधना है। इनके उपभोग के द्वारा साधक संसार के बन्धन से छूट जाता है क्योंकि यही जीव को बांधनेवाले हैं। इनका उपभोग गुरु के द्वारा ही सम्भव है। ये उस विष की भांति हैं जो कि उचित प्रयोग के द्वारा विष के प्रभाव को नष्ट कर सकते हैं पर इनका दुरुपयोग प्राणघातक भी हो सकता है। अतएव यह साधना गुह्य और जन-साधारण के लिए नहीं है।

वैष्णवों में गुह्य उपासना नहीं है। विष्णु और शक्ति का शृंगारिक रूप सातवीं शताब्दी से प्राप्त है। कहीं-कहीं गोपी भाव भी मिलता है पर शक्ति का प्राधान्य या जीवित स्त्री की उपासना नहीं मिलती। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये शैव-शाक्त से अप्रभावित रहे।

वैष्णवों ने भी ब्रह्म रस व लीला-हेतु दो रूप—कृष्ण और राधा माने। यह लीला वृंदावन के निकुंजों में हुई। कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं और राधा शक्ति। इनका पारस्परिक सम्बन्ध ही 'हित' है। सारी सृष्टि में 'हित-तत्त्व' ही व्याप्त है। सिद्ध देह से उस हित-तत्त्व का साक्षात्कार ही रस भक्ति है। इस वैष्णव भक्ति में पांचरात्रिक मंत्रमंत्रयुक्त पूजा का प्रत्याख्यान हुआ और युगलरूप—समालिंगित रूप से युगल उपास्यों का ध्यान एकमात्र साधना बनी। इसका बीज बौद्ध और शैव-शाक्त उपासना में ही है। अन्तर इस बात का रहा कि इन वैष्णवों ने युगल सरकार को शरीर के किसी चक्र में नहीं देखा। वैष्णव भक्तों के लिए कृष्ण की ऐतिहासिक परम्परा ही और वही आधार बनी। वृंदावन में राधा-कृष्ण का अहर्निश विहार ही ध्येय बना। सहजिया वैष्णवों ने वृन्दावन का प्रतीकात्मक अर्थ स्त्री का शरीर लिया पर अन्य वैष्णवों ने उसे नहीं माना। लौकिक वृन्दावन ही नित्य लीलास्थली है। वैष्णवों व राधातत्त्व में भी 'किशोरी या सुन्दरी' तत्त्व ही है। यथार्थ में मध्ययुगीन वैष्णव धर्म की शृंगारिकता में उपर्युक्त सभी तत्त्वों का सम्मिश्रण है। इसी दार्शनिक आधार पर धर्म में शृंगार की स्वीकृति हुई है।

शिल्प में शृंगार

पीछे हम धार्मिक शिल्प में प्राप्त काम की चर्चा भी कर आए हैं। उसकी व्याख्या पर भी यहां संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त होगा। यह कामात्मक

शिल्प विश्व-व्यापी है। इसके दो रूप हैं। एक तो वे रूप जिनकी शृंगारिकता अनुमानित है। उन्हें काम प्रतीक माना जाता है। बाह्य रूप में उनकी शृंगारिकता प्रकट नहीं है। दूसरे प्रकार के शिल्प में नग्न शृंगार अथवा संभोग की मूर्तियाँ हैं। इनके सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित बात नहीं पता चल सकी है। अनुमान और तर्क के आधार पर धर्म में इनकी स्थिति पर अनेक विचार हैं। उन्हीं पर नीचे संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

अंध विश्वास

इन मूर्तियों के सम्बन्ध में कुछ अंध-विश्वास प्रचलित हैं। इनके पीछे कोई तथ्य प्रतीत नहीं होता। भारतीय मन्दिरों के शृंगारशिल्प के सम्बन्ध में कुछ ऐसे ही प्रचलित विश्वास नीचे दिए जा रहे हैं —

(क) ये कल्याण-प्रद हैं

काम-चिह्न परम्परा से कल्याण प्रद माने जाते हैं। इसी कारण इनमें प्रतीकों का विकास हुआ है। मंदिरों के निर्माण के पीछे कल्याण की भावना विशेष रूप से रहती है। यह कल्याण मंदिर निर्माता और दर्शक दोनों के लिए लागू रहता है। अतएव मंदिरों में शृंगारिक शिल्प बना दिए गए हैं। यह अंध-विश्वास ही कहा जायगा। इसके पीछे कोई तर्क नहीं है। ऐसे भी अनेक मंदिर हैं जिनमें ऐसा शिल्प नहीं है।

(ख) ये प्राकृतिक व्याधि से रक्षा करते हैं

उड़ीसा में इस शृंगार-शिल्प का यह एक अन्य कारण मुझे बतलाया जाता है। कहा जाता है कि जिन मंदिरों में ऐसे शिल्प हैं वे प्राकृतिक व्याधियों से मुक्त रहते हैं। ऐसी प्राकृतिक व्याधियों में बिजली गिरना सबसे मुख्य है।

(ग) ये निर्माता के पाप के प्रायश्चित्त हैं

खजुराहो मन्दिर के काम-शिल्प के सम्बन्ध में यह प्रचलित है कि हेमवती नामक एक स्त्री ने चन्द्रमा से व्यभिचार कर लिया जिसके प्रायश्चित्त-रूप उसने एक यज्ञ किया और इसी सम्बन्ध में अपने दुष्कर्मों को लोक में प्रदर्शित करनेवाली प्रतिमाएँ देवालयों पर बनवाईं। इस कथा में कोई भी तथ्य प्रतीत नहीं होता। यह केवल एक ही स्थान के लिए लागू है सर्वत्र के लिए नहीं। यह भी विश्वास प्रचलित है कि नग्न स्त्री को देखने के पाप का प्रायश्चित्त इनको देखने से हो जाता है।

(घ) राक्षसों से रक्षा के लिए हैं

कुछ लोगों का विचार है कि ऐसी प्रतिमाओं के निर्माण से राक्षसादि की दुर्दृष्टि देवालयों पर नहीं पड़ती।

(घ) ये भक्तों की परीक्षा के लिए हैं

ये काम-मूर्तियाँ सामान्यतः बाहर के मंडपों पर बनाई जाती हैं। गर्भगृह के मंडप पर जहाँ देव-दर्शन होता है वहाँ इन्हें नहीं बनाते हैं। इनका उद्देश्य यह हो सकता है कि देव-दर्शन के पूर्व भक्त इन प्रतिमाओं को देखकर अपने हृदय की पवित्रता की परीक्षा कर लें। यदि इन्हें देखकर उसके हृदय में विकार उत्पन्न होता है तो वह अभी देव-दर्शन का अधिकारी नहीं है।

(च) ये कलियुग-व्यवहार के प्रदर्शक हैं

कलियुग में होनेवाले व्यवहार का पूर्व अनुमान कर इनका प्रदर्शन किया गया है।

उपर्युक्त सभी अंध विश्वास महत्त्वहीन हैं। इनसे इस शिल्प का कारण प्रकट नहीं होता है।

धार्मिक आधार

इन शिल्पों का आधार धार्मिक है। इस प्रकार की रचना के लिए उस समय धार्मिक स्वीकृति प्राप्त थी। यदि ऐसा न होता तो इनका निर्माण संभव न होता। इसके पीछे एक पुष्ट परम्परा थी जिसकी ओर उँगली उठाना सरल नहीं था।

धर्म में काम भावना सदा से रही। भारत में तो धार्मिक क्रियाओं को शृंगारिक शब्दावली और काम-क्रियाओं को धार्मिक रूप प्रदान करने की परम्परा रही है। धर्म में काम के इस स्वरूप को बौद्धों के महायान संप्रदाय और उससे बाद में विकसित रूप वज्रयान तंत्रयान मंत्रयान और सहजयान आदि से विशेष बल मिला। इन संप्रदायों की अपनी मान्यताएँ और साधनाएँ थीं जिनमें संभोग को विशेष स्थान था। भारत के शृंगार-बहुल मंदिरों का जिस समय निर्माण हुआ उस समय इन संप्रदायों का विशेष जोर था। ऐसा भी अनुमान है कि ये मंदिर अधिकतर इन संप्रदायों के केन्द्र थे। यदि ये उनके केन्द्र न भी रहे हों तो भी अपनी सर्वग्राही प्रवृत्ति के कारण हिन्दू धर्म ने सभी साधनाओं को अपने मंदिरों में स्थान देने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप इन मंदिरों में तत्कालीन धार्मिक भावना अपने पूर्ण रूप में व्यक्त हुई है।

इसके अतिरिक्त मंदिर के संबंध में भी भारतीय विचारधारा अपने ही प्रकार की है। मंदिर इष्टदेव का गृह और सृष्टि का प्रतीक है। सृष्टि की प्रत्येक क्रिया धार्मिक और ईश्वर की व्यापकता का बतलानेवाली है। ईश्वर की इसी व्यापकता की ओर इंगित करने के लिए ऐसे शिल्प निर्मित किए गए।

हिन्दू धर्म में चार पुरुषार्थ माने गए हैं। इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करना मानव का कर्तव्य है। मंदिर के विभिन्न अंग इन चारों पुरुषार्थों—अर्थ धर्म काम और मोक्ष को व्यक्त करनेवाले हैं। काम-पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति कामात्मक शिल्प द्वारा की गई है।

शिल्पकला की परम्परा

इसी प्रसंग में शिल्पकला की परंपरा का अवलोकन कर लेना चाहिए। देवालय और रथ निर्माण का उल्लेख 'शिल्प रत्नाकर' तथा 'रथ-शास्त्र' में किया गया है। इनके अनुसार देवालय तथा रथों के चार विभाग माने गए हैं। सबसे नीचे का विभाग अर्थपुरुषार्थ के लिए निश्चित है। दूसरे भाग में धर्म पुरुषार्थ दिखाते हैं। इसके ऊपर तीसरा भाग कामपुरुषार्थ के लिए है और सबसे ऊपर का भाग मोक्षपुरुषार्थ का है। प्रत्येक भाग में उस पुरुषार्थ से संबंधित दृश्य दिखलाना चाहिए। इस परंपरा के कारण भी काम का प्रवेश अनायास ही शिल्प में हो गया।

भारतीय शिल्प में काम के कारणों के अंतर्गत जो धार्मिक प्रचार किया गया है उसमें काम भावना की स्पष्ट स्वीकृति है। यही काम-भावना अन्य देशों के धार्मिक शृंगारात्मक शिल्प के पीछे भी है। कहीं यह स्पष्ट और कहीं प्रतीक रूप में व्यक्त होती है। ईसाई धर्म में भी गिरजे के संबंध की भावना शृंगारिक है। जिस समय कोई स्त्री 'नन्' बनती है वह गिरजे की वधू या ईसा की वधू मानी जाने लगती है। यथार्थ में 'नन्' बनना उसके गिरजे से या ईसा से विवाह है। जिस समय पुरुष पादरी बनता है तो गिरजे का स्वरूप नारीमय मानकर वह उसका पति बनता है तथा उससे उसका विवाह होता है जिसका प्रतीक उसकी धार्मिक अंगूठी है। इसी धार्मिक शृंगारिकता के कारण ही गिरजों के शिल्प में भी शृंगारिकता आ गई है। यह शृंगारिकता यहाँ तक बढ़ गई है कि स्त्रियों की नग्न मूर्तियों का दर्शन शुभ माना जाने लगा और ऐसी नग्न मूर्तियाँ गिरजाघरों के ऊपर बनाई जाने लगी थीं। कभी-कभी इस नग्नता को छिपाने के लिए विभिन्न प्रतीकों का उनके स्थान पर प्रयोग किया गया।

धर्म में काम-तत्त्व की इस स्वीकृति ने मध्ययुगीन शृंगार की पृष्ठ-भूमि का काम किया। इसी पृष्ठ-भूमि पर भक्ति-साहित्य के शृंगार का निर्माण हुआ। उसके उन्मुक्त शृंगार-वर्णन का रहस्य धर्म में काम की इसी स्वीकृति में निहित है।

तृतीय अध्याय

भक्ति-शृंगार की पीठिका

धर्म और विशेषकर भारतीय हिन्दू धर्म में काम की स्वीकृति पिछले
ध्यायों में दिखलाई जा चुकी है। इस स्वीकृति का प्रभाव भक्ति-साहित्य पर
ड़ा होगा किन्तु इससे भी अधिक भक्ति-साहित्य को प्रभावित करनेवाली काम
की वह परंपरा है जो कि सिद्धनाथ सूफियों और वैष्णवों में भक्ति-काल के पूर्व
क अत्यंत जीवंत रूप में प्रचलित थी। इसका संकेत पीछे किया जा चुका है।
भक्ति-शृंगार की पीठिका रूप में इसका विहंगम अवलोकन आवश्यक है।

सिद्ध और नाथों में काम की परंपरा

सिद्ध बौद्ध धर्म की परंपरा में आते हैं। उत्तर बौद्ध धर्म में हीनयान और
महायान दो शाखाएँ हो गई थीं। महायान शाखा आगे चलकर मन्त्रयान और
वज्रयान में विकसित हुई। इसी वज्रयान शाखा के प्रचारकों में चौरासी सिद्धों
का नाम आता है। यहाँ तक पहुँचकर बौद्ध धर्म इतना विकृत हो गया था कि
उसे पहचानना भी कठिन है। इन सिद्धों ने प्रज्ञा और उपाय द्वारा निर्वाण की
उपलब्धि मानी है। प्रज्ञा और उपाय के मिलन की अवस्था 'युगनद्ध' कहलाती है
और यह 'महासुख' का प्रतीक है। आगे चलकर प्रज्ञा स्त्री का और उपाय पुरुष
का प्रतीक बन गया तथा संभोग-सुख ही 'महासुख' माना जाने लगा। इस प्रकार
सिद्धों में शृंगार की सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों रूपों में स्वीकृति थी।
इन्होंने अपने पदों में इस महासुख का उल्लेख शृंगार रूपकों द्वारा किया है।

नाथ संप्रदाय के कुछ आचार्यों की गणना सिद्धों में भी होती है। इसलिए
कुछ लोग अनुमान करते हैं कि नाथ पंथ का विकास सिद्धों से हुआ है। किंतु नाथ
पंथ की मूल भावना सिद्धों से भिन्न है। ये शिव को आदि नाथ मान कर अपने
विकास का सिद्धों से पृथक स्रोत प्रमाणित करते हैं। इन नाथों में सिद्धों की-सी
अतिशय शृंगारिकता नहीं थी। इन्होंने नैतिकता का ध्यान रखा। इन्होंने हठ-
योग को अपनाया और सहस्रार में शिव तथा मूलाधार में शक्ति-कुण्डलिनी की
स्थिति मानी। हिन्दी ज्ञानाश्रयी शाखा के संत कवियों पर इसका प्रभाव पड़ा।
इन्होंने भी सामान्य रूप शृंगार की अवहेलना की किंतु संभवतः सूफी और वैष्णवों

के प्रभाव के कारण प्रेम को बड़ा महत्त्व दिया। इस प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए ग्रामामयी भक्तों में शृंगार की सब्दावली ली है पर आलंबन की निराकारिता तथा आध्यात्मिक मिलन वियोग की अभिव्यक्ति के कारण यह सब्दावली रूपक होकर ही रह गई है। इनमें शृंगार रस के कुछ अवयव मिल सकते हैं पर शृंगार का वह विस्तृत विवेचन नहीं मिलता जो कि सूफी और वैष्णव कवियों में प्राप्त है। इन्होंने प्रिय-मिलन के आनन्द-वर्णन में सिद्ध और नाथों की सब्दावली तो ली पर उसमें स्थूलता नहीं उत्पन्न होने दी। नाथों का कुछ प्रभाव सूफी भक्तों पर भी पड़ा जिसके कारण उनमें अनेक योग-परक उल्लेख आ गए हैं। सूफियों का प्रेमी अपने प्रेम-पंथ में योगी का ही रूप धारण करता है। यह नाथों के प्रबल प्रभाव का द्योतक है।

सूफियों में काम-तत्त्व

सूफी धारा का मूल स्रोत विदेशी है। यह इस्लाम की एक शाखा है जिसमें मानसिक प्रेम को ही महत्त्व दिया गया है। इस्लाम के चारों खलीफाओं अर्थात् अबूबकर उमर उसमान और अली के जमाने में सूफियों का विरोध न था तथा यह संप्रदाय क्रमशः बगदाद सीरिया और मिस्र आदि तक फैल गया था। इस संप्रदाय में अनेक प्रसिद्ध संत हो गए हैं जिन्होंने प्रेम के गीत गाए तथा अपने विचारों पर प्रार्थों का उत्सर्ग भी कर दिया। प्रेम के ऐसे गीत गानेवालों में 'रबिया' का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। यह बसरे की रहनेवाली स्त्री थी। इसके अतिरिक्त मौलाना रूम अत्तार, हाफिज तथा जामी आदि भी ऊँचे दर्जे के सूफी कवि हुए हैं। कुछ लोग उमर खय्याम की रुबाइयों में व्यक्त सुरा-सुन्दरी-प्रेम को भी सूफी भावनाओं से पुष्ट बताते हैं। इस प्रकार सूफी धर्म प्रेम की भित्ति पर खड़ा हुआ है और इसने इश्क-मजाजी द्वारा इश्क-हकीकी को व्यक्त करने का प्रयत्न किया।

यही सूफी धारा मुहम्मद बिन-कासिम के साथ भारतवर्ष आई। यहाँ के दार्शनिक वातावरण में जिसमें अद्वैत हठयोग राजयोग और शृंगार की धाराएं प्रवाहित हो रही थीं यह सूफी धर्म पनपा। अपनी सहिष्णुता के कारण सूफी भक्त भारतीय धार्मिक वातावरण को बड़े अंश में अपना सके और जन-संपर्क के द्वारा भारतीय ग्रामीण जीवन के सभी अंगों को निकट से जान सके। इन्होंने अपनी मसनवी काव्य शैली द्वारा भारतीय लोकजीवन की प्रिय प्रेम-कथाओं को संगृहीत कर उन्हें भारतीयों के समक्ष रखा। अपने धार्मिक सिद्धान्तों को व्यक्त करनेवाली ऐसी अनेक प्रेममयी लोककथाएं उन्हें मिल गईं जिन्हें उन्होंने अत्यंत सहानुभूति का ढंग पर स्वीकार किया। ऐसी ही कहानियाँ पद्मावत चित्रावली आदि में प्राप्त हैं।

इस प्रकार सूफी संतो के लिए अपने साहित्य में शृंगार को स्वीकार करने

में कोई कठिनाई नहीं हुई। उनके अपने धर्म में इसकी स्वीकृति थी, भारतीय धार्मिक वातावरण भी इसके अनुकूल था तथा जिस माध्यम (लोककथा) को इन्होंने अपनाया वह इससे ओत-प्रोत था।

वैष्णव धर्म में काम-तत्त्व

संपूर्ण भक्ति-काव्य पर वैष्णव धर्म का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। भक्ति काव्य का मूल प्रेरणा-स्रोत यही है। इसमें काम-तत्त्व की स्वीकृति अत्यंत महत्त्वपूर्ण रूप में हुई है। उसीका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जा रहा है।

आलवार भक्तों की शृंगार भक्ति

भक्ति का प्रादुर्भाव दक्षिण में माना जाता है। तमिल प्रांत में ईसा की दूसरी शताब्दी से ही भक्तगण भगवान के प्रति शृंगारिक भक्ति कर रहे थे। ये भक्त 'आड़वार' या 'आलवार' कहलाते हैं। इनके प्रेम भक्तिपरक गीतों का संग्रह 'प्रबंधम्' नाम से प्रसिद्ध है। इन आलवारों की संख्या बारह है।

ये आलवार विष्णु के परम भक्त थे। इनमें से अधिकतर कृष्ण-स्वरूप के उपासक थे और कृष्ण-लीलाओं से पूर्णत: परिचित थे। इनकी भक्ति वात्सल्य, सख्य दास्य और माधुर्य भाव की थी। इन आलवारों की सबसे बड़ी विशेषता इनकी 'गोपी भाव' की भक्ति थी। ये ही गोपी-भाव' की भक्ति के प्रवर्तक थे। 'गोपी भाव' में भक्त अपना तादात्म्य यशोदा कृष्ण-सखा और गोपियों से करता है। यही भावना चैतन्य राधावल्लभ हरिदासी आदि संप्रदायों में विशेष रूप से विकसित हुई। इस तादात्म्य की रोचक कथा राजा कुलशेखर के सम्बन्ध में प्रचलित है। ये स्वयं आलवार थे। राम उनके इष्ट देव थे। राम-कथा सुनते-सुनते वे इतने भाव-विभोर हो उठते थे कि राम रावण युद्ध के प्रसंग में वे अपनी सेना को राम के सहायतार्थ सुसज्जित करने का आदेश देने लगते थे।

माधुर्य भक्ति की दृष्टि से आलवारों में शंठगोप शठकोप (नम्मालवार) तथा तिरुमंगय महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने कृष्ण प्रेमिकाओं—गोपियों से अपना तादात्म्य किया और कृष्ण प्रेम के मिलन और विरह के हृदयस्पर्शी गीत गाए। कृष्ण-प्रेम में ये इतने विभोर हो जाते थे कि समस्त सात्त्विक भावों का इनमें उदय हो जाता था। इन्होंने आध्यात्मिक प्रेम को पूर्णत: मानवीय धरातल पर व्यक्त किया है। भक्त शठकोप ने ईश्वर द्वारा अपने प्रेम की तुष्टि पूर्णत: लौकिक धरातल पर मानी है।

विभिन्न आलवारों की पारस्परिक प्रेम भक्ति में सूक्ष्म अंतर है। यामुनाचार्य ने 'मायवर् रहस्यम्' में इस अंतर को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार तिरुमंगय आलवार का प्रेम प्रिय से नित्य-संयोग के अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति

करनेवाला है। नम्मालवार का प्रेम प्रिय को प्राप्त करने में प्रयत्नशील नायिका का है। इसमें प्रिय मिलन की तीव्र अभिलाषा हृदय को निरंतर आलोड़ित करती रहती है। नम्मालवार ने इस प्रेम को 'तुवमिल' अथवा 'मिलड्डुमिडुमी' की संज्ञा दी है। शठकोप ने इस प्रेम में दूती प्रसंग द्वारा नवीनता उत्पन्न की है। पुराणों में दूती का उल्लेख नहीं है। शठकोप ने दूती द्वारा कृष्ण के सौंदर्य और यौवन का उल्लेख कर नायिका के हृदय में मिलनेच्छा उत्पन्न की है। नायिका अभिसार करती है पर कृष्ण संकेत-स्थल पर नहीं आते हैं। ऐसी विप्रलब्धा नायिका के रूप में शठकोप ने अपने मनोद्‌गार प्रकट किए हैं।

आलवारों का प्रेम एकपक्षीय नहीं है। इष्टदेव भी भक्त की ओर आकृष्ट हैं और उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार से भक्ति के मूल स्रोत में ही शृंगार की स्वीकृति है तथा गोपी-भाव एवं दूती प्रसंग के बीज सन्निहित थे जिनका पूर्ण विकास भक्ति-कालीन शृंगार में हुआ है।

वैष्णवाचार्यों द्वारा काम की स्वीकृति

आलवारों के बाद भक्ति के क्षेत्र में शंकर और उनके अद्वैत का विरोध करनेवाले चार वैष्णवाचार्य—रामानुज, मध्व, निम्बार्क और विष्णुस्वामी का आविर्भाव होता है। इन्होंने वैष्णव आन्दोलन को पुष्ट दार्शनिक आधार प्रदान किया और इनके शिष्य-वर्ग इस धर्म को उत्तर में लाए। परम अद्वैतवादी शंकर ने अपने कुछ स्तोत्रों में शृंगारिक उल्लेख किए हैं। रामानुजाचार्य ने राम भक्ति का प्रचार किया। आलवारों के बड़े भक्त थे। उन्होंने लक्ष्मी-नारायण की उपासना चलाई और कृष्ण की पौराणिक लीलाओं की उपेक्षा की। उनकी भक्ति दास्यरूप एवं दास्य भाव की थी। कहा जाता है कि उनके शिष्य पाराशर भट्ट ने राम की दाम्पत्य रूप में उपासना की और राम की भोग भूमि अयोध्या का दिव्य वर्णन किया। मध्व, निम्बार्क और विष्णुस्वामी ने कृष्ण की भक्ति स्वीकार की और उनकी पौराणिक लीलाओं को स्वीकार किया। इन लीलाओं में उनकी गोपियों के साथ की शृंगार-लीलाएँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने दार्शनिक स्वीकृति के साथ शृंगार को धर्म का अंग बना दिया जिसके कारण भक्ति-संप्रदायों में शृंगार के आगमन का मार्ग उन्मुक्त हो गया।

पुराणों में शृंगार का स्वरूप

हिन्दी भक्ति-काव्यों में रामायण, महाभारत और पुराणों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। यथार्थ में हिन्दू धर्म के लोकरंजक रूप के यही स्रोत हैं। इनमें महाभारत और रामायण में शृंगार के संकेतों का उल्लेख हम पीछे कर आए

है। डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह ने अपने ग्रन्थ 'राम भक्ति में रसिक प्रसंदाय' में रामायण के शृंगारिक स्थलों का विस्तृत उल्लेख किया है।

रामायण और महाभारत से कहीं अधिक विस्तार से हिन्दू-देवी-देवताओं की शृंगारिक लीलाएँ पुराणों में प्रकट हुई हैं। इन पुराणों में से कुछ तो काफी प्राचीन हैं, और कुछ तो ठीक भक्तिकाल के पूर्व तक के प्रतीत होते हैं। जो भी इनका समय रहा हो इतना निश्चित है कि ये सभी भक्ति-काल के पूर्व में पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुके थे।

भक्तिकालीन साहित्य में कृष्ण को छोड़कर राम और अन्य देवी-देवताओं के शृंगार का उल्लेख नहीं-सा ही है। पुराणों में प्राप्त इनकी शृंगार-कथाओं का महत्त्व इतना ही है कि ये भक्ति में शृंगार की स्वीकृति देती हैं। इस साहित्य में मुख्य रूप से कृष्ण की शृंगार-लीलाएँ हैं और इन लीलाओं पर पुराणों के कृष्ण-चरित का बड़ा प्रभाव पड़ा है।

पुराणों में कृष्ण-चरित्र का विकास एक रोचक एवं विस्तृत विषय है। उसका विस्तार से अध्ययन अपेक्षित नहीं है। यहाँ पर तो कृष्ण-लीला के कुछ महत्त्वपूर्ण उल्लेखों को ही देना अभीष्ट है।

महाभारत में कृष्ण की शृंगार-लीलाओं का अभाव है। संभव है कि महाभारत की रचना के समय तक गोपी-कृष्ण की प्रेम-कथाओं का निर्माण न हुआ हो। यदि ऐसा न होता तो कृष्ण के दुर्गुणों की परिगणना कराते समय शिशुपाल उनके गोपी-संबंध का उल्लेख करना न भूलता।

विष्णुपुराण संभवतः प्राचीनतम पुराण है। इसमें कृष्ण-लीला का विस्तृत उल्लेख है किन्तु कृष्ण विष्णु के अंशावतार हैं। देवात्माएँ गोपियों के रूप में विष्णु के विहारार्थ अवतीर्ण हुई।

कृष्ण गोप-गोपियों के प्रिय हैं किन्तु इसका मुख्य कारण उनकी वीरता एवं परोपकार वृत्ति है। विष्णुपुराण के प्रारंभिक स्थलों पर कालिय-दमन के अवसर पर गोपियों के विलाप में कृष्ण के प्रति शृंगारिक प्रेम का संकेत मिलता है। विलाप करती हुई गोपियाँ कहती हैं

> दिवसः को विना सूर्य विना चंद्रेण का निशा।
> विना वृषेण का गावो विना कृष्णेन को व्रजः ॥५-७-२७

सूर्य के बिना दिन कैसा ? चन्द्रमा के बिना रात्रि कैसी ? सांड़ के बिना गौएँ क्या ? ऐसे ही कृष्ण के बिना व्रज में भी क्या रखा है।

यहाँ 'विना वृषेण का गावो' उपमा मात्र ही नहीं है। इसके पीछे यह स्पष्ट संकेत है कि कृष्ण केवल परोपकारी के नाते ही प्रिय नहीं हैं, बल्कि प्रिय

प्रकार बिना सांड़ के गाय कामार्त रह जाती है उसी प्रकार गोपियों की कामाग्नि शांत करनेवाले एकमात्र कृष्ण ही हैं और उनके बिना यह अग्नि शांत नहीं हो सकेगी तथा उनका जीवन व्यर्थ चला जाएगा। कृष्ण और गोपियों के काम-संबंध की यह प्रथम स्वीकृति है।

विष्णुपुराण के तेरहवें अध्याय में रास का प्रसंग है। कृष्ण की मुरली के आकर्षण से गोपियाँ रास-मंडप में आ जाती हैं। वहाँ कृष्ण उन्हें नहीं मिलते हैं। उनके तथा एक अन्य गोपी के पद-चिह्नों को देख कर गोपियाँ अनुमान करती हैं कि वे अकेले नहीं हैं तथा उन्होंने बाद में उस सौभाग्यशालिनी गोपी को भी त्याग दिया था। गोपियाँ यमुना तट पर कृष्ण-लीलाएँ करने लगती हैं। उसी समय कृष्ण प्रकट होते हैं और रास-मंडल का निर्माण करते हुए रास करते हैं।

गोपी-प्रेम का दूसरा उल्लेख कृष्ण के मथुरा-गमन के अवसर पर गोपियों के विलाप में है। इस विलाप में नगर-वनिताओं के रूपाकर्षण में फँसकर उन्हें भूल जाने का विशेष उल्लेख है।

विष्णुपुराण में कुब्जा का उल्लेख नहीं है। हाँ चौबीसवें अध्याय में बलराम के व्रजागमन पर गोपियाँ उन्हें उपालंभ देती हुई उनका मथुरा की नागरियों के आकर्षण में फँसने का उनके लिए अपने माता पिता बन्धु-बांधव तथा पति के त्याग का उल्लेख कर हताश होकर कहती हैं कि हमें उनसे क्या मतलब। जब उनको हमारे बिना निभ गई है तो हम भी उनके बिना निभा ही लेंगे। निराशा अपने सबसे करुणरूप में यहाँ व्यक्त हुई है।

भक्तों द्वारा लिए गए लगभग समस्त प्रसंग विष्णुपुराण में हैं, किन्तु उनका वर्णन संयमित है। रासादि के वर्णनों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है मानो रचयिता इस बात से परिचित है कि उसके वर्णन सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण कर रहे हैं। यही कारण है कि समस्त संभावित नियंत्रण का उसने प्रयोग किया है। परन्तु जहाँ कहीं गोपियों के विरह का प्रसंग है उसकी गोपियाँ न केवल मुखर ही हैं वरन् कृष्ण-प्रेम में इस तरह पग चुकी हैं कि मर्यादाओं के प्रति सजग होते हुए भी उनको तोड़ने से वे चूकती नहीं हैं। उनके उपालंभ हृदय पर सीधा आघात करनेवाले हैं और उनकी पीड़ा सभी को प्रभावित करती है।

विष्णुपुराण में चीर-हरण प्रसंग नहीं है।

महाभारत के परिशिष्ट हरिवंशपुराण में रास-लीला का संक्षिप्त उल्लेख है। रास-लीला प्रसंग में गोपियों की रति-प्रियता तथा कृष्ण के साथ

उनके रमण का ही उल्लेख है। इसमें कुब्जा का भी संक्षिप्त उल्लेख है, तथा कृष्ण के एक बार पुन गोवर्द्धन आने का भी कथन है। कृष्ण नन्द-यशोदा से कुशल समाचार पूछते हैं किन्तु गोपियों के संबंध में वे मौन रहते हैं।

पद्मपुराण के उत्तर खंड में कृष्ण-लीला का संक्षिप्त उल्लेख है किन्तु उनकी शृंगारिक लीलाओं का नितांत अभाव है। इसके पाताल खंड में अवश्य वृन्दावन कृष्ण और राधा के माहात्म्य का वर्णन है। विंटरनित्स के मतानुसार ये अंश बाद में जोड़े गए हैं। इसके अनुसार वृन्दावन ही भगवान का प्रियतम धाम है। यह गुप्त उत्तम से भी उत्तम और दुर्लभ से भी दुर्लभ है। यह तीनों लोकों में परम गुप्त स्थान है। गोपियों का चित्त चुरानेवाले कृष्ण की प्राणवल्लभा श्रीराधा हैं। वे आद्याप्रकृति हैं। भगवान कृष्ण के साथ वे सुवर्ण सिंहासन पर विराजती हैं। कृष्ण प्रकृति की अंशभूता अष्ट सखियों से सेवित हैं। वृन्दावन-अधीश्वरी चन्द्रावली भी उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं। श्री राधा और चन्द्रावली के दक्षिण भाग में सहस्र श्रुति कन्याएँ तथा उनके वाम भाग में दिव्य वेषधारिणी देव कन्याएँ रहती हैं। वे प्रणय-चातुरी में निपुण निस्संकोच कृष्ण प्रेम में मग्न तथा उनके अंग-संग को उत्सुक रहती हैं।

कृष्ण का द्वारका से वृन्दावन आने का भी उल्लेख है। कृष्ण तीन रात्रि गोपांगनाओं के साथ विहार करते हैं।

इसी खण्ड में राधा को कृष्ण की आदिम शक्ति महालक्ष्मी आदि माना गया है। इन्हीं को सब कुछ समर्पण करना चाहिए। सब उपाय छोड़ कर जो श्रीराधा का आश्रय लेता है वह उन्हें (कृष्ण) अपने वश में कर लेता है। यह रहस्य स्वयं कृष्ण ने महादेव को बतलाया है।

ऐसा अनुमान है कि राधा-सम्बन्धी अंश प्रक्षिप्त हैं।

भागवत में कृष्ण के प्रेमी स्वरूप ने पूर्ण महत्व प्राप्त कर लिया है। पूर्व पुराणों के संक्षिप्त प्रसंगों का यहाँ यथेष्ट विस्तार है तथा अनेक नए प्रसंगों की उद्भावना भी है। यही कारण है कि समस्त वैष्णव सम्प्रदायों का यह सब श्रेष्ठ प्रमाण-ग्रन्थ माना गया है।

गोपियों का कृष्ण के प्रति आकर्षण बचपन से ही था किन्तु काम भाव का प्रथम संकेत धेनुकासुर प्रसंग में प्रथम बार प्रकट होता है। कृष्ण के लौटने पर गोपियों की क्रियाएँ केवल वात्सल्यमय नहीं हैं। भागवतकार कहते हैं— गोपियों ने अपने नेत्ररूप भ्रमरों से भगवान के मुखारविंद का मकरन्द रस पान करके दिन भर के विरह की जलन शांत की और भगवान ने भी उनकी

हाव भरी हँसी तथा विनय से युक्त प्रेम भरी तिरछी चितवन का सत्कार करके वन में प्रवेश किया। शरद् ऋतु में शरद् की शीतल वायु सभी की तपन शांत करती है परन्तु गोपियों की तपन और भी बढ़ जाती है क्योंकि उनका चित्त उनके हाथ में नहीं था श्रीकृष्ण ने उसे चुरा लिया था।

भागवत में वेणुगीत चीरहरण रास युगल गीत कृष्ण का मथुरागमन कुब्जा प्रसंग और भ्रमरगीत शृंगारिक प्रसंग हैं।

वेणुगीत में गोपियाँ कृष्ण की वंशी-ध्वनि सुनकर रूप-गुण और वंशी-ध्वनि के प्रभाव का वर्णन करती हैं। वंशी-ध्वनि सुनते ही उन्हें कृष्ण की याद हो आती है और वे उनके ध्यान में मग्न हो जाती हैं। गोपियाँ कृष्ण के रूप पर मुग्ध होनेवाले सभी लोगों की प्रशंसा करती हैं।

बीसवें अध्याय में चीर-हरण प्रसंग है। एक दिन जब गोपियाँ यमुना में नग्न स्नान कर रही थी कृष्ण ने उनके वस्त्र उठा लिए और कदंब पर चढ़कर उनसे परिहास करने लगे। गोपियों को पूर्ण नग्न कर के उनको वस्त्र लौटाते हैं किन्तु कामार्त गोपियाँ वस्त्र पहनकर भी वहाँ से नहीं हटती हैं। कृष्ण शरद रात्रि में रास करने का वचन दे कर उन्हें विदा करते हैं।

रास-लीला का विस्तृत वर्णन २९ से लेकर ३३ तक के पाँच अध्यायों में है।

प्रथम अध्याय में कृष्ण वंशी द्वारा गोपियों का रास के लिए आह्वान करते हैं। उनके आने पर कृष्ण उनसे परिहास करते हैं उन्हें घर की याद दिलाते हैं तथा लौट जाने का उपदेश देते हैं। दुःखित गोपियाँ उन्हें अपना सर्वस्व बतलाती हैं। इसके बाद कृष्ण उनके साथ क्रीड़ा करने लगते हैं। वे गोपियों के समस्त काम स्थलों का स्पर्श कर तथा आलिंगन चुंबन नखक्षत केश-कर्षण आदि के द्वारा उनका काम प्रदीप्त करते हैं तथा उनके साथ क्रीड़ा करते हैं। इसी समय गोपियों को कृष्ण-प्रेम का गर्व होता है और वे अन्तर्धान हो जाते हैं।

द्वितीय अध्याय में विरहिणी गोपियों का विलाप तथा कृष्ण-लीलाओं के अनुकरण का उल्लेख है। इसी समय कृष्ण के पद चिह्नों के साथ-साथ एक अन्य गोपिका के पद-चिह्नों को देखकर वे उसके भाग्य की सराहना करती हैं। उधर कृष्ण के साथ जानेवाली गोपिका को भी गर्व हो जाता है। फलस्वरूप कृष्ण उसका भी परित्याग कर देते हैं। गोपियों को वह त्यक्ता गोपी मिल जाती है और वे सभी कृष्ण के गीत गाती हुई रमण रेती लौट आती हैं।

तृतीय अध्याय में गोपिका-गीत है। गोपियाँ कृष्ण के गुणों का गान अपने विरह का वर्णन तथा उनके प्रकट होने की प्रार्थना करती हैं।

चतुर्थ अध्याय में कृष्ण प्रकट होते हैं। गोपियों का विरह दूर होता है। गोपियाँ कृष्ण के साथ प्रेम क्रीड़ा करती हैं। कृष्ण बतलाते हैं कि उनके प्रेम को और भी सुदृढ़ करने के लिए ही वे छिप गए थे। वे अपने को गोपियों के प्रेम के ऋणी भी बतलाते हैं।

पंचम अध्याय में महारास प्रारम्भ होता है। श्रांत होने पर जल-विहार होता है। प्रात रास समाप्त होता है। इसके बाद शुकदेवजी कृष्ण की इस शृंगारिक लीला के सम्बन्ध में परीक्षित् के संशयों का समाधान करते हैं।

उन्तालीसवें अध्याय में राम-कृष्ण के मथुरा-गमन का वर्णन तथा गोपियों के विरह का उल्लेख है। गोपियों को इस बात का अत्यधिक दुःख है कि जिन कृष्ण के लिए उन्होंने घर-द्वार, स्वजन-सम्बन्धी पति-पुत्र आदि छोड़े वही आज उनकी ओर देख तक नहीं रहे हैं। उन्हें मथुरा की स्त्रियों के भाग्य पर ईर्ष्या है और यह भय भी है कि चतुर नागर युवतियों में कृष्ण फँस भी जाएँगे।

बयालीसवें अध्याय में कुब्जा-प्रसंग है। अड़तालीसवें अध्याय में कृष्ण कुब्जा को दिए गए वचन को पूरा करते हैं। वे उसके यहाँ रह कर क्रीड़ा करते हैं।

छियालीसवें तथा सैंतालीसवें अध्याय में सुप्रसिद्ध भ्रमर-गीत का प्रसंग है। बयासीवें अध्याय में सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में कृष्ण की गोपियों से भेंट होती है जहाँ वे उन्हें आत्मज्ञान का उपदेश देते हैं।

उपर्युक्त पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि भागवत में आते-आते कृष्ण-लीला में नवीन प्रसंग आ गए। इन प्रसंगों में यथेष्ट शृंगारिकता है। इन लीलाओं में सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण है और नैतिकता की दृष्टि से ये अनुचित हैं। अपने हृदय-स्पर्शी और मनोहर गुण तथा रोचक शैली और शृंगारिक प्रसंगों की भरमार के कारण ही भगवान् वैष्णवों का प्रमुख ग्रन्थ हो गया। इसकी इतनी महत्ता बढ़ी कि वेदों से भी अधिक इसे महत्त्व दिया जाने लगा। समस्त वैष्णव साहित्य पर भागवत् की छाप स्पष्ट और गहरी है।

आधुनिक वैष्णव सम्प्रदायों में भागवत के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण पुराण ब्रह्म वैवर्त है। शृंगारी वैष्णवता अपने उन्मुक्त रूप में इसी पुराण में व्यक्त हुई है। ऐसा अनुमान है कि १६वीं शताब्दी के कुछ ही पूर्व की यह रचना है। ब्रह्मवैवर्त में कृष्णलीला के रूप का कुछ विस्तृत अध्ययन रोचक होगा।

ब्रह्मवैवर्त के प्रथम खण्ड में गोकुल का वैभवशाली वर्णन है। गोलोक त्रिलोक से परे नित्यधाम है। वहाँ कृष्ण रहते हैं। उनकी वयस किशोर है तथा वे रासेश्वर हैं। गो गोप और गोपी सभी नित्य हैं।

राधा के संबंध में ब्रह्मवैवर्त में अपनी कल्पना है। रास-मण्डल में कृष्ण के वाम पार्श्व से एक कन्या का आविर्भाव हुआ। वह कन्या दौड़कर फूल ले आई और उसने प्रभु के चरणों में अर्घ्य दिया। गोलोक में रास के समय उत्पन्न होते ही दौड़ने के कारण उस कन्या का नाम राधा पड़ा। वह कृष्ण की प्राणेश्वरी देवी हुई। वह षोडशी नवयौवना पीन-पयोधरी बन्धूक पुष्प से भी सुन्दर रक्त ओष्ठों वाली मुक्तापंक्ति से भी सुन्दर दन्तावली वाली साक्षात् सुन्दरता की सीमा आभूषणादि तथा विविध शृंगारादि से विभूषित सुन्दर नख सुन्दर जंघा तथा बृहत् नितंबवाली है। उसके रोमकूपों से गोपियाँ उत्पन्न हुई हैं।

ब्रह्मवैवर्त में राधा-कृष्ण के जन्म की कथा भी एक नवीन और रोचक रूप में है। वह इस प्रकार है —

कृष्ण का विरजा नामक एक गोपी पर प्रेम था। एक दिन राधा को छोड़कर वे विरजा के साथ विहार कर रहे थे। राधा को इसकी सूचना मिली और वे तत्काल अपने दिव्य रथ पर बैठकर विरजा के यहाँ चलीं। विरजा के यहाँ द्वारपाल रूप में श्रीदामा थे। उनके रोकने पर भी वे बलपूर्वक अन्दर चली गईं। अन्दर पहुँचकर उन्होंने क्या देखा कि कृष्ण अन्तर्धान हो गए हैं एवं विरजा भय के कारण नदी बन गई है। राधा लौट आईं। कृष्ण ने विरजा को पुन: उसका पूर्व रूप प्रदान किया एवं उसके साथ सम्भोग किया। ऋतुमती होने के कारण उसके सात पुत्र हुए। एक बार छोटे पुत्र के कारण उसका कृष्ण से वियोग हुआ। वह अतृप्त रह गई। क्रोधवश उसने छोटे पुत्र को लवण सागर होने का तथा अन्य पुत्रों को अन्य प्रकार के सागर होने का शाप दिया। इसके बाद कृष्ण आए और दोनों ने खूब सम्भोग किया। कृष्ण ने विरजा को वर दिया कि वे नित्य सम्भोग किया करेंगे। राधा को यह सूचना मिली। रुष्ट होकर वे कोपभवन में चली गईं। कृष्ण उन्हें मनाने आए। राधा ने कृष्ण की भर्त्सना की और मानुषी योनि में भारत में जाकर जन्म लेने का शाप दिया। इतना कहकर वे कृष्ण को महल से निकाल देने का आदेश देती हैं। यह सुनकर कृष्ण के मित्र श्रीदामा रुष्ट हो जाते हैं। राधा उन्हें भी शाप देती हैं। इस पर श्रीदामा भी राधा को मनुष्य की भाँति क्रोध करने के कारण मानवी होने तथा कृष्ण से १०० वर्ष तक के वियोग का शाप देते हैं। राधा के शाप से श्रीदामा शंखचूड़ और श्रीदामा के शाप से राधा वृषभानुनन्दिनी हुईं।

ब्रह्मवैवर्त में राधा-कृष्ण की लीलाओं का विस्तृत उल्लेख है। अनेक लीलाएँ नई हैं। स्थान स्थान पर दोनों के रमण का स्पष्ट उल्लेख है तथापि उनकी स्थूलता में कोई कमी नहीं है।

कृष्ण की तीन वर्ष की अवस्था में एक दिन उनको लेकर नंद गाय चराने गए। इसी बीच मायावी कृष्ण ने नभ को मेघाच्छन्न कर दिया। भयंकर आँधी आई। वर्षा होने लगी। नंद भयभीत हो गए। कृष्ण ने रोते रोते नंद का कण्ठ पकड़ लिया। नन्द बड़े संकट में पड़ गए। इसी समय समस्त शृंगार से विभूषित एक अतुल सुन्दरी वहाँ प्रकट होती है। नन्द विस्मय में पड़ जाते हैं; फिर प्रणाम करके कहते हैं कि गर्गाचार्य के मुख से मैंने सुना है कि तुम हरि की प्रिया हो। ये हरि विष्णु हैं निर्गुण हैं। मैं मानव हूँ भयित हूँ अतः तुम इसे ले जाओ और अपनी इच्छा पूरी करने के बाद इसे लौटा देना। वे कृष्ण को राधा को दे देते हैं। राधा हँसती हैं इस रहस्य को गोपनीय रखने को कहती हैं तथा नन्द को वरदान देती हैं।

इसके उपरान्त राधा कामार्त होकर कृष्ण को छाती से लगाकर उनका चुम्बन करती हैं। वे रासमण्डल का स्मरण करती हैं। इसी बीच मार्ग में उन्हें एक अत्यन्त वैभवशाली रत्न मंडप दीख पड़ा। मंडप में जाकर क्या देखती हैं कि एक सुन्दर शय्या पर एक किशोर सो रहा है। अपनी गोद की ओर देखती हैं तो गोद का बालक गायब है। वे विस्मय में पड़ जाती हैं पर साथ ही साथ उस युवक को देखकर कामार्त हो जाती हैं तथा उसे अपलक देखने लगती हैं। युवक (कृष्ण) उठकर उन्हें गोलोक की याद दिलाते हैं। अपना-उनका अभेद बताते हैं, तथा कहते हैं कि बिना राधा के व सृष्टि करने में असमर्थ हैं। राधा आधारभूत हैं और कृष्ण बीजरूप। इस प्रकार अभेद बताकर वे राधा को निमन्त्रित करते हैं। इसी बीच में ब्रह्मा आकर दोनों का विवाह कराते हैं।

फिर दोनों का मिलन होता है। दोनों एक-दूसरे को अपना चबाया हुआ पान खिलाते हैं। कृष्ण राधा का मुख पकड़कर चुम्बन करते हैं और हृदय से लगा कर वस्त्र शिथिल करते हैं। वे राधा का मधुर चुम्बन कर रति प्रारम्भ करते हैं। रति में क्षुद्र-घंटिका छिन्नभिन्न हो जाती है कबरी खुल जाती है तथा आभरण आदि विपरीत दिशा में लग जाते हैं। नूतन संगम से पुलकित राधा मूर्च्छित हो जाती हैं। पुनः रति प्रारम्भ होती है। अंग-से-अंग का समागम होता है। कृष्ण आठ प्रकार से रति करते हैं। नख और दन्त से राधा को क्षत-विक्षत कर देते हैं। कंकण-किंकिणी मंजीर आदि की ध्वनि होती रहती है। कृष्ण पुनः राधा को शय्या पर लिटाकर कबरी मुक्त और विवस्त्रा कर देते हैं। वे राधा का दर्पण छीन लेते हैं राधा उनकी मुरली छीन लेती है। दोनों एक-दूसरे का मन हर लेते हैं। इस प्रकार काम-युद्ध समाप्त होने पर सस्मित, वक्र-लोचना राधा कृष्ण की मुरली लौटा देती है और कृष्ण भी दर्पण लौटा देते हैं। कृष्ण राधा का

शृंगार करने हैं। राधा भी कृष्ण के शृंगार को तत्पर होती है तो क्या देखती है कि कृष्ण किशोर रूप छोड़ कर मन्द-पुत्र रूप धारण कर क्षुधा से व्याकुल बालक के समान रोने लगते हैं। राधा भयभीत होकर रोने लगती है और गिर पड़ती है। कृष्ण भी रोने लगते हैं। इसी बीच आकाशवाणी होती है 'राधे! क्यों रोती हो? कृष्ण के पद-कमलों का स्मरण करो। रास-मण्डल तक प्रति रात्रि आकर यहाँ हरि के साथ तुम रति करोगी। अब बालक रूप अपने प्राणेश को लेकर घर जाओ। राधा कृष्ण को लेकर नन्द के यहाँ जाती है। बालक को यशोदा को देते हुए कहती है गोष्ठ में स्वामी ने इस बालक को मुझे दिया था। इसके कारण मुझे कठिनाई हुई। पसीने से वस्त्र भीग गए, आकाश में बादल है रास्ता फिसलनेवाला है। तुम इस बालक को दूध पिलाकर प्रसन्न करो।

इस प्रकार से भूलोक में राधा-कृष्ण की प्रथम भेंट होती है विवाह होता है एवं सोहागरात मनती है। ब्रह्मवैवर्त में शृंगार का यह रूप कृष्ण की समस्त लीलाओं में परिव्याप्त है।

ब्रह्मवैवर्त में चीरहरण की लीला कुछ भिन्न रूप में है। कृष्ण नग्न स्नान करती हुई गोपियों के वस्त्र और भोजन को उठा ले जाते हैं। वे गोपियों की नग्न स्नान के लिए भर्त्सना करते हैं और कहते हैं कि वस्त्र पाने के लिए उन्हें अपनी स्वामिनी के साथ हाथ जोड़कर याचना करनी पड़ेगी। राधा यह सुनकर योग-ध्यान द्वारा कृष्ण की स्तुति करती हैं। आँख खोलने पर वे क्या देखती हैं कि वस्त्र और अन्य द्रव्य तट पर रखे हुए हैं। इस प्रकार इस लीला में भागवत से स्वरूप परिवर्तन कर दिया गया है। यह परिवर्तन राधा के माहात्म्य को प्रदर्शित करने के लिए किया गया है।

इस पुराण में रास का विस्तृत वर्णन है। पुराणकार ने रास में रति के अनेकानेक अवसर उत्पन्न कर उनका विस्तार से वर्णन किया है। कृष्ण की वंशी की ध्वनि सुनते ही राधा कामातुर होकर जड़वत् हो जाती है। राधा की मूर्च्छा दूर होने पर कृष्ण उनका चुम्बन कर रतिमंडप में उन्हें ले जाते हैं। वहाँ पर वे कामशास्त्र वर्णित अष्टाविधि चुम्बन आलिंगन नख-दन्त क्षत और सम्भोग करते हैं। राधा के बाद वे सभी गोपियों से रति करते हैं।

इसके बाद जल क्रीड़ा होती है किन्तु गोपियों की अभी काम-तृप्ति नहीं होती। वे अनेक प्रकार की काम चेष्टाएँ करती हैं। राधा कृष्ण और गोपियाँ परस्पर एक-दूसर का बार बार नग्न करती रहती हैं। कृष्ण पुन: आठ विधि चुम्बन और सोलह विधि संभोग करते हैं। कृष्ण ने क्रीड़ा के आदि मध्य और अवसान में रति करने की कामशास्त्रीय विधि से भी अधिक सम्भोग करके रा

पूर्ण किया। इसी समय देवता आदि वहाँ आते हैं। कृष्ण गोपियों के साथ यमुना स्नान करते हैं। पुन: राधा-कृष्ण म वस्त्रों तथा मुरली आदि को लीला-झपटी प्रारम्भ हो जाती है। दोनों एक-दूसरे को मग्न करते हैं। तट पर आकर कृष्ण पुन: विभिन्न विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं।

फूले हुए पुष्पों को देखकर राधा ने गोपियों को माला बनाने की आज्ञा दी तथा उन्हें विविध कर्मों में नियुक्त किया। इसके बाद शयन-आसन आदि हुआ। राधा ने रास में रति करके निर्जन स्थान मनोहर स्थान पुष्पोद्यान श्मशान तथा भांडीर, कदली चंपक श्री कदंब तुलसी आदि वनों में रमण किया। फिर भी उनका मन भरा नहीं। गोपियाँ भी कृष्ण से विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाएँ करती हैं। इसी समय कृष्ण राधा के साथ अन्तर्धान हो जाते हैं। वे पुन: राधा के साथ स्थान-स्थान पर सम्भोग करते हैं। मलय द्रोणी म राधा का रूप बनाकर विपरीत रति करते हैं। इसके उपरान्त वन विहार कर विश्राम करते हैं। यहीं पर अष्टावक्र आकर उनके चरणों में देह त्याग करते हैं।

कुछ देर बाद कृष्ण को गोपियों की याद आती है। वे चलने के लिए राधा से आग्रह करते हैं। मदमुग्धा राधा उनके कंधे पर चढ़कर चलने के लिए कहती है। कृष्ण अंतर्धान हो जाते हैं। राधा रोती हुई चन्दन वन पहुँचती है। वहाँ गोपियाँ मिलती हैं। कृष्ण भी प्रकट हो जाते हैं। गोपियाँ उन्हें रास-मंडल म ले जाती हैं और स्वयं पीठ पर बैठाती हैं। कृष्ण विभिन्न रूप बनाकर उनके साथ क्रीड़ा करते हैं। कृष्ण राधा को लेकर रतिमंडल में आते हैं और नाना प्रकार से विमान करते हैं। फिर जल क्रीड़ा कर वे गोपियों को विदा करते हैं और राधा के साथ पुन: विहार करते हैं। इसी समय ६ सौ करोड़ (६ अरब) गोपियाँ अनेक शृंगार प्रसाधन लेकर इनके पास आती हैं। वे इनकी सेवा म लग जाती हैं। कृष्ण राधा के साथ एक-एक क्षण में सभी सुख करते हैं। इस प्रकार रासलीला समाप्त होती है।

इसी प्रकार ग्यारह वर्ष बीत जाते हैं। एक दिन सुख-सम्भोग से क्लान्त होकर राधा सो जाती है। वह एक भयानक स्वप्न देखती है और भीत होकर कृष्ण से कहती है कि पता नहीं क्या होनेवाला है? स्वप्न बताते-बताते वे रोने लगती हैं। कृष्ण आध्यात्मिक योग से स्वप्न का अर्थ समझाकर शोक छोड़ने के लिए कहते हैं तथा बोध देने को जल क्रीड़ा करते हैं। कृष्ण-राधा की बात बताकर अपना-राधा का अभेद बताते हैं किन्तु राधा पुन: दुखित हो जाती हैं। कृष्ण सांत्वना देकर जल क्रीड़ा करते हैं।

एक दिन सम्भोग-सुख से मूर्छित राधा सो जाती है। कृष्ण उसका चुम्बन लेने में प्यार करते हैं। इसी समय ब्रह्मा आदि आकर कृष्ण को शाप की याद

दिखाते हैं तथा राधा को सोते छोड़ कर जाने के लिए कहते हैं। कृष्ण छोड़ कर चले जाते हैं। जागने पर राधा विलाप करती है और सखियाँ प्रबोध कराती हैं। इसी समय कृष्ण आकर राधा का आलिंगन शृंगार आदि करते हैं। राधा की सखी रत्नमाला से शाप की बात बताकर उससे प्रार्थना करते हैं कि राधा को समझाए, और अन्यालय चले जाते हैं।

दूसरे दिन अक्रूर आते हैं। कृष्ण को जाते देखकर राधा के आदेश से गोपियाँ अक्रूर के रथ को पताकाओं से दूर कर देती हैं, कृष्ण को वक्षस्थल से लगा लेती हैं, उन्हें वस्त्रों से बाँधती हैं, नग्न कर देती हैं तथा अक्रूर को मत विरत कर देती हैं। कृष्ण राधा और अक्रूर को आध्यात्म योग से समझाते हैं। इसी समय आकाश से एक रथ आता है। कृष्ण मथुरा न जाकर घर लौट आते हैं, राधा के साथ रमण करते हैं और उसके सो जाने पर चुपचाप मांगलिक कृत्य करा कर मथुरा चले जाते हैं।

मथुरा में कुब्जा की इच्छा पूर्ण कर कृष्ण उसे गोलोक भेज देते हैं जहाँ वह चन्द्रमुखी नामक गोपी हो जाती है। यह कुब्जा पूर्व जन्म की शूर्पणखा थी।

ब्रह्मवैवर्त में उद्धव प्रसंग में उद्धव राधा के ऐश्वर्य-स्वरूप की स्तुति करते हैं तथा बारंबार कृष्ण के आने की बात कह कर उन्हें सान्त्वना देते हैं। वे राधा कृष्ण के अभेद की बात बतलाते हैं। इसी समय सखियाँ कृष्ण को उपालंभ देती हैं। रत्नमाला तथा एक अन्य सखी उनके ऐश्वर्य-स्वरूप का वर्णन कर शाप की बात बताती है। विरह-शोक में मूर्च्छित राधा चेतना आने पर उद्धव को मथुरा जाने का सन्देश देती है और कहती है 'मुझ कोई क्या प्रबोध देगा? कृष्ण के बिना मेरा जीवन बेकार है। मेरे समान दुखित संसार क्या त्रैलोक्य में भी कोई नहीं है। कल्पवृक्ष प्राप्त कर भी मैं दरिद्र की दरिद्र रह गई। मैं उनको कैसे भूलूँ ?

उद्धव जाने को तत्पर होते हैं। उसी समय माधवी नामक गोपी उन्हें रोक कर राधा से निगूढ़ ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहती है। राधा कर्म क्रम विराट पुरुष काम-निरूपण आदि कर कृष्ण भजन करने को कहती है। उद्धव के जाने पर राधा विलाप करती है।

मथुरा में उद्धव कृष्ण से व्रज जाने के लिए कहते हैं। कृष्ण स्वप्न में जाने का वचन देते हैं। कृष्ण स्वप्न में राधा को सान्त्वना और ज्ञान देते हैं तथा यशोदा का समाधान करते हैं।

सौ वर्ष बाद सर्वेश-पूजा के अवसर पर सिद्धाश्रम में राधा-कृष्ण की भेंट होती है। दोनों विहार करते हैं। कृष्ण अपने-दोनों की अभेदता बतलाते हैं तथा

कहते हैं कि तुम्हीं सीता थीं द्रौपदी तुम्हारी छाया है। फिर वे अनेकानेक प्रकार से राधा के साथ चौदह वर्षों तक भोग विलास करते हैं। उसके बाद सभी को गोलोक भेज देते हैं।

ब्रह्मवैवर्त के इन वर्णनों में काम-शास्त्र का बढ़ता हुआ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जगह जगह पर सम्भोग का वर्णन किया गया है और उसको महत्ता प्रदान की गई है। राधा-कृष्ण की यह विलास-लीला भक्त-कवियों की प्रेरणादायिनी रही है। भक्त-कवियों ने जहाँ कथा-स्वरूप और रचना क्रम में भागवत का आश्रय लिया है वहाँ राधा-कृष्ण की लीलाओं में स्थूलता विलासिता का उन्मुक्त चित्रण ब्रह्मवैवर्त से प्रभावित होकर किया है।

सहजिया वैष्णव और उनका परकीया तत्त्व

जिस समय नाथ योगी पश्चिम में सिद्धों के विरुद्ध अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे उसी समय बंगाल में सहजिया वैष्णवों और उनकी परकीयोपासना का प्राबल्य हो रहा था। इसी प्रभाव के कारण बारहवीं शताब्दी में राजा बल्लालसेन ने एक चाण्डालिनी स्त्री 'पद्मिनी' को पटरानी का पद प्रदान किया था। यही नहीं अभिराम गोस्वामी ने मालिनी नाम की एक स्त्री रख रखी थी जिसकी प्रशंसा अभिराम तत्त्व अभिराम पटल और अभिराम लीलामृत ग्रन्थों में है। राजा लक्ष्मणसेन के दरबार में भी पुरी की एक देवदासी थी जिसकी प्रशंसा जयदेव ने की है।

वैष्णवों में परकीया भाव का विकास राधा-कृष्ण के सम्बन्ध को लेकर हुआ है। सामान्यतः यह धारणा है कि राधा आयन अहिरण अथवा अभिमन्यु की विवाहिता पत्नी थी। राधा कृष्ण से प्रेम करती थी और लौकिक दृष्टि से यह प्रेम परकीया का था। राधा-कृष्ण के ईश्वरत्व के साथ-साथ दोनों का यह प्रेम भी अनादि और अलौकिक हो गया। किन्तु इस प्रेम की अभिव्यक्ति लौकिक प्रेम के रूपक द्वारा ही सम्भव है। इस लोक में राधा-कृष्ण के प्रेम की तीव्रता की अभिव्यक्ति परकीया प्रेम में ही सम्भव है। स्वकीया प्रेम की एकरसता नियम सम्बद्ध नैकट्य तथा सामाजिक स्वीकृति उसकी तीव्रता नष्ट कर देती है। अतः यह प्रेम के उच्चादर्श को व्यक्त करने में असमर्थ है। सहजियों के अनुसार प्रेम का सर्वोच्च आदर्श तो उन स्त्री पुरुषों के बीच में होता है जो हानि-लाभ मान-मर्यादा यश-अपयश और पाप-पुण्य की अवहेलना कर प्रेम की वेदी पर सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं। परकीया प्रेम में ही यह सम्भव है और इसीलिए अलौकिक प्रेम के स्वरूप को व्यक्त करने में वही समर्थ है।

परकीया प्रेम की श्रेष्ठता का एक अन्य कारण भी है। स्वकीया 'सकाम प्रेम' का आदर्श और परकीया 'निष्काम प्रेम' का आदर्श है। स्वकीया में आत्म

तुष्टि स्वार्थ या काम प्रधान रहता है और यह काम बन्धन में डालनेवाला है। परकीया प्रेम में प्रिय-सुख आत्म-समर्पण और निस्वार्थ की भावना रहती है। जिस प्रकार निष्काम कर्म श्रेष्ठ और मोक्षदायक है वैसे ही परकीया भी श्रेष्ठ है। स्वकीया में ऐश्वर्य प्रधान है और परकीया में माधुर्य।

इन्हीं भावनाओं से प्रभावित होकर राधा को सर्वत्र अन्य गोप की विवाहिता-स्त्री रूप में स्वीकार किया गया है। इस परकीया भाव में प्रिय का निरन्तर चिंतन मिलन की उत्कट उत्कंठा दोष-दृष्टि का सर्वथा अभाव तथा निस्वार्थ समर्पण रहता है। प्रेम की यही तीव्रता सहजिया में स्वीकृत है। कृष्ण ने राधा के इसी प्रेम और सुख का अनुभव करने के लिए ही चैतन्य रूप में जन्म लिया था।

वैष्णव सम्प्रदायों में परकीया की स्वीकृति

परकीया की महत्ता और राधा में परकीयत्व की उपयुक्त तथा अन्य तर्कों के आधार पर स्थापना करने पर भी परवर्ती समाज और वैष्णव सम्प्रदायों ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसका कारण परकीया की समाज-विरोधिनी स्थिति है। फलस्वरूप चैतन्य सम्प्रदाय को छोड़ कर शेष सभी सम्प्रदायों में राधा का परकीयत्व स्वीकार नहीं किया गया है। उन्होंने राधा को गंधर्व विवाह द्वारा स्वकीयत्व प्रदान किया है। इनमें से कहाँ तक सफल हो सके हैं इसका विचार हम नायिका के स्वरूप के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ पर तो इतना कहना ही अभीष्ट है कि वैष्णवों में परकीया भाव की भक्ति स्वीकृत थी तथा इसका प्रभाव भक्ति काव्य पर पड़ा।

अन्य धार्मिक साहित्य

राम धारा में वाल्मीकि रामायण रघुवंश उत्तररामचरित जानकीहरण हनुमन्नाटक अंजन रामायण प्रसन्न राघव मैथिली कल्याण हंसदूत उदार राघव आदि ग्रन्थों में शृंगारिक उल्लेख हैं किंतु भक्तिकालीन रामभक्ति-काव्य में शृंगार का अत्यधिक संयत रूप ही मिलता है।

कृष्ण धारा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जयदेव कृत गीतगोविन्द है जिसमें राधा-कृष्ण की शृंगारी लीला बड़े ही मनोहर और उन्मुक्त रूप में प्रकट हुई है। इस ग्रन्थ का हिन्दी भक्ति साहित्य पर कितना प्रभाव पड़ा—यह कह सकना कठिन है। इस शृंगारिक काव्य का महत्त्व इसी से ही समझा जा सकता है कि जयदेव की गणना भक्त रत्नों में होने लगी थी। यदि कबीर का निम्न लिखित दोहा अप्रामाणिक नहीं है तो कबीर स्वयं उन्हें बड़े एवं उल्लेखनीय भक्तों में समझते थे —

जागे सुक उधव अकूर हनुवंत जागे लै लंगूर।
संकर जागे चरन सेव कलि जागे नामां जैदेव ॥

इस प्रकार ज्ञानी कबीर तक इन्हें शुकदेव उद्धव अक्रूर और हनुमानजी की श्रेणी का भक्त स्वीकार करते हैं। यह जयदेव की रचनाओं के प्रभाव का बड़ा भारी प्रमाण है। कवि नाभजी ने भी नारद शुकदेव आदि की ही श्रेणी में जयदेव की गणना की है और उन्हें अनन्य रसिक भक्त माना है। श्री चैतन्य देव ने गीतगोविन्द को प्रमाण-कोटि में स्वीकार किया है। इस रचना ने सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य को शृंगारपरक रूप देने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

अपभ्रंश साहित्य

हिन्दी भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि रूप में अपभ्रंश साहित्य का उल्लेख भी आवश्यक है। अपभ्रंश में पुष्पदन्त के महापुराण में सीता तथा कृष्ण का नख शिख का वर्णन है। पूर्वराग का प्रारम्भ चित्र तथा प्रत्यक्ष दर्शन—दोनों ही रूपों में इस काव्य में दिखलाया गया है। इसके अतिरिक्त नागकुमार चरित भाव-सतकहा (धनपाल कृत) सुदंसण चरिउ (नयनंदि कृत) जिनदत्तचरिउ (लाखू कृत) सनत्कुमारचरित (हरिभद्र कृत) पउमसिरीचरिउ (धाहिल कृत) आदि में धार्मिक आवरण के भीतर रोचक प्रेम-कथाएँ दी गई हैं जिनमें नायिका का नख-शिख वर्णन कहीं-कहीं उत्ताल शृंगार वर्णन तथा अन्य शृंगारी वर्णन प्राप्त हैं। ये कथाएँ हमारा ध्यान बरबस प्रेमाश्रयी शाखाओं की सूफी प्रेम-कथाओं की ओर आकर्षित करती हैं। इस प्रकार भक्तिकाल के पूर्व ही धार्मिक आवरण में प्रेम-कथाएँ अथवा प्रेम कथाओं के आवरण में धार्मिक सन्देश की पुष्ट परम्परा प्रचलित थी। सम्भव है कि प्रेमाश्रयी शाखा की रचनाओं की रचना विधि के पीछे इस साहित्य की प्रेरणा रही हो। कृष्ण-काव्य पर इस साहित्य के प्रभाव का संकेत डा० रामसिंह तोमर ने किया है। उनका विचार है कि अपभ्रंश साहित्य में कृष्ण-गोपी प्रेम का जो उन्मुक्त स्वरूप प्राप्त है, उसने हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य को अवश्य प्रभावित किया होगा।

हिन्दी भक्ति शृंगार की इस पीठिका के आधार पर हम यह अवश्य कह सकते हैं कि धर्म साहित्य तथा लोक गाथाओं में शृंगार का उन्मुक्त वर्णन स्वीकार हो चुका था। इसका फल यह हुआ कि भक्तों में इष्टदेव के शृंगार वर्णन में होनेवाली स्वाभाविक हिचक नहीं थी। फलस्वरूप निश्शंक होकर वे शृंगारिक रचना में संलग्न हो सके। एक प्रकार से भक्ति शृंगार का विशाल प्रासाद इसी पीठिका पर खड़ा है।

चतुर्थ अध्याय

भक्ति शृंगार की प्रतीकात्मकता

भक्ति-शृंगार में संयोग शृंगार की प्रधानता है। राम-साहित्य में इसका स्वरूप संकेत-मात्र है। अन्य साहित्यों में सूफी और कृष्ण-साहित्य में इसकी बहुलता है। संत-साहित्य में इसके कुछ संकेत मिलते हैं। इस संयोग-शृंगार के वर्णनों में जिस प्रकार के खुले शृंगार का वर्णन है उसके सम्बन्ध में लोगों के मस्तिष्क में अनेक प्रश्न उठते हैं। जिन बातों का सामान्य जीवन में उल्लेख करना हम अनुचित समझते हैं उनका सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन भक्ति-रूप में देखकर हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं। आज के मनोविश्लेषण के युग में जब कि मनोवैज्ञानिक हमारी भोली भाली क्रियाओं को चीड़-फाड़कर उनके पीछे के काम प्रवाह को प्रकट करता है तब उस समय के विरक्त साधु-महात्माओं की इन स्पष्ट शृंगारिक रचनाओं के पीछे की अतृप्त और दमित काम-वासनाओं के संकेतों को खोज लेना उनके लिए सरल कार्य है। काम क्रोध का दमन कर जिन व्यक्तियों ने शताब्दियों से भक्तों की पंक्ती में स्थान प्राप्त कर लिया है उनके सम्बन्ध में उपर्युक्त कथन सुनने का मन नहीं करता है। शायद इसीलिए विषय में रोचकता की कमी न होते हुए भी विचारकों ने सामान्यतः इस समस्या पर या तो लेखनी ही नहीं उठाई है या इन्हें 'प्रतीक' मात्र कहकर संतोष कर लिया है। केवल एक-दो लेखकों ने ही इन शृंगारिक-लीलाओं को समझाने का प्रयत्न किया है। ऐसे लेखकों में से एक डॉ० आनन्दकुमार स्वामी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक डांस ऑफ शिव में सहज शीर्षक के अन्तर्गत राधा-कृष्ण लीलाओं का उल्लेख करते हुए लिखते हैं

"All this is an allegory—the reflection of reality in the mirror of illusion This reality is the inner life where Krishna is the Lord, Gopies are the souls of men and Vrindavan the field of consciousness." (P 104)

एक अन्य लेखक श्री प्रभुदयाल मीतलजी भक्त कवि व्यासजी' की भूमिका में कहते हैं

"भक्त कवियों की प्रतीकात्मक शृ गारिक रचनाओं से अपरिचित व्यक्तियों को कभी-कभी उनमें विषय-वासना की गन्ध आने लगती है। यह इसलिए होता है कि वे लोग उन महात्माओं की उपासना-पद्धति और धार्मिक मान्यताओं के मर्म को भली भाँति नहीं समझ पाते हैं। जो भक्त-कवि समस्त विषय भोगों का परित्याग कर विरक्त-भाव से जीवन व्यतीत करते थे उनके द्वारा रचित राधा-कृष्ण की केलि क्रीड़ा सम्बन्धी प्रतीकात्मक शृ गारिक रचनाओं से लौकिक विषय-वासना का कोई सम्बन्ध नहीं है।

उसी ग्रन्थ के सम्पादक और कवि व्यासजी की परम्परा के श्रीवासुदेव गोस्वामी लिखते हैं

'लौकिक काम-वासनावाले भक्तिहीन युवक-युवतियां को तो राधा और कृष्ण दोनों ही काम-कला विशारद प्रतीत हो सकते हैं किन्तु इस विलास क्रीड़ा के रूप में आध्यात्मिक भाव छिपे हैं।

इसी प्रकार कल्याण के 'भागवतांक' में चीरहरण लीला की व्याख्या करते हुए श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार लिखते हैं— 'वृत्तियों का आवरण नष्ट हो जाना ही 'चीर हरण' है और उनका आत्मा में रम जाना ही 'रास' है। स्वामी योगानन्द सरस्वती ने इसकी व्याख्या एक योगी की समाधि एवं उसके भंग होने के रूपक द्वारा की है।

विदेशियों की रहस्यवादी उपासना-पद्धति हमारे भक्त-कवियों की उपासना से तत्वत भिन्न है किन्तु शृ गारिक प्रेमोन्माद की बहुलता उनमें भी उतनी ही है जितनी हमारे भक्तों में। इसकी व्याख्या करते हुए 'अण्डरहिल' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मिस्टीसिज्म' में लिखा है

'...that he sometimes forgets to explain that his utterance is but symbolic "

"The great saints who adopted and elaborated this symbolism, applying it to their pure and ardent passion for the Absolute, were destitute of the prurient imagination which their modern commentators too often possess."

In the place of the sensuous imagery which is so often and so earnestly deplored by those who have hardly a nodding acquaintance with the writing of the saints we find images which indeed have once been sensuous but which are here anointed and ordained to a holy office carried up transmuted and endowed with a radient purity an intense and spiritual life. (Pages 163-164)

उपर्युक्त उद्धरणों से शृ गारपरक काव्य का आत्मा-परमात्मा की मिलन-स्वरूपता भावोल्लास, योग-साधना और आत्म-समर्पण आदि मानकर समझाने

का प्रयत्न किया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने 'सुबोधिनी' में इन लीलाओं का प्रतीकात्मक और स्थूल दोनों ही अर्थ लिया है किन्तु स्थूल अर्थ के सम्बन्ध में यह स्पष्ट करने के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं कि ये लीलाएँ न केवल वासना से रहित ही हैं बल्कि वासनाओं की नाशक और भक्ति भाव की पोषक भी हैं।

विदेशी साहित्य को छोड़कर हिन्दी भक्ति-साहित्य के बड़े अंश में जो शृंगार-वर्णन है उसे प्रतीकात्मक मानने में कुछ कठिनाई है। इस समस्या के लिए आवश्यक है कि हम पहले प्रतीक के अर्थ और स्वरूप को संक्षेप में समझ लें।

प्रतीक का अर्थ

बहिर्जगत् की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्राप्त अनुभव ही मानव-विचारों के मूलाधार हैं। मानव मस्तिष्क इन अनुभवों को स्वीकार करने के पूर्व उनमें कुछ परिवर्तन कर देता है। अनुभवों के ये परिवर्तित रूप ही 'प्रतीक' कहलाते हैं और विचारों के मूलाधार हैं। यह प्रतीक-निर्माण-क्रिया निरंतर चलती रहती है। इसीके द्वारा विचार किया है। रिट्टो अपनी पुस्तक 'दि नेचुरल हिस्ट्री आफ़ माइंड' में प्रतीक-क्रिया को ही विचार-क्रिया मानते हैं। प्रतीक निर्माण-क्रिया एक मानसिक क्रिया है किन्तु अधिकतर प्रतीक स्थूल होते हैं। ये प्रतीक ही मानव मस्तिष्क को समझने की कुन्जी हैं।

प्रतीकों का सीमित अर्थ

संपूर्ण जीवन प्रतीकों से आवेष्ठित है किन्तु हम सामान्यतः प्रतीक का प्रयोग सीमित अर्थ में करते हैं। हम प्रयोग के पीछे अपनी भावना और विचारों को भाषा के माध्यम द्वारा स्पष्टतम रूप में प्रकट करने की इच्छा है। धर्म और साहित्य ऐसे प्रतीकों से परिपूर्ण हैं। हम पवित्रता के लिए कमल तेज के लिए मार्तण्ड विस्तार के लिए आकाश और आह्लाद के लिए मधुकाम-पुष्प का प्रयोग करते हैं। हम मूर्ति द्वारा ईश्वर को व्यक्त करते हैं पर मूर्ति ईश्वर नहीं होती है। ये प्रतीक द्वयर्थक होते हैं। इनका एक अर्थ बाह्य प्रकट और गौण होता है तथा दूसरा आन्तरिक गूढ़ यथार्थ और मुख्य होता है। अतः प्रतीकों के अध्ययन में सदा यह ध्यान रखना आवश्यक रहता है कि कब किसी कथन में प्रतीकार्थ इष्ट है और कब केवल सामान्य अर्थ। यदि हम चूक जाएँगे तो साधारण अर्थों के स्थान पर प्रतीकार्थ या इसका विलोम स्वीकार करना प्रारम्भ कर देंगे।

प्रतीकों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रतीक अचेतन मन की बातों को छिपाकर व्यक्त करने की सर्वोत्तम विधि है। फ्रायड वर्ग के मनोविश्लेषकों के मतानुसार ये सदा

कामात्मक होते हैं किंतु अन्य अनेक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह आवश्यक नहीं है। यथा अप्रवाल के मतानुसार सामान्य जीवन में दबी हुई अतृप्त कामात्मक या अकामात्मक इच्छाओं को प्रकट करनेवाली अभिव्यक्ति ही प्रतीक है। सम्प्रक्ष से हम कह सकते हैं कि प्रतीक ज्ञात अनुभवों द्वारा अज्ञात की अभिव्यक्ति करने वाले साधन हैं। ध्यान रखने की इतनी ही बात है कि जहाँ वे अज्ञात की अभिव्यक्ति से दूर होकर स्वयं साध्य हो जाते हैं वहीं वे प्रतीक नहीं रहते हैं।

धार्मिक प्रतीक

धार्मिक तथ्य को व्यक्त करनेवाले प्रतीक धार्मिक प्रतीक होते हैं। इनके दो प्रमुख भेद किए जा सकते हैं। प्रथम प्रकार के वे प्रतीक हैं जिनके मूल सत्यों को हम जानते हैं और साधारण शब्दावली में व्यक्त कर सकते हैं। भागवत में राजा पुरंजन की कथा (४।२५-२८) ऐसी ही है जिसकी व्याख्या नारद ने उन्तीसवें अध्याय में की है। ऐसे प्रतीकों में हम जहाँ कहीं भ्रम की संभावना देखते हैं, वहीं प्रतीक का आवरण छोड़कर साधारण भाषा में उसका निवारण कर देते हैं। ऐसे स्थानों पर प्रतीक के अस्पष्ट होने पर भी उसके सुबोध होने के कारण हम उसका प्रयोग करते हैं। दूसरे प्रकार के वे प्रतीक हैं जिनके पीछे के सत्य को साधारण भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए ईश्वरीय प्रेम या ईश्वरेच्छा। हम जानते हैं कि ईश्वरीय प्रेम या इच्छा का मानवीय प्रेम या इच्छा से कोई संबंध नहीं है फिर भी हम मानव जीवन के एक तत्त्व को ईश्वरीय जीवन के एक तत्त्व से व्यक्त करने के लिए क्यों लेते हैं? इसका कारण है कि हम इस तथ्य को और किसी प्रकार से स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर सकते हैं। प्रतीक द्वारा ही हम उस तथ्य के निकटतम पहुँच पाते हैं। प्रतीकों के भेद की यह विभाजक रेखा अत्यन्त अस्पष्ट और सूक्ष्म है।

प्रतीकात्मक व्याख्या और उसकी सीमा-रेखा तथा कसौटी

ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो कि प्रत्येक धार्मिक आख्यान की प्रतीकात्मक व्याख्या करने को तैयार हैं। संपूर्ण भागवत से लेकर संपूर्ण बिहारी सतसई भी वे प्रतीकात्मक व्याख्या करते हैं। इस प्रतीकात्मक व्याख्या का कारण क्या है? इन कथाओं की सरलता में विश्वास का अभाव। जिस हद तक हमें कथा-वार्ताओं की सरलता में विश्वास है हम उन्हें स्वीकार करते चले जाते हैं किंतु जहाँ कहीं हम उनमें बुद्धि अविश्वसनीय या तत्कालीन सामाजिक आदर्शों के विरुद्ध [illegible] हैं वहीं हम प्रतीकात्मकता का सहारा लेने लगते हैं। प्रतीकात्मक व्याख्या का [illegible] [illegible] धार्मिक ग्रंथों को सनातन सिद्ध करने की इच्छा और उनके [illegible] की नैतिकता और आदर्शों का स्थायी मापदंड बनाने की [illegible] है।

प्रतीकात्मक व्याख्या करनेवालों का एक अन्य वर्ग भी है। यह किसी ग्रन्थ के कुछ अंशों को सत्य-रूप में स्वीकार करने का आग्रह करेंगे और कुछ अंशों को प्रतीक रूप में। इस प्रकार यह प्रश्न उठता है कि धार्मिक कथाओं को किस अंश तक प्रतीक माना जाए और किस स्थान से उन्हें सत्य स्वीकार किया जाए। भागवत के सम्बन्ध में प्रश्न है कि क्या केवल चीरहरण रास-लीला आदि ही प्रतीक हैं अथवा स्वयं कृष्ण नंद यशोदा और कंस आदि भी प्रतीक हैं? यदि हम इनको भी प्रतीक मान लें तो अनेक धार्मिक संप्रदायों की नींव ही ढह जाएगी। इसलिए प्रतीकात्मक व्याख्या की सीमा का यह प्रश्न जटिल है। प्रत्येक संप्रदाय और प्रत्येक व्यक्ति के लिए इसकी सीमा भिन्न भिन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति में प्रतीकात्मक व्याख्या की सीमा रेखा वहीं तक होगी जहाँ तक इस व्याख्या के द्वारा उस सम्प्रदाय की मूलभित्ति पर आघात नहीं होता है। भक्ति-काव्य की प्रतीकात्मकता की यही कसौटी है।

काम-प्रतीक

धर्म की मूलभित्ति मानव-जीवन के रहस्यात्मक कार्यों के प्रति जिज्ञासा है। मानव जीवन में काम-क्रियाएँ उनसे प्राप्त आनन्दानुभूति और संतानोत्पत्ति से बढ़कर मानव को आश्चर्य में डालनेवाली और क्या चीज हो सकती है? मानव-जीवन में बड़े अंश में संतति की महत्ता रही है। फलस्वरूप वे क्रियाएँ भी महत्त्वपूर्ण हो गईं जिनसे उसे प्राप्त किया जा सकता है। बाह्य रूप में स्त्री-पुरुष जननेंद्रियाँ न केवल संतान प्रदान करनेवाली हैं बल्कि जीवन में सबसे आनन्ददायक अनुभूति का आधार भी हैं। इसीलिए लगभग समस्त धर्मों में किसी न किसी रूप में स्त्री पुरुष जननेंद्रियों तथा संभोग क्रिया की उपासना स्वीकृत रही है। इन क्रियाओं के महत्त्व तथा इनकी रहस्यमयता को स्वीकार करने के कारण इनमें गोपनीयता का प्रवेश हुआ।

काम के इस आधार को लेकर शृंगार प्रतीकों का निर्माण हुआ। इन्होंने दो रूप अपनाए। एक में तो काम एवं तत्सम्बन्धी क्रियाओं को आवरण देकर व्यक्त किया जाता है तथा दूसरे काम-व्यंजक होते हुए भी कुछ और ही संकेत करते हैं। प्रथम प्रकार के प्रतीकों में स्तंभ मुग्दर वृष वज्र कमल पुलिंग त्रिकोण मदार त्रिशूल आदि हैं जो कि प्रत्यक्षतः कामरहित दीखने पर भी मूलतः कामांगों का व्यक्त करनेवाले हैं। दूसरे प्रकार के प्रतीक मिथुन युगनद्ध विपरीत आदि हैं। इस दूसरे प्रकार के प्रतीकों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना है कि इनका प्रयोग प्रतीक रूप में हुआ है या स्थूल रूप में। उपर्युक्त दूसरे प्रकार के प्रतीक और स्थूल रूप में कोई अंतर नहीं है, पर अर्थ में विशेष भिन्नता रहती है।

साहित्य में प्राप्त शृंगारिक रूपों के सम्बन्ध की यही समस्या है कि वे प्रतीक हैं या स्थूल ?

प्रतीकात्मक व्याख्या के आग्रह का कारण

इस संसार में प्राप्य पुरुषार्थों में सर्वोत्तम 'काम' है। काम अपनी तन्मयता में अपार्थिव हो जाता है। यही काम जब धर्म में सहज और स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त होता है तो अति पवित्रतावादी एवं धर्म को नैतिकता का समकक्ष माननेवाले दोनों का सामंजस्य नहीं कर पाते। धर्म के अपने मान्य रूप के अनुरूप इन कामात्मक रूपों को काम-विहीन करने के लिए वे प्रतीकात्मक व्याख्या का आश्रय लेते हैं। संभव है कि अति-पवित्रता एवं नैतिकता के पीछे दमित कुंठाओं की प्रतिक्रिया हो। ऐसी दमित कुंठाएँ धर्म के इस रूप से झकझोर दी जाती हैं और मानव इसका प्रतिकार प्रतीकात्मक व्याख्या द्वारा करता है।

हिन्दी भक्ति-साहित्य में प्रतीकात्मकता

हिन्दी भक्ति-साहित्य में शृंगारिकता का बाहुल्य है। बड़े अंश में यह शृंगार स्पष्ट नग्न हो चुका है। जायसी सूर तथा अन्य भक्त कवियों के पदों में प्रेम की सामान्य चेष्टाएँ ही नहीं हैं बल्कि रति विपरीत रतिरण और सुरतांत के स्थूल एवं सजीव वर्णन हैं। प्रतीकों के उपयुक्त अध्ययन के आधार पर इनकी प्रतीकात्मकता पर विचार करना है।

निर्गुणधारा की ज्ञानमार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीर ने शृंगार प्रतीकों का यथेष्ट प्रयोग किया है। उनकी प्रतीकात्मकता अत्यन्त स्पष्ट है।

कबीर के प्रिय राम हैं। ये दाशरथी राम से भिन्न हैं। इनकी उपासना वे पति रूप में करते हैं, और अपने को पत्नी मानते हैं। वे कहते हैं 'हे दुलहिन मंगलचार गाओ। मैं पूर्ण वयस्क यौवनागत हूँ। पाँचों तत्त्व बराती हैं। ब्रह्म पुरोहित हैं और यह शरीर वेदी है। तेंतीस कोटि देवता और अठासी सहस्र मुनि में पधारे हैं। मैं एक अविनाशी पुरुष को ब्याह कर जा रही हूँ।' (कबीर ग्रन्थावली, पद १) । एक अन्य पद में वे कहते हैं 'इस प्रिय से मिलने के लिए मैंने शृंगार किया है। पता नहीं वह क्यों नहीं मिलता है। (वही पद ११०) । रानी ! जहाँ बसो वहाँ परमानन्द मिले। मेरा मन भारी चला गया है इसीलिए कुछ अच्छा नहीं लगता। स्वप्न में उसके दर्शन होते हैं, पर जागते ही वह विलुप्त हो जाता है। जब तक शरीर में साँस है तब तक चलकर स्वामी से मिल लें। अर्थ विलंब न करो।" (पद १०२) । पति की उपेक्षा से नायिका का संपूर्ण विवाह ही एक विडंबना लगने लगता है। वह कहते हैं, 'वह विवाह ही बेकार जिसके बाद पति का मुख भी देखने को न मिले। जब प्रकट होकर मिला अन्यथा मैं मा

प्रतीकात्मक व्याख्या करनेवालों का एक अन्य धर्म भी है। यह किसी ग्रन्थ के कुछ अंशों को सत्य-रूप में स्वीकार करने का आग्रह करेंगे और कुछ अंशों को प्रतीक रूप में। इस प्रकार यह प्रश्न उठता है कि धार्मिक कथाओं को किस अंश तक प्रतीक माना जाए और किस स्थान से उन्हें सत्य स्वीकार किया जाए। भागवत के सम्बन्ध में *प्रश्न है कि क्या केवल चीरहरण रास-लीला आदि ही प्रतीक हैं अथवा स्वयं कृष्ण नंद, यशोदा और कंस आदि भी प्रतीक हैं?* यदि हम इनको भी प्रतीक मान लें तो अनेक धार्मिक संप्रदायों की नींव ही ढह जाएगी। इसलिए प्रतीकात्मक व्याख्या की सीमा का यह प्रश्न जटिल है। प्रत्येक सम्प्रदाय और प्रत्येक व्यक्ति के लिए इसकी सीमा भिन्न भिन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति में प्रतीकात्मक व्याख्या की सीमा रेखा वहीं तक होगी जहाँ तक इस व्याख्या के द्वारा उस सम्प्रदाय की मूलभित्ति पर आघात नहीं होता है। भक्ति-काव्य की *प्रतीकात्मकता की यही कसौटी है।*

काम-प्रतीक

धर्म की मूलभित्ति मानव-जीवन के रहस्यात्मक कार्यों के प्रति जिज्ञासा है। मानव जीवन में काम-क्रियाएँ उनसे प्राप्त आनन्दानुभूति और संतानोत्पत्ति से बढ़कर मानव को आश्चर्य में डालनेवाली और क्या चीज हो सकती है? मानव-जीवन में बड़े अंश में संतति की महत्ता रही है। फलस्वरूप वे क्रियाएँ भी महत्त्वपूर्ण हो गईं जिनसे उसे प्राप्त किया जा सकता है। बाह्य रूप में स्त्री पुरुष जननेंद्रियाँ न केवल संतान प्रदान करनेवाली हैं बल्कि जीवन में सबसे आनन्ददायक अनुभूति का आधार भी हैं। इसीलिए लगभग समस्त धर्मों में किसी न किसी रूप में स्त्री पुरुष जननेंद्रियों तथा संभोग क्रिया की उपासना स्वीकृत रही है। इन क्रियाओं के महत्त्व तथा इनकी रहस्यमयता को स्वीकार करने के कारण इनमें गोपनीयता का प्रवेश हुआ।

काम के इस आधार को लेकर शृंगार प्रतीकों का निर्माण हुआ। इन्होंने दो रूप अपनाए। एक में तो काम एवं तत्सम्बन्धी क्रियाओं को आवरण देकर व्यक्त किया जाता है तथा दूसरे काम-स्वरूप होते हुए भी कुछ और ही संकेत करते हैं। प्रथम प्रकार के प्रतीकों में स्तम्भ मुसल वृष अश्व कमल कुलिश त्रिकोण मत्स्य त्रिशूल आदि हैं जो कि प्रत्यक्षतः कामरहित दीखने पर भी मूलतः कामांगों का व्यंजन करनेवाले हैं। दूसरे प्रकार के प्रतीक मिथुन युगनद्ध शिव शक्ति आदि हैं। इन दूसरे प्रकार के प्रतीकों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना है कि इनका प्रयोग प्रतीक रूप में हुआ है या स्थूल रूप में। उपर्युक्त दूसरे प्रकार के प्रतीक और स्थूल रूप में कोई अंतर नहीं है, पर अर्थ में विशेष भिन्नता रहती है।

साहित्य में प्राप्त शृंगारिक रूपों के सम्बन्ध की यही समस्या है कि वे प्रतीक हैं या स्थूल ?

प्रतीकात्मक व्याख्या के आग्रह का कारण

इस संसार में प्राप्त पुरुषार्थों में सर्वोत्तम 'काम' है। काम अपनी तन्मयता में अपार्थिव हो जाता है। यही काम जब धर्म से सहज और स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त होता है तो अति पवित्रतावादी एवं धर्म को नैतिकता के समकक्ष माननेवाले दोनों का सामंजस्य नहीं कर पाते। धर्म के अपने मान्य रूप के अनुरूप इन कामात्मक रूपों को काम विहीन करने के लिए वे प्रतीकात्मक व्याख्या का आश्रय लेते हैं। संभव है कि अति-पवित्रता एवं नैतिकता के पीछे दमित कुंठाओं की प्रतिक्रिया हो। ऐसी दमित कुंठाएँ मन के इस रूप से झकझोर दी जाती हैं और मानव इसका प्रतिकार प्रतीकात्मक व्याख्या द्वारा करता है।

हिन्दी भक्ति-साहित्य में प्रतीकात्मकता

हिन्दी भक्ति-साहित्य में शृंगारिकता का बाहुल्य है। बड़े अंश में यह शृंगार स्पष्ट, नग्न या खुला है। जायसी सूर तथा अन्य भक्त कवियों के पदों में प्रेम की सामान्य चेष्टाएँ ही नहीं हैं बल्कि रति विपरीत रतिरण और सुरतांत के स्थूल एवं सजीव वर्णन हैं। प्रतीकों के उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर इनकी प्रतीकात्मकता पर विचार करना है।

निर्गुणधारा की ज्ञानमार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीर ने शृंगार प्रतीकों का यथेष्ट प्रयोग किया है। उनकी प्रतीकात्मकता अत्यन्त स्पष्ट है।

कबीर के प्रिय राम हैं। ये दाशरथी राम से भिन्न हैं। इनकी उपासना वे पति रूप में करते हैं और अपने को पत्नी मानते हैं। वे कहते हैं "हे दुलहिन मंगलचार गाओ। मैं पूर्ण वयस्क यौवनागत हूँ। पाँचों तत्त्व बराती हैं। ब्रह्मा पुरोहित हैं और यह शरीर वेदी है। तैंतीस कोटि देवता और अठासी सहस्र मुनि मंडप आए हैं। मैं एक अविनाशी पुरुष को ब्याह कर ला रही हूँ।" (कबीर ग्रंथावली पद १)। एक अन्य पद में वे कहते हैं, "इस प्रिय से मिलने के लिए मैंने शृंगार किया है। पता नहीं वह क्यों नहीं मिलता है।" (वही पद ११०)। "हे सखी! वहाँ चलो जहाँ परमानन्द मिले। मेरा मन चोरी चला गया है इसीसे कुछ अच्छा नहीं लगता। स्वप्न में उसके दर्शन होते हैं, पर जागते ही वह विलुप्त हो जाता है। जब तक शरीर में साँस है तब तक चलकर स्वामी न मिल लें। अभी विलंब न करो।" (पद १०२)। पति की उपेक्षा से नायिका का संभ्रम विवाह ही एक विडंबना लगने लगता है। वह कहते हैं 'वह विवाह ही कैसा जिसके बाद पति का मुख भी देखने को न मिले। अब प्रकट होकर मिलो अन्यथा मैं मर

जाऊँगी। (पद २२६)। यह मिलन-बेला आ ही नहीं रही है। जब तक अंग लगा कर नहीं मिलोगे तब तक जीवन सार्थक कैसे होगा। इसी कारण तो देह धरी है। तुम समर्थ हो मेरी कामना पूर्ण करो। तन की तपन बुझा दो। तब गायाराम। (पद १०६) हे प्रिय ! तुम मेरे घर आओ। सब लोग मुझे तुम्हारी पत्नी कहते हैं। जब तक एक साथ सेज पर न सोओगे तब तक तुम्हारा प्रेम कैसा ? तुम मुझे उसी प्रकार प्रिय हो जैसे कामी को काम और प्यासे को पानी। तुम्हारे बीच प्राण जा रहे हैं। (पद १०७)। 'तुम अभी नहीं मिलोगे तो मरने के बाद मिलने से क्या लाभ ? (साखी ३/७८)। राम उसकी बात सुन लेते हैं। वे आने को तैयार हैं पर नायिका (कबीर) को भय लग रहा है। वे कहते हैं विलास प्रेम विधि सभी का तो मुझमें अभाव है। पता नहीं प्रियतम कैसे प्रेम मिलेगा ? (साखी ११/१६)। किन्तु सब कुछ कितनी सरलता से हो जाता है। वे कहते हैं 'मैं रानी बन गई। सुख की राशि मुझे मिली पर इसमें मेरी कुछ भी बड़ाई नहीं है। मैं तो अबोध हूँ। मैंने कुछ नहीं किया। राम ने स्वयं ही मुझे सोहाग दिया। (पद ?)। 'अब इस सौभाग्य और सुख के बाद मुझे अपने नैहर न बसना। इस वियोग में मुझे सुख नहीं है। (पद १४) सुख तो केवल राम के साथ ही है अन्यथा तो कष्ट ही कष्ट है। (पदावली परिशिष्ट २०६)।

कबीर के इन कथनों का स्थूल अर्थ निकालना कठिन है। कबीर के प्रिय दाशरथी राम से भिन्न अविनाशी राम हैं। इन्हीं राम की वे 'बहुरिया' हैं। उन्होंने इस संसार के उन पंच विकारों का उल्लेख किया है। अनायास एक दिन प्रिय का संग हो जाता है। उस प्रेम का वर्णन करने में वे असमर्थ हैं। इस प्रेम-वर्णन का अर्थ प्रतीक रूप में ही लिया जा सकता है। किन्तु उसके पूर्व यह देखना होगा कि कहीं यह प्रतीकात्मक व्याख्या कबीर की विचारधारा के विपरीत पड़कर उनके मूल सिद्धान्तों पर ही तो आघात नहीं करती। प्रतीकात्मक व्याख्या की इस कसौटी पर कसने पर हम देखेंगे कि उनका स्थूल अर्थ लेते ही कबीर के राम का यथार्थ अविनाशी निराकार स्वरूप नष्ट हो जाता है। उनका प्रेम-वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म और रहस्यात्मक है। उनका शृंगार लौकिक—शृंगार रति-रूप में व्यक्त नहीं हुआ है। उनके प्रिय न तो काम-कला विशारद हैं और न ही वे स्वयं काम-कला विशारद। इसके सम्बन्ध में एक प्रश्न उठ सकता है कि शायद ये कबीर की दमित वासनात्मकता है जिसने धर्म का आवरण ले लिया है। इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि कबीर एक सद्गृहस्थ थे। उनकी इन रचनाओं में स्थूलता और विस्तार नहीं है। वे तो इनके द्वारा किसी अन्य अनुभव का हृदयंगम कराना चाहते हैं। उनका यह रूप संभोग का वर्णन नहीं अपने सौभाग्य का संकेत

है जो कि इस पार्थिव धरातल पर नहीं है। हाँ; कबीर का अपने को स्त्री-रूप में लेना महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण चाहे भारतीय परम्परा हो जिसके अनुसार स्त्री ही सदैव प्रेम भिखारिणी होती है अथवा प्रत्येक मानव में निहित स्त्री-अंश की कबीर में प्रबलता।

प्रेममार्गी कवियों की तीन प्रसिद्ध रचनाएँ भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत आती हैं। जायसी कृत पद्मावत उसमान कृत चित्रावली तथा मंझन कृत मधुमालती। इन ग्रन्थों की कथाएं लोक-प्रचलित हैं तथा ऐसा अनुमान है कि इनके द्वारा प्रेम-मार्गी कवियों ने अपने धर्म के स्वरूप को जनता के सम्मुख रखा है।

इन तीनों ही रचनाओं में शृंगार—विशेषकर संयोग शृंगार के विस्तृत वर्णन प्राप्त हैं।

पद्मावत में यौवन-मत्त पद्मिनी के काम-विरह का बड़ा ही स्पष्ट संकेत उसके स्वप्न द्वारा किया गया है जिसकी व्याख्या उसकी सखी करती है। (११७-११८)। विवाह के बाद पद्मिनी रत्नसेन की सोहागरात तथा उनके संभोग का विस्तृत वर्णन है। कवि कहता है कि अनेक प्रकार से संभोग कर पति ने पत्नी की काम-तृषा शांत की। चातक की भाँति पिउ पिउ कहते स्त्री की जीभ सूख गई जिस प्रकार सीप में मोती की बूँद पड़ती है उसी प्रकार उस सुख-शांति मिली। इस रति में कंचनमठ टूट गया। रत्नसेन ने अंग अंग का रस लिया। माँग छूट गई कंचुकी तार-तार हो गई, हार के मोती बिखर गए, गहने तथा कलाई चूर गई, साड़ी मरगजी हो गई। (३१७-३१८) प्रात सखियाँ हास परिहास करते हुए पूछती हैं तुम तो फूलों के हार का बोझ भी सह नहीं सकती थी। तुमने प्रिय के शरीर का बोझ कैसे सहा? पैग देने में ही जो कटि मुड़ जाती थी वह प्रचंड स्वामी के सामने कैसे रही?' सोहागरात के बाद के सखियों के ये प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक हैं। पद्मिनी का संक्षिप्त उत्तर भी अत्यन्त सटीक है। वह कहती है 'मैं प्रेम का मर्म जान गई। सभी मर्म तो अनोखे हैं। सभी अंग स्वयं ही पति के एक-एक अंग से जाकर मिल गए। उसने मेरा रस लूट लिया।' पद्मिनी की माता चंपावती उसके रति-शिथिल रूप को देखकर प्रसन्नता से उसकी माँग चूम लेती है। (३२१-३२३) इसके अतिरिक्त अन्य शृंगारिक प्रसंग भी हैं।

प्रेममार्गी अन्य कवियों ने भी इसी प्रकार या इससे भी स्पष्ट संभोग का वर्णन किया है। इनमें संभोग की समस्त क्रियाओं का विस्तृत एवं खुला उल्लेख है। (देखें चित्रावली २२६ आदि मधुमालती पृ० १०१ १३१ १४७ आदि)

इन वर्णनों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इन शृंगारिक ग्रंथों में प्रतीकात्मकता नहीं है। इसका कारण है। सूफी साधना में लौकिक प्रेम भी पारमार्थिक प्रेम का ही एक रूप है। इस साहित्य में लौकिक प्रेम की स्वीकृति है। इसीलिए सूफ़ी कवियों ने लौकिक प्रेम का लौकिक धरातल पर सांगोपांग वर्णन किया है। उनके नायक-नायिका सब-कुछ होते हुए भी लौकिक हैं। इनके द्वारा किसी अलौकिक प्रेम या आत्मा-परमात्मा के मिलन-सुख की अनुभूति नहीं है। इन सभी की कथाएँ स्थूल और लौकिक धरातल पर हैं सभी में प्रेम का महत्त्व स्वीकार किया गया है। इन प्रेम और काम में कोई अंतर नहीं है। अतः इस प्रेम को व्यक्त करनेवाले वर्णन स्वाभाविक रूप में लिए जाने चाहिए। उनके पीछे कोई प्रतीकात्मकता नहीं है। काव्य के समासोक्ति होने के भ्रम के निराकरण से यह भ्रम अब और भी नहीं रहा है।

सूफ़ी काव्य में उपलब्ध शृंगार-वर्णन प्रतीकात्मक नहीं है पर उसमें रूप नख संभोग क्रिया तथा तत्सम्बन्धी अंग और कर्मादि के लिए कुछ ऐसी शब्दावलियों का प्रयोग हुआ है जिन्हें प्रतीक कह सकते हैं। इनके द्वारा कामात्मक शब्दावली को अधिक ग्राह्य बनाया गया है वे निम्नलिखित हैं—

संभोग—राम रावण-युद्ध गुलाल से खेलना राधा-वेध बरमे से मोती का बींधना कमल में भ्रमर का प्रवेश।

पुरुष-कामेन्द्रिय—कनक पिचकारी अंकुश।

स्त्री-कामेन्द्रिय—कली सीप कामागार मकरन्द-भंडार कमल-कोष अमृत-धाम।

प्रथम समागम पर योनिच्छद भंग होना—सिंधौरा फूटना गुलाल-खेलना अमृत-भाण्ड फूटना।

स्खलन—स्वाति बूंद वर्षा।

इन शब्दों को ही शृंगार प्रतीक कहा जा सकता है अन्यथा इन काव्य में प्रतीकात्मकता का अभाव है।

भक्ति काव्य की कृष्ण भक्ति शाखा में ही प्रतीकात्मकता का सर्वाधिक आश्रय लिया जाता है। इस काव्य में उपलब्ध शृंगार में प्रतीकात्मकता है या नहीं इसके निर्णय के लिए आवश्यक है कि हम इस शृंगार के स्वरूप को तनिक विस्तार से देखें। यह शृंगार इतना विपुल और विस्तृत है कि सम्पूर्ण का उल्लेख असम्भव है।

यदि हम वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि भक्त सूरदास को लें तो उन्होंने

सूरसागर में अन्य अवतारों का संकेत मात्र कर कृष्ण की ब्रजलीला का ही विस्तार किया है। बचपन से ही कृष्ण गोपियों का मन मोहते रहते हैं। अपनी माता के सम्मुख बालक होते हुए भी वे गोपियों के साथ तरुणों की-सी क्रियाएँ करने लगते हैं। पाँच वर्ष की अवस्था से ही कृष्ण गोपियों की चोली फाड़ने लगते हैं और दस वय की अवस्था होते होते गोपियाँ उनके रूप को देख कर काम-पीड़ित होने लगती हैं तथा काम-चेष्टाएँ करती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तरुण गोपियों की किशोर कृष्ण से यह काम क्रीड़ा विशेष अस्वाभाविक नहीं है। गोपियों का कृष्ण से कामात्मक सम्बन्ध एक-दूसरे पर झूलने लगना है। बात बढ़ने लगती है बदनामी होती है पर बेचारी बेबस हैं। कृष्ण की याद आते ही उनके हृदय में काम भाव उठता है। कृष्ण भी काम-कला से अनभिज्ञ नहीं हैं। राधा से मिलते ही वे उसकी नीवी पकड़ते हैं। साथ ही साथ उनका हाथ राधा के कुचों पर पहुँचता है।

कृष्ण अब छोटे नहीं हैं। राधा-कृष्ण का संयोग जब भी अवसर मिलता है तभी होता है। हार से संभोग में बाधा पड़ती है। राधा उसे उतार देती है। काम-केलि में कृष्ण चन्द्र और राधा चकोर है। मरकत-कञ्चन-सा दोनों का संयोग है। अन्त में चातक के मुख में स्वाति की बूँद पड़ती है।

रास में भी कृष्ण ने गोपियों के कुच भुज आदि स्पर्श कर उनके तन की तृष्णा बुझाई है। राधा-कृष्ण के विवाह के उपरान्त दोनों में रति-युद्ध होता है। कामदेव उनकी रति-क्रीड़ा के सामने लज्जित है। दोनों को शांति ही नहीं होती है। नित्य विविध-विधि से सम्भोग होता है। सखियाँ दोनों की काम-कला निपुणता की सराहना करती हैं।

सूरदास के अतिरिक्त वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्य कवियों ने भी रति का वर्णन किया है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के अतिरिक्त भक्त-कवि व्यासजी की वाणियों में भी शृंगार का उन्मुक्त रूप दीखता है। वे इस शृंगार की कामोत्तेजकता से स्वयं इतने अधिक अवगत हैं कि बार-बार इसे अपावन कहते हैं। उनकी राधा काम कला विशारदा है। उसे लोक-लज्जा का भय नहीं। उसे तो सुरत-युद्ध की चाट है। वह कृष्ण को काम-कला सिखाती है तथा इसी काम के द्वारा अपनी काया का पोषती है।

रति के वर्णन में नायिका को निर्वस्त्र करके उसके सौन्दर्य को देखने का कामोद्दीपन का राधा की लज्जा का तथा रति का उल्लेख है। यह रति, विपरीत और रति-रण आदि विविध रूपों में सुरत होता है।

राधा-कृष्ण के इन सम्भोग-वर्णनों को पढ़ने के बाद उन्हें प्रतीक मानना केवल क्लिष्ट कल्पना है। यह सत्य है कि कवियों के विश्वासानुसार राधा-कृष्ण प्रकृति और पुरुष हैं। किन्तु यह इससे भी अधिक सत्य है कि राधा-कृष्ण का यह केलि विलास आत्मा-परमात्मा का नहीं है। राधा-कृष्ण का मूल स्वरूप चाहे जो कुछ हो वे मूलतः स्त्री-पुरुष हैं। यह रास केलि सत्य है। राधा-कृष्ण सत्य हैं। यह केलि उन्हींकी है। इस केलि के द्वारा और किसीकी क्रीड़ा व्यक्त नहीं की गई है।

यदि इस क्रीड़ा को प्रतीक मानकर हम इसका सच्चा स्वरूप जानने का प्रयत्न करें तो हमें शीघ्र अपनी असफलता दृष्टिगोचर होगी। राधा-कृष्ण के प्रतीकात्मक अर्थ की तो कल्पना की जा सकती है किन्तु उनकी काम क्रीड़ा संभोग की एक-एक क्रियाओं और चेष्टाओं की व्याख्या असम्भव है। यथार्थ में वे वर्णन इतने स्पष्ट स्थूल और संवेदनात्मक हैं कि इनके पीछे के किसी संकेत की न तो हम कल्पना कर सकते हैं और न ही कवियों ने की होगी। वे मतलब सब कुछ मानने को तैयार हो जाएँगे यदि हम केवल राधा-कृष्ण के रूप को अक्षुण्ण रखें उनके अस्तित्व को मानें। जिस क्षण हम राधा-कृष्ण के रूप को केवल पुरुष-प्रकृति उनकी लीला को कल्पना मात्र तथा सांकेतिक मानने का आग्रह करेंगे उसी क्षण हम उनके विश्वासों पर आघात करेंगे। उनके लिए उनके इष्टदेव कायवी नहीं थे। वे कृष्ण राधा को पूर्ण साकार रूप में ही सदा भजते रहे यद्यपि उनके निराकार रूप से भी वे अनभिज्ञ नहीं थे। इस निराकार रूप की उपासना के लिए उन्होंने कभी भी स्वीकार नहीं किया। उनके कृष्ण तो आज भी वृन्दावन में गोचारण तथा रास करते हैं। आज भी मन्दिरों में उनके शयन-विश्राम के समय उनकी निद्रा में व्यवधान न पड़े इसका वे ध्यान रखते हैं। अपने इष्ट को इस प्रकार से भजनेवाले तमाम भक्तों से यदि पूछा जाए कि यह राधा-कृष्ण की रति का वर्णन प्रतीकात्मक है आत्मा परमात्मा का है तो शायद वे इसे स्वीकार करने को तैयार हो जाएँगे क्योंकि परमात्मा ही कृष्ण हैं। किन्तु यदि हम इसीको और आगे बढ़ाकर कहें कि कृष्ण वसकीनन्दन नटवर लीलासागर गोपी वल्लभ गोपाल नहीं हैं जिन्होंने जन्म लिया था गोचारण किया था रास किया था वे तो अचिन्त्य और अनित्य निराकार पुरुषोत्तम हैं कैसा उनका जन्म तथा कैसी उनकी लीलाएँ? इसी प्रकार राधा रानी वृषभानु सखी नहीं तुम स्वयं हो वे गीत जिन्हें तुम गा रहे हो वे तुम्हारी आत्मा और परमात्मा के मिलन के हैं। कहाँ और कब राधा-कृष्ण ने रति की थी? यह सब तो भ्रम है तो वे तत्क्षण नाराज हो जाएँगे इस प्रतीकात्मक व्याख्या का अस्वीकार कर देंगे। उन्होंने तो कभी यह सोचा भी नहीं था। उनके कृष्ण तो सगुण हैं। उन्होंने गोवर्धन पर

मटकियाँ फोड़ी हैं, कुंजों में राधा से रमण किया है, फिर वे कैसे राधा रानी बन सकते हैं? राधा रानी तो उनकी इष्टदेवी हैं। उनकी भावना की चरम परिणति तो राधा की सखियों में स्वीकार होकर उनकी रति की एक झलक मात्र देख लेना है। वह सखी भी भक्त स्वतन्त्र रूप में होना चाहता है। प्रतीकात्मकता के चक्कर में तो उसके हाथ कुछ भी न आएगा! उसमें न कभी वह भोला था और न ही राधा-कृष्ण की शृंगार-लीला से नवनीत आधुनिक भक्तों के हाथ वह इस प्रकार बिकना चाहता है कि गाँठ की पूँजी भी चली जाए। उसके कृष्ण असली कृष्ण हैं उसकी राधा असली राधा है। निकुंज में उनकी रति रति असली है। वे कोक-कला विशारद और विशारदा हैं। उनके प्रत्येक अंग मांसल हैं और रति रण में उनका उपयोग होता है। उनकी प्रतीकात्मकता यहीं तक है कि राधा कृष्ण का मूल स्वरूप ब्रह्ममय है वैसे ही जैसे हम सबका मूल स्वरूप आत्मा रूप है। इष्टरूप में वे यथार्थ और मांसल हैं सजीव हैं। उनका सम्भोग उनकी लीला है पर है सत्य। भक्त के लिए उनमें न काम है और न ही प्रतीक। अतः यदि हम कवि के दृष्टिकोण को देखें तो यह स्पष्ट होगा कि उसने कभी भी प्रतीक का आश्रय नहीं लिया। उसने इष्टदेव की रति-क्रीड़ा द्वारा किसी अन्य तत्त्व का संकेत नहीं किया। उन्हें प्रतीक समझना उनके प्रति अन्याय और भक्तों के मनोविज्ञान को न समझना है।

काव्य की दृष्टि से इन वर्णनों को पढ़कर अर्थ विस्तृत व्याख्या को देख कर, उनकी स्थूलता को अनुभव कर भी उन्हें प्रतीक समझना मोह है। जहाँ अनुभूति की तीव्रता का व्यक्तीकरण है वहाँ प्रतीक हैं किन्तु जहाँ वर्णन ही ध्येय है वहाँ प्रतीक की स्थिति संदिग्ध है।



प्रथम अध्याय

भक्ति-काव्य में प्रेम का स्वरूप

शृंगार का मूलाधार रति है। एकनिष्ठ होकर यह रति प्रेम का रूप धारण करती है। भक्त-कवियों ने इसकी महिमा इसके स्वरूप इसकी अनिर्वचनीयता इसके मार्ग की दुरूहता आदि पर बहुत-कुछ लिखा है। इसकी श्रेष्ठता और स्थिति शृंगार में मान्य तथा अनिवार्य है।

ज्ञानाश्रयी शाखा में प्राप्त प्रेम का स्वरूप

भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा में प्रेम की बड़ी महिमा गाई गई है। 'चुनरी' के रूपक से कबीर ने इसकी महत्ता स्पष्ट की है। भक्त-रूपी प्रेमिका के लिए प्रेमी भगवान द्वारा सँवारी यह चुनरी साधारण नहीं है। इस चुनरी का धारण करना भी साधारण काम नहीं है। प्रिय-भगवान ही जिस पर प्रसन्न हों जिस पर स्वयं ही यह चुनरी डाल दें वही इसे पा सकता है पहन सकता है। भगवान की प्रेम-रूपिणी यह चुनरी प्राप्त करना सौभाग्य है और इसे सँभालकर रखना हिम्मत का काम है। यह फूलों की सेज नहीं काँटों का बंधन है। इस प्रकार कबीर ने प्रेम-महिमा गाई है। (हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर पृ १८७-१८८)

कबीर का प्रेम एक वीर्यवती साधना है। भगवान की रहस्य केलि की एक पुकार ही भक्त के हृदय में मिलन की आकुलता और वियोग की व्याकुलता भर देती है। इसकी पीड़ा अतुलनीय तथा अवर्णनीय है। इसकी तुलना में चकवा चकवी का विरह हेय है। वे दोनों रात्रि में बार-बार तो मिलते हैं किन्तु राम के विरह मारे को वह मिलन कहाँ उपलब्ध है।

चकवी बिछुरी रैनि की आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुरे राम से ते दिन मिलें न राति॥
(कबीर ग्रन्थावली श्यामसुन्दर दास पृ० ..

इस विरह में न दिन में चैन और न रात में विश्राम है। सोते-जागते दिन रात धूप-छाँह कभी भी सुख नहीं मिलता है। राम विरहिणी उस चंद के

सभी पथिकों से प्रिय का पंथ पूछती है। उसकी एक ही शब्द सुनने की चाह रहती है कि प्रिय कब आकर मिलेगा।

बासरि सुख ना रैंण सुख ना सुख सुपनैं माँहि।
कबीर बिछुट्या राम सूं ना सुख धूप न छाँह॥
बिरहिनि ऊभी पंथसिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का कब रे मिलैंगे आइ॥ (वही पृ० ८)

प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कबीर ने इसकी तुलना बाण से की है। यह अंतर को छेद देता है। इसकी पीड़ा साधारण घाव से भिन्न और निराली है। भक्त इसकी मधुरता से ऐसा अभिभूत हो जाता है कि बार-बार भगवान से प्रार्थना करता है कि उसे इस बाण से छेद दिया जाए। यह बाण ही उसका जीवनाधार हो जाता है—

सर कमान सर साधि करि, खैंचि जु मार्‌या माँहि।
भीतर भिद्या सुमार ह्वै जीवै कि जीवैं नाँहि॥
जब हूँ मार्‌या खैंचि करि तब मैं पाई जाँणि।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छाँणि॥
जिहि सरि मारी काल्हि सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिनु सच पाऊँ नहीं॥
(वही पृ० ८-९)

यह प्रेम रसायन है। इसमें अनन्यता भरी रहती है। इसकी खुमारी कभी नहीं जाती है। यह प्रेम धीरता से पूर्ण होता है। इसमें प्रकृत आतुरता नहीं रहती है संतोष की प्रबलता रहती है—

राम मर्म सो जानिए जाके आतुर नाँहि।
सत संतोष लीयें धीरज मन माँहि॥ (वही पृ० २०९)

यह प्रेम त्याग के बिना नहीं हो सकता है। इसमें शीश काट कर रखना होता है। इसका मार्ग अगम्य है और यह अगाध है। यह खाला का घर नहीं है जहाँ रोने-मचलने से काम बन जाते हैं —

कबीर सो घुड़ साथ सिरध को सीस काटि कर सोइ॥ (पृ० १९)
कबीर निज घर प्रेम का मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै तब निकटि प्रेम का स्वाद॥ (पृ० ६९)

इस प्रेम की एक बड़ी विशेषता इसकी एकरसता है। यह न तो भावावेश में चंचल पड़ता है और न विरहाग्नि से बैठ ही जाता है। यह न तो क्षणिक आवेश में ज्ञान और कर्म की मर्यादा ही तोड़ता है और न ही निरंतर अभ्यास द्वारा जीवनहीन जड़-आचरण मात्र ही बन जाता है।

इस प्रेम-मार्ग में प्रिय की निष्ठुरता और भी अद्भुत है। प्रिय को दुःख ही प्रिय है। इस दुःख में ही सुख है। यह दुःख अभावजन्य न होकर भावजन्य है। इस दुःख में प्रिय का मार्ग देखते-देखते आँखों में झाईं पड़ जाती है। पपीहे की तरह 'पिउ-पिउ' रटने पर भी राम नहीं मिलते। इस रोने में पीड़ा और मिलन की आतुरता है —

> अँखड़ियाँ झाईं पड़ी, पथ निहारि-निहारि।
> जीभड़ियाँ छाला पड़्या राम पुकारि-पुकारि॥
> नैना नीझर लाइया रहट बहै निस जाम।
> पपीहा ज्यूँ पिव-पिव करौं कबरू मिलहुगे राम॥ (पृ० ९)
> कबीर हसणाँ दूरि करि रोवण सौं चित्त।
> बिन रोये क्यों पाइये प्रेम-पियारा मित्त॥ (पृ० ९)

निष्ठुर प्रिय की इस निष्ठुरता को सहना सरल नहीं है। इसीलिए कबीर ने प्रेम का आदर्श सती और सूरमा को माना है। यथार्थ में यह प्रेम शूर के संग्राम और सती आत्म-बलिदान से भी बढ़कर है। भगवद्-प्रेमी साधु, सती और सूरमा, तीनों ही काल के ऊपर बैठ जाते हैं फिर भी एकरस प्रेम का निर्वाह सती-सूरमा के व्रत-निर्वाह से कहीं अधिक कठिन है —

> काटि सीस सहजा सुगम सुगम खांग की धार।
> नेह निबाहन एकरस महा कठिन व्यवहार॥

(सत्य कबीर की साखी पृ० २२०)

प्रेम की इस स्थिति में मृत्यु भय दूर हो जाता है। सती का रूपक प्रस्तुत करते हुए कबीर कहते हैं कि जिसने हाथ में सिंधौरा ले लिया है वह मृत्यु से क्या डरे? ऐसे प्रेमी के लिए मृत्यु आनन्ददायक है। इसीके द्वार से ही होकर प्रेमी 'पूर्ण परमानन्द' के दर्शन करता है —

> अब तो ऐसी ह्वै पड़ी मन का रुचित कीन्ह।
> मरनें कहा डराइये, हाथि सिंधौरा लीन्ह॥
> जिस मरनें थैं जग डरै सो मेरे आनन्द।
> कब मरिहूँ कब देखिहूँ पूरण परमानन्द॥

(कबीर ग्रन्थावली पृ० ६९)

मृत्यु से ही प्रियतम की प्राप्ति होती है। इसलिए जीतेजी ही अपने को समर्पण कर देना चाहिए। इस मृत्यु द्वारा सीमित जीवन को पार कर असीम जीवन की प्राप्ति होती है। इस असीम की गोद में आना 'हद' से 'बेहद' होना है। यही प्रिय का प्रेम है। इसीलिए प्रेमी मृत्यु की परवाह नहीं करता बल्कि

उसे चाहता है। कबीर इसी बेहद—असीम के मैदान में पैर फैला कर सोये थे —

बेहद अगाधी पीव है ये सब हद के जीव।
जे नर राते हदसों ते कदी न पावें पीव॥
हद में पीव न पाइये बेहद में भरपूर।
हद-बेहद की गम लखे तासों पीव हजूर॥

तथा

हद छाँड़ि बेहद गया रहा निरन्तर होय।
बेहद के मैदान में रहा कबीरा सोय॥

(सत्य कबीर की साखी पृ० २६२ २६१)

कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम के जागरण का कारण भगवत्-कृपा के अतिरिक्त विषय-वासना-त्याग, कुसंग-त्याग, भजन, गुण-कीर्तनादि पूर्व जन्म संस्कारादि बतलाया है। साथ-ही-साथ गुरु-कृपा का भी उन्होंने उल्लेख किया है। गुरु भक्त के हृदय में विरहाग्नि प्रज्वलित कर देता है, विरह का बाण मार देता है और उसके संपूर्ण शरीर में दावाग्नि-सी फूट पड़ती है —

गुरु दाधा चेला जल्या बिरहा लागी आगि।
तिनका बपुड़ा ऊबर्‌या गलि पूरे के लागि॥

(कबीर ग्रन्थावली पृ० १२)

सतगुरु-मार्‌या बाण भरि धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघाड़ै लागिया गई दवा सूं फूटि॥

(वही पृ० ८)

इस विरहाग्नि और इसके प्रभाव का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि इसकी जलन सर्प-दंश-सी होती है। इसका निवारण असंभव है। ऐसा विरह का मारा या तो जीता नहीं बचता और यदि जीता बचता भी है तो बावला हो जाता है —

बिरह भुवंगम तन बसै मंत्र न लागै कोय।
राम बियोगी ना जिवै जिवै तो बौरा होय॥

ऐसा प्रेम-बावला गूँगा, पंगु, पागल सभी कुछ हो जाता है। वह न हँसता है न बोलता है, केवल अपने प्रेम रस में डूबा रहता है —

गूँगा हुआ बावला बहरा हुआ कान।
पाऊँ थै पंगुल भया सतगुरु मार्‌या बाण॥
हँसै न बोलै उनमनी चंचल मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतर भिद्या सतगुरु का हथियार॥

इस प्रेम-मार्ग में प्रिय की निष्ठुरता और भी अद्भुत है। प्रिय को दुःख ही प्रिय है। इस दुःख में ही सुख है। यह दुःख अभावजन्य न होकर भावजन्य है। इस दुःख में प्रिय का मार्ग देखते-देखते आँखों में झाईं पड़ जाती है। पपीहे की तरह 'पिउ-पिउ' रटने पर भी राम नहीं मिलते। इस रोने में पीड़ा और मिलन की उत्सुकता है —

> आँखड़ियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि-निहारि।
> जीभड़ियाँ छाला पड़या राम पुकारि-पुकारि॥
> नैना नीझर लाइया रहट बसै निस जाम।
> पपीहा ज्यूँ पिव-पिव करौं कबरु मिलहुगे राम॥　　(पृ० ६)
> कबीर हसना दूरि करि रोवण सो चित्त।
> बिन रोये क्यों पाइये प्रेम-पियारा मित्त॥　　(पृ० ९)

निष्ठुर प्रिय की इस निष्ठुरता को सहना सरल नहीं है। इसीलिए कबीर ने प्रेम का आदर्श सती और सूरमा को माना है। यथार्थ में यह प्रेम शूर के संग्राम और सती आत्म-बलिदान से भी बढ़कर है। भगवद्-प्रेमी साधु, सती और सूरमा, तीनों ही काल के ऊपर खेल जाते हैं फिर भी एकरस प्रेम का निर्वाह सती-सूरमा के व्रत-निर्वाह से कहीं अधिक कठिन है —

> आगि आँच सहना सुगम सुगम खड़्ग की धार।
> नेह निबाहन एकरस महा कठिन व्यवहार॥

(सत्य कबीर की साखी पृ० २२०)

प्रेम की इस स्थिति में मृत्यु भय दूर हो जाता है। सती का रूपक प्रस्तुत करते हुए कबीर कहते हैं कि जिसने हाथ में सिंधौरा ले लिया है वह मृत्यु से क्या डरे? ऐसे प्रेमी के लिए मृत्यु आनन्ददायक है। इसीके द्वार से ही होकर प्रेमी 'पूर्ण परमानन्द' के दर्शन करता है —

> अब तो ऐसी ह्वै पड़ी मन का किया चित कीन्ह।
> मरनें कहा डराइये, हाथि सिंधौरा लीन्ह॥
> जिस मरनें थैं जग डरै सो मेरे आनन्द।
> कब मरिहूँ कब देखिहूँ पूरन परमानन्द॥

(कबीर ग्रन्थावली पृ० ६६)

मृत्यु से ही प्रियतम की प्राप्ति होती है। इसलिए जीतेजी ही अपने को उत्सर्ग कर देना चाहिए। इस मृत्यु द्वारा सीमित जीवन को पार कर असीम जीवन की प्राप्ति होती है। इस असीम की याद में जाना 'हद' से 'बेहद' होना है। यही प्रिय का प्रेम है। इसीलिए प्रेमी मृत्यु की परवाह नहीं करता बल्कि

रहना चाहता है। कबीर इसी बेहद—असीम के मैदान में पैर फैला कर सोये थे —

बेहद अगाधी पीव है ये सब हद के जीव।
जे नर राते हदसों ते कदी न पावें पीव॥
हद में पीव न पाइये बेहद में भरपूर।
हद-बेहद की गम लखे तासों पीव हजूर॥

तथा

हद छाड़ि बेहद गया रहा निरंतर होय।
बेहद के मैदान में रहा कबीरा सोय॥

(सत्य कबीर की साखी पृ० २६२ २६१)

कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम के जागरण का कारण भगवद्-कृपा के अति-रिक्त विषय-वासना-त्याग, कुसंग-त्याग, अखंड भजन, गुण-कीर्तनादि, पूर्व जन्म संस्कारादि बतलाया है। साथ-ही-साथ गुरु-कृपा का भी उन्होंने उल्लेख किया है। गुरु भक्त के हृदय में विरहाग्नि प्रज्वलित कर देता है, विरह का बाण मार देता है, और उसके संपूर्ण शरीर में दावाग्नि-सी फूट पड़ती है —

गुरु दाधा चेला जल्या बिरहा लागी आगि।
तिनका बपुड़ा ऊबर्‌या गलि पूरे के लागि॥

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२)

सतगुरु मार्‌या बाण भरि धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि॥

(वही पृ० २)

इस विरहाग्नि और उसके प्रभाव का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि इसकी जलन सर्प-दंश-सी होती है। इसका निवारण असम्भव है। ऐसा विरह का मारा या तो जीता नहीं बचता और यदि जीता बचता भी है तो बावला हो जाता है —

बिरह भुवंगम तन बसै मंत्र न लागै कोय।
राम बियोगी ना जिवै जिवै तो बौरा होय॥

ऐसा प्रेम-बावला गूँगा, पंगु, पागल सभी कुछ हो जाता है। वह न हँसता न बोलता है, केवल अपने प्रेम रंग में रँगा रहता है —

गूँगा हूवा बावला बहरा हुआ कान।
पाऊँ थैं पंगुल भया सतगुर मार्‌या बाण॥
हँसै न बोलै उनमनी चंचल मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिद्या सतगुर कै हथियार॥

(वही, पृ० २)

इस बावलेपन में शरीर दीपक प्राण बाती और लोहू तेल बन जाता है तब कहीं जाकर प्रियतम के दर्शन होते हैं —

इस तन का दीवा करौं बाती मेल्यूँ जीव।
लोहू सींचूँ तेल ज्यौं तब मुख देखूँ पीव॥

ऐसा प्रिय का विरही निरंतर प्रिय का नाम करता है। वह बावला-सा दिखाई पड़कर भी सचमुच बावला नहीं होता। वह तो सुल्तान होता है —

बिरहा बुरहा मत कहौ बिरहा है सुलतान।
जिहि घट बिरह न संचरै सो घट सदा मसान॥

इस प्रकार कबीर का प्रेम साधनाजन्य अति कठिन त्याग-तपस्या-मग्नतायुक्त विरह-दुख से परिपूर्ण मृत्यु-वरण का संवाहक प्रिय से मिलानेवाला रसायन तुल्य और एकरस है। यही भक्तों का साध्य है।

प्रेमाश्रयी शाखा में प्राप्त प्रेम का स्वरूप

हिन्दी भक्ति की प्रेममार्गी शाखा तो प्रेम पर ही अवलम्बित है। अलौकिक सौन्दर्य भावना से परिपूर्ण यह प्रेम अतिमानवक समस्त विधि-निषेधों से परे और स्वयं प्रमाण है। इस तथ्य का उद्घाटन जलालुद्दीन रूमी ने निम्नलिखित शब्दों में किया है —

'हृदय की पीड़ा प्रेमी में प्रेम की अभिव्यक्ति कर देती है। इस हृदय की वेदना से किसी अन्य वेदना की तुलना नहीं की जा सकती है। प्रेम एक अलग ही रोग है जिसमें दैवी अनुभूतियाँ होती हैं। यही प्रेम हमें आगे ले जाता है। इसकी व्याख्या तर्क के सहारे नहीं की जा सकती है। प्रेम स्वयं ही अपना व्याख्याकार है। यह ठीक सूर्य के समान है। सूर्य अपना प्रमाण स्वयं है। प्रेम भी स्वयं प्रमाण है।"

प्रेम के इसी दिव्य स्वरूप का मौलिक विवेचन प्रेममार्गी भक्तों ने किया है। सामान्यतः सूफियों में तथा अन्यों में भी प्रेम के लौकिक तथा अलौकिक दो रूप माने जाते हैं। इश्क-मजाजी—इश्क-हकीकी से सभी परिचित हैं किन्तु इन भक्तों ने ऐसा कोई भेद स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने प्रेम-भाव को दिव्य माना है। इस प्रेम से ही मानव दिव्य है अन्यथा वह एक मुट्ठी राख ही तो है —

मानुस प्रेम भएउ बैकुंठी। नाहित काह छार एक मूँठी॥

(जायसी पद १६६)

यह प्रेम सौंदर्य पर आधारित है। प्रिय के अलौकिक सौंदर्य के दर्शन श्रवण से यह प्रिय के हृदय में उत्पन्न होता है। प्रेमाख्यानक काव्यों में नायक नायिका के मन में प्रेमारम्भ का कारण रति ही है —

हीरामन जौं कमल बखाना । सुनि राजा होइ भँवर भुलाना ॥
(जायसी पृ० ६४)

सुनि चित्रनि चितसारी माहीं देखि चित्र मुख रही भुलाई ।
सहस कला होइ हिये समाना, निरखि रूप चित भैल भुलाना ॥
(चित्रावली पृ० १२१)

पूर्व पुण्य फल आपु हमारा सखि पुनिम मुख देख तोहारा ।
पेम कोइ हिय लागा जोरे बिरह आग जिय लागा तोरे ॥
(मधु० पृ० १४)

प्रिय का यह अलौकिक सौंदर्य सार्वभौमिक प्रभाववाला है। संसार में कोई भी ऐसा नहीं है जो कि इसके प्रभाव से बचा हो ? उस सौन्दर्य को देखकर त्रिभुवन का मन डोलने लगता है —

भौंह धनुष जनि इंद्र सँकासा सब जग जीति सरग कहँ ताना ।
कौन सो बली जो न मारा तीनहुँ लोक एक हुंकारा ॥
(चित्रा पृ० १८०)

सब बानन्ह सब को को न मारा । बधि रहा सगरौं संसारा ॥
(पद्मावत पृ० १०४)

मनि सरूप गुड़ सीझुन ममोले जेहि देखत त्रिभुवन मन डोले ।
(मधुमालती पृ० १०)

ऐसे अलौकिक सौंदर्य से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है, किन्तु यथार्थ में दोनों में अभेद है। इस संसार में प्रेम को छोड़कर और कुछ भी सुन्दर नहीं —

तीन लोक चौदह खंड सबै परै मोहि सूझि ।
पेम छाँड़ि किछु और न लोना जौ देखौं मन बूझि ॥
(पद्मावत, पृ० ६६)

इस प्रेम और सौन्दर्य की अभेदता बतलाते हुए उसमान कहते हैं— 'जहाँ रूप है वहीं प्रेम भी है। रूप और प्रेम में शशि-बिम्ब हिम-जल का सम्बन्ध है। इस संसार में जहाँ भी रूप का प्रसार है वहीं उससे प्रेम का व्यवहार है। यदि ब्रह्मा ने रूप दिया है तो उसने नयनों को प्रेम-व्यापार भी बना दिया है। रूप दीपक की बत्ती है तो प्रेम उसका उजाला है। प्रेमी पतंग इसी पर अपने को जला देता है। रूप के लिए मृत्यु का आलिंगन सहज है। रूप का निवास प्रेमकी-कलिका में होता है। प्रेम के वशीभूत होकर भ्रमर उस पर अपने प्राणों को न्योछावर कर देता है। प्रेम और रूप का यह अभेद जैसा इन कवियों में उपलब्ध है वैसा अन्यत्र नहीं।

प्रेममार्गी कवियों ने प्रेम और रूप का अभेद बताते हुए विरह को प्रधानता

सार तत्त्व बतलाया है। जहाँ कहीं भी प्रेम है वहीं विरह है। यह विरह ही प्रेम में निहित अमृत-तत्त्व है —

जहाँ प्रेम तहँ विरहा जानहु। विरह बास जनि तपु करि मानहु ॥

(चित्रा पृ० ११)

पेमहि माँह विरह औ रसा। मैन के घर मधु अंमृत बसा ॥

(पद्मावत पृ० ११६)

उसमान अपनी चित्रावली में इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इस संसार में जहाँ भी ईश्वर ने निर्मल रूप-मुकुर का निर्माण किया है, वहीं प्रेम सूर्य ने विरह-अग्नि प्रकट कर दी है। जिस प्रकार आतशी शीशा सूर्य की किरणों को अपनी नाभि पर केन्द्रित कर अग्नि प्रज्वलित कर देता है उसी तरह सुन्दर रूप के हृदय में प्रेम द्वारा विरहाग्नि प्रज्वलित हो जाती है —

रूप मुकुर जहँ विधि सर्‌यो निरमल एहि संसार।
प्रेम सूर परतर कियो विरह अगिनि अवतार ॥

(चित्रा पृ० ३०)

इसीको व्याख्या करते हुए कवि कहता है कि जिस तन में प्रेमाग्नि प्रज्वलित होती है उसे विरह-पवन और अधिक सुलगा देता है। जहाँ प्रेम अंकुर फूटता है, वहीं विरह-जल उसे सींच-सींचकर और बढ़ा देता है। प्रेम-दीपक की बत्ती जहाँ दिखाई पड़ती है वहीं विरह उसे क्षण-क्षण उकसा देता है। इस प्रकार प्रेम और विरह सदा एक साथ रहते हैं और सम्मिलित प्रभाववाले हैं।

रूप की ही भाँति प्रेम और विरह भी सार्वभौमिक प्रभाववाले हैं। ये सृष्टि के आदि कारण हैं तथा संसार में इनसे कोई भी नहीं बचा है। उसके फंदे में जो पड़ा वह प्राण देकर भी न छूटा —

पेम फाँद जो परा न छूटा। जीउ दीन्ह बरु फाँद न टूटा ॥

(पद्मावत पृ० ६७)

उसमान ने दीपक-पतंग-प्रेम से इसकी तुलना कर कहा है कि प्राण देकर ही यह छूटती है —

गाँठी डोरी प्रेम की, कर सों जाइ न छूट।
दीपक प्रीति पतंग की प्रान दिये पै छूट ॥

(चित्रा पृ० ११४)

मंझन ने सर्वप्रथम प्रेम तथा उसके बाद सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई है। यह सृष्टि भी प्रेम से ही उत्पन्न हुई है —

प्रथमहिं लागि पेम अविरित, अब पाछे जो सकल सरीरहि।
उत्पति सिरिस्टि पेम तें आई, सिरिस्टि रूप भइ पेम सवाई ॥

(मधु पृ० ११)

विरह के सार्वभौमिक प्रभाव का उल्लेख जायसी ने किया है। उन्होंने कहा है कि विरह की अग्नि से ही सूर्य प्रज्वलित है तथा क्षण में स्वर्ग और क्षण में पाताल जाता है। इस ज्वाला के ही कारण स्थिर नहीं रहता है। इतना ही नहीं इस प्रेम के ही धुएँ से मेघ श्यामल हैं तथा राहु केतु, सूर्य और चंद्र दग्ध हैं —

बिरह की आगि सूर नहिं टिका, रातिहुँ दिवस जरा औ जिका ॥
खिनहिं सरग खिन जाइ पतारा थिर न रहै तेहि आगि अपारा ॥

(पदमावत पृ० १८०)

धुम्र परजारा बिरह कर पठा। मेघ साम भए धूम जो उठा ॥
दाढ़ा राहु केतु गा दाधा सूरज जरा चाँद जरि आधा ॥ (पदमावत १)

यह विरहाग्नि मानव शरीर को तपाकर कुन्दन करनेवाली है। विरहाग्नि में तपनेवाले मानव के समस्त मल जलकर नष्ट हो जाते हैं और वह व्यक्ति कुन्दन की तरह चमकने लगता है —

कंचन करइ अगिनि जरि जयऊ, बिरह अगिनि जरि कुन्दन भयऊ।

(चित्रा पृ० २६०)

तथा

बिरह अगिनि जरि कुन्दन होई निरमल तन पावै पै सोई ॥

(वही पृ० २७९)

अत, प्रेम और विरह को इसीलिए उसमान ने सृष्टि के तीन स्तम्भ माना है —

जग प्रेम बिरहा जगत मूल सृष्टि के खम्भ ॥ (चित्रा पृ० ११)

सूफी कवियों ने जहाँ प्रेम की इतनी महिमा गाई है वहाँ उन्होंने प्रेम-मार्ग की कठिनता का भी वर्णन किया है। इस संसार में प्रेम करना सरल नहीं है। इसका मार्ग अत्यन्त कठिन है। त्याग और बलिदान इसके अनिवार्य अंग हैं। यह पंथ शूलों से घिरा हुआ और खड्ग की धार से भी तीक्ष्ण है। इस मार्ग पर सिर देना पड़ता है। इसका फन्दा एक बार पड़ने के बाद फिर छूटता नहीं है और जिसकी गर्दन में यह पड़ जाता है वह प्राण ही लेना चाहता है। प्रेम की स्थिति मृत्यु से भी कठिन है क्योंकि मृत्यु तो क्षण भर में हो जाती है किन्तु प्रेमी को विरह क्षण-क्षण दग्ध करता रहता है —

'प्रेम ही वासना के भयंकर सर्प का विनाशक है। वही हमें उस ज्ञान के द्वार पर ले जाता है जिसकी प्राप्ति किसी पाठशाला में नहीं होती है। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं, 'प्रेम की ज्वाला ने ही मुझे प्रज्वलित किया है। उसकी सुरा ने ही मुझे पागल बनाया है। तुम नरमुण्ड के बाजे को सुनकर सीख लो कि प्रेमी किस प्रकार अपना रक्त बहाता है। राबिया ने इस प्रेम-तत्त्व का वर्णन इस प्रकार किया है हे नाथ! तारे चमक रहे हैं। लोगों की आँखें मुँद चुकी हैं। सम्राटों ने अपने द्वार बन्द कर लिए हैं। प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रिया के साथ एकांत सेवन कर रहा है और मैं आपके साथ अकेली हूँ। हे नाथ! मैं आपसे द्विधा प्रेम करती हूँ। एक तो मेरा यह स्वार्थ है कि मैं आपके अतिरिक्त अन्य की कामना नहीं करती। दूसरे मेरा यह परमार्थ है कि आप मेरे पर्दे को मेरी आँखों के सामने से हटा देते हैं ताकि मैं आपका साक्षात्कार करके आपकी सुरति में निमग्न हो सकूँ।

इस आध्यात्मिक सुरा और सुरति का उल्लेख इस प्रेम-साहित्य में काफी हुआ है। इस प्रेम-सुरा का वर्णन जायसी ने रत्नसेन द्वारा सविस्तार कराया है। रत्नसेन कहता है हे प्रिये सुनो। प्रेम की सुरा पी लेने से हृदय में मरने-जीने का भय नहीं रहता। जहाँ मद है वहाँ होश कैसा? पीनेवाला या तो मतवाला रहता है या खुमार की हालत में सदा रहता है। इस भेद को वही जानता है जो पीता है। पीने से बार-बार बेसुध होकर भी वह अघाता नहीं है। जिसे एक बार मधु का लोभ हो जाता है वह उसके बिना नहीं रह सकता है उसे बार बार चाहता है। उसके लिए धन दौलत सब कुछ बहा देता है और कहता है भले ही सब चला जाय पीना न छूटे। वह रात-दिन रस में डूबा रहता है। न लाभ देखता है न हानि। प्रातः होते ही उसका शरीर हरा भरा हो जाता है तथा उसमें नव उत्साह आ जाता है मानो नशा उतरने पर खुमारी की दशा में उसे ठंडा पानी मिल गया हो। वह कहता है कि एक बार में ही पूरा प्याला भर दो बार-बार कौन माँगेगा। कवि कहता है कि जिसकी बारी चूक गई है वह इस प्रकार कैसे न माँगे। (पद्मावत पृ० १२०)

यह प्रेम-सुरा जिसके हृदय में होती है वह अन्य सभी की ओर से उदासीन रहता है —

प्रेम-सुरा जेहि के जिय माहाँ। कत बैठे महुआ की छाहाँ॥

(पद्मावत पृ० १२४)

इस प्रेम-सुरा का नशा बड़ा गहरा होता है। दूसरी बार पीने से आदमी १ हो जाता है। (पद्मावत पृ० ११८)। रत्नसेन योगरूप का वेला होते हुए भी

इसका एक प्याला पीते ही उसके वश में हो गया। सुजान भी इसी मद को पीकर मतवाली रहती थी। इसी प्रेम-सुरा से व्याकुल होकर मधुमालती पक्षी होने पर भी दिन रात प्रिय को खोजती फिरती थी —

धूमत फिरत हेरत दिन-राती पेम-सुरा व्याकुल मदमाती ॥

(मधु, पृ० १०७)

प्रेम-सुरा का यही मादक प्रभाव ही प्रेमी को प्रेम-पथ के सभी संकटों को सहने की शक्ति प्रदान करता है।

प्रेम-सुरा जहाँ प्रेमी को समस्त संकटों को सहने की सामर्थ्य देती है वहीं प्रिय की सुरति—प्रेमी के ध्यान को सदा एकनिष्ठ किए रहती है। यही सुरति ही प्रेमी के प्राणों का पोषण करती है और वह सदा प्रिय की रट लगाया करता है। प्रेम-मदिरा में मूर्च्छित रतनसेन को मरती बार भी उसीकी धुनि लगी थी —

बिसरी सबै कुटुम बैरागी। मरतिहु बार वहै धुनि लागी ॥ (पद्मावत पृ० १६४)

पद्मावती भी निरन्तर प्रिय की ही रटना लगाए रहती थी—

पिउ-पिउ करत रात-दिन पपिहा पर मुख सूख ॥ (पद्मावत, पृ० २८६)

सुरति की इस स्थिति में शरीर का रोम-रोम प्रिय का नाम लेता रहता है। सूली दिये जाते समय रतनसेन ने इसी तथ्य का उद्घाटन इन शब्दों में किया था —

मैं हर श्वास में उसीका स्मरण करता हूँ—मरते और जीते—दोनों अवस्थाओं में जिसका हो चुका हूँ। मैं उस रानी पद्मावती का स्मरण करता हूँ जिसके नाम पर मेरा यह जीवन निछावर है। मेरी काया में जितनी रक्त की बूँदें हैं वे सब 'पद्मावती-पद्मावती' ही कहती हैं। यदि मैं जीवित रहा तो मेरे एक-एक बूंद रक्त में उसी पद्मावती का ध्यान है। यदि सूली पर चढ़ूँगा तो उसीका नाम लेकर मरूँगा। मेरे शरीर का रोम रोम उसीने लिया है। प्रत्येक रोम-कूप बेधकर जीव उसके द्वारा मुक्त किया गया है। मेरी हड्डी-हड्डी में यही 'पद्मावती-पद्मावती' शब्द हो रहा है। मेरी नस-नस में उसीकी ध्वनि उठ रही है। उसके विरह ने शरीर के भीतर की मज्जा और मांस को खा डाला है। मैं तो एक ठठरी मात्र रह गया हूँ। उसमें वह रूप बनकर समाई हुई है। (पद्मावत २६२)। सुजान-चित्रावली तथा मनोहर को भी अपने प्रिय की सदा रट लगी रहती थी।

प्रेम की अवस्थाएँ

रहस्यवादी सूफी-साधना की पाँच अवस्थाएँ हैं। प्रेमाख्यानक काव्यों में कथा-विकास क्रम में इन अवस्थाओं का ध्यान रखा गया है। ये अवस्थाएँ निम्नलिखित हैं —

नहीं रहती है। वह मोक्ष भी नहीं चाहता है। प्रिय ही ऐसे प्रेमी का आहार तथा शरीर होता है। वह अपने प्रिय के लिए प्राण तक देना चाहता है। यह प्रेम मर मिटने पर भी नहीं मिटता है।

इस अनन्य प्रेम के अनेक उदाहरण हैं जिनमें चातक और मीन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि तीनों लोक और तीनों कालों में कीर्ति अनन्य प्रेमी चातक को ही प्राप्त होती है—

> तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही कें माथ।
> तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥
>
> (दोहावली २८८)

इसीके साथ-साथ मीन के प्रेम का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं —

> सुलभ प्रीति प्रीतम सबै कहत करत सब कोइ।
> तुलसी मीन पुनीत तें त्रिभुवन बड़ो न कोइ॥
>
> (वही १२०)

इसके अतिरिक्त अनन्य एवं एकांगी प्रेम के अन्य आदर्श सर्प मृग कमल और मयूरशिखा हैं। गोस्वामीजी ने गोपियों को भी अनन्य प्रेम का आदर्श माना है।

गोस्वामीजी ने प्रेम-स्वरूप-वर्णन में उसके सातत्य पर विशेष बल दिया है। प्रिय की चाह और प्रेम के विकास के लिए ही प्रेमी निरंतर प्रेम की याचना करता है तथा प्राप्त प्रेम की भी अवहेलना करता है —

> तुलसी कें मत चातकहि केवल प्रेम पियास।
> पियत स्वाति जल जान जग जाचत बारह मास॥

तथा

> (वही १०८)
>
> चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि।
> प्रेम-तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि॥
>
> (वही, २७९)

प्रेम और बैर का अंधा होना लोक-प्रसिद्ध है। गोस्वामीजी ने भी प्रेम के स्वरूप में उसका अंधा होना बतलाया है। यदि प्रेम अंधा न होता तो वह अपने प्रेमी के दोष को कैसे न देखता —

> तुलसी बैर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि।
> सुरा सेवरा आदरहिं निंदहिं सुरसरि बारि॥
>
> (वही, १२५)

इस प्रेम में कोई नियम नहीं है। गोस्वामीजी ने प्रेम को नेम से बड़ा माना है —

बढ़ि प्रतीति गठिबंध तें बड़ो जोग तें छेम ।
बड़ो सुसेवक साइँ तें बड़ो नेम तें प्रेम ॥ (वही, ४७१)

इस प्रेम-मार्ग की सूक्ष्मता बतलाते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि यह अति सूक्ष्म है। इसको समझना सबके बस की बात नहीं है। सांसारिक व्यक्ति तो इसे समझ ही नहीं सकते तभी तो वे चातक को पापी और मेघ को मूढ़ तक कह देते हैं। इस प्रेम को तो प्रह्लाद की दशा पर ही विचार कर समझा जा सकता है —

प्रेम न परखिय परुषपन पयद सिखावन एह ।
जग कह चातक पातकी ऊसर बरसै मेह ॥
होइ न चातक पातकी जीवन दानि न मूढ़ ।
तुलसी गति प्रहलाद की समुझि प्रेम पथ गूढ़ ॥

(वही, २९८-२९९)

यह प्रेम का पंथ सूक्ष्म और कठोर ही नहीं है विलक्षण भी है। इसमें प्रेमी के प्रेम को देखकर प्रिय ही उसका ऋणी हो जाता है। सामान्यतः याचक दानी का ऋणी होता है किन्तु इस मार्ग में तो दानी ही याचक का ऋणी हो जाता है —

प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि ।
जाचक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ो दानि ॥ (वही २८९)
को को न ज्यायो जगत में जीवनदायक दानि ।
भयो कनौड़ो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि ॥ (वही २९१)
साधन साँसति सब सहत सबहि सुखद फल लाहु ।
तुलसी चातक जलद की रीझि-बूझि बुध काहु ॥ (वही २९२)

यह प्रेम-पथ बाधाओं से भरपूर है। इसमें कुतर्क संशय काम क्रोध लोभ राग-द्वेष कुसंग आदि बाधाएँ हैं। इन सबका गोस्वामीजी ने अनेक रूप में उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि यदि माता पिता आदि भी इस पंथ में बाधक होवें तो उन्हें भी त्याग देना चाहिए। इन सबका त्याग कर ही मानव इस पथ में आगे बढ़ सकता है। समष्टि रूप में इन सभी बाधाओं को 'प्रपंच' कहते हैं जिससे प्रेमी को तुरन्त बचना चाहिए —

प्रेम सरीर प्रपंच रुज उपजी अधिक उपाधि ।
तुलसी भली सुबैदई बेगि बाँधिए ब्याधि ॥ (वही २४२)

प्रेम का यह स्वरूप मानस में पार्वती-महादेव तथा सीता राम के प्रति प्रेम-रूप में प्रकट हुआ है। जिस समय सप्तर्षि पार्वती की परीक्षा लेने गए और उन्होंने महादेव के अनेकानेक अवगुणों की तालिका प्रस्तुत की उस समय पार्वती का उनको दिया गया उत्तर उनके प्रेम का द्योतक है —

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥ (बाल०, ८०)

इसी प्रकार जब वनवास के समय राम जानकी को अयोध्या में रहने का उपदेश देते हैं उस समय वे कहती हैं कि प्रिय-वियोग-सदृश दुख संसार में नहीं है तथा प्रिय के साथ ही समस्त सुख रहते हैं —

मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥

× × ×

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुर सदन सम परनसाल सुख मूल॥

(बाल० ६४-६५)

इस रूप में यह प्रेम अनन्य एकांगी सूक्ष्म विलक्षण और अति महिमावान है।

कृष्णाश्रयी शाखा में प्राप्त प्रेम का स्वरूप

कृष्णाश्रयी शाखा में प्रेम की प्रेरणा पर्याप्त है किन्तु इसका शास्त्रीय विवेचन अल्पस्थ है। इस साहित्य में मुख्य है प्रेमाधार पर निर्मित प्रिय प्रिया की अति मनोहारिणी संयोग तथा वियोग की अभिव्यक्तियाँ।

प्रेम की महिमा सभी कृष्ण-सम्प्रदायों में मान्य है। वल्लभ राधावल्लभ निम्बार्क आदि सभी संप्रदायों में इस महिमा का अंकन है। वल्लभ-संप्रदाय में इसकी महिमा सिद्ध करने के लिए सम्पूर्ण 'भ्रमर-गीत' प्रसंग ही है। इसके अतिरिक्त 'भगवान प्रेम के वश में हैं' 'यह परम पुरुषार्थ है' आदि कथन अनेकानेक स्थलों पर प्राप्त हैं। राधा-वल्लभ संप्रदाय में नित्य-विहार के विधायक चार तत्वों में से एक प्रेम-तत्व ही प्रधान रूप से विराजमान है और विहार भावना का पोषक है। इस प्रेम के सम्मुख नवधा भक्ति भी महत्वहीन है —

महामाधुरी प्रेम रस जाके जिहि उर माहिं।
नवधा हू तिहि दर्प नहिं नेम तर्क विधि जाहिं॥

(ब्यालीस लीला पृ० ६६)

स्वामी हरिदास ने अपने अष्टादश सिद्धान्त के पदों में प्रेम की महिमा इसे अथाह समुद्र जिसका घाट लगना असंभव है कहकर प्रगट की है —

प्रेम समुद्र रूप रस गहरे कैसे लागे घाट॥ (पद १८)

इसी संप्रदाय के श्री बिहारिनिदास ने प्रेम की महिमा अनेक रूपों में व्यक्त की है। कहीं इसे सब श्रुतियों का सार—'सबही श्रुति को सुखसार बिहार सिंगार सुमेर सो पाई यहाँ'—कहा है और कहीं सब सारों का सार तथा सब तत्त्वों का तत्त्व कहा है—

सब सारनि को सार सुनि सब तत्त्वन को तत्त्व।
श्री बिहारिनिदासि अनन्य मत कह्यौ समस्त इकत्त्व॥

कबीर के स्वर में स्वर मिलाते हुए उन्होंने कहा है कि इसके एक अक्षर को पढ़े बिना समस्त ज्ञान बेकार है। प्रेम-ज्ञान बिना सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता है—

पंडित पढ़ि-पढ़ि पच मरे पढ़्यो न अक्षर एक।
बोझ मरें सिर भार ही उपज्यो नाहिं विवेक॥

इस प्रेम की महिमा का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि इस प्रेम-प्रेरित विहार के दर्शन के लिए लक्ष्मीपति विष्णु तथा राम-कृष्ण ललचाते रहते हैं और उनका इसमें प्रवेश नहीं है

बिहारीदास बिहार को लक्ष्मीपति ललचाहिं।
ए ऐक-विलास जोनें फिरें इहाँ राम-कृष्ण न समाहिं॥

निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रेम का वर्णन करते हुए श्री भट्टजी कहते हैं कि मन वचन और कर्म से भी जो दुर्लभ कृष्ण हैं, वे भी इसी प्रेम के वश होकर राधा के चरण छूते हैं —

मन बच क्रम दुर्लभ सदा ताहू के चरण छुवात।
राधे तेरे प्रेम की कहि आवै नहि बात॥

(युगल शतक ६)

महावाणीकार श्री हरिव्यास देवाचार्य ने इस प्रेम को ऐश्वर्यमय मर्यादातीत परमधर्म कहा है और इसे निगमागम तथा नेम प्रेम से भी परे बताया है —

ऐश्वर्य माधुर्य की बरनैं को विस्तार।
परमधाम राधे जहाँ आश्चर्यमई अपार॥

(महावाणी सिद्धांतसुख ६)

तथा

निगम नियम आगम अगम नाहि न लखै गुन पंथ।
नेम प्रेम ते पर कह्यो परमपरा को पंथ॥
रीति भयो मारग कहे नेम अरु प्रेम को पर कह्यो परा को परम पर पंथ।
निगम को निगम अरु आगम आगमन को नाहि समरस गुन गान में ग्रंथ॥

(वही पृ० १०)

गौड़ीय वैष्णव भक्तों में हुए हिन्दी के कवियों में प्रेम के माहात्म्य को स्पष्ट व्यक्त करनेवाले पद प्राप्त नहीं हैं किन्तु उनमें सर्वत्र प्रेम की महिमा प्रतिभासित होती रहती है। राधा-कृष्ण की संपूर्ण लीला केलि की यह मूल प्रेरणा है और इससे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

विभिन्न कृष्ण-संप्रदायों में अभिव्यक्त प्रेम के स्वरूप में बड़े अंशों में समानता होते हुए भी विरह के आधार पर सूक्ष्म विभेद भी है। वल्लभ और गौड़ीय संप्रदायों में विरह की विशेष स्वीकृति है जबकि राधावल्लभ हरिदास एवं निम्बार्क संप्रदायों में स्थूल विरह को उतनी महत्ता नहीं प्राप्त है। सूरदास ने बिना विरह के प्रेम को स्वीकार नहीं किया है --

विरह दुख जहँ नाहिं जबहूँ तहँ न उपजै प्रेम। (सूरसागर, ४०११)

तथा

ऊधो विरही प्रेम करे।
ज्यों बिनु पुट पट गहत न रंग कौ रंग न रसै परै॥ (वही ४१०४)

राधावल्लभ तथा सखी संप्रदाय में स्थूल विरह के लिए स्थान ही नहीं है। यहाँ प्रेम की स्थिति मिलने बिछुड़ने से परे की है। उसमें रूप-सौंदर्य का निरंतर पान चलता रहता है --

महा प्रेम निज मधुर अति सबतें न्यारो आहि।
यहाँ न मिलिबो बिछुरिबो जीवत नयहि चाहि॥

(ध्रुवदास ब्यालीस लीला, पृ० ९१)

इस सूक्ष्म अंतर के बाद हम कह सकते हैं कि कृष्ण-काव्य में व्यक्त प्रेम सहज सच्चा और नवल है। इसकी सहजता इसके स्वाभाविक होने में सच्चाई स्वार्थरहित होने में और नवलता नित्य नई नाम होने में है।

कृष्ण से उनकी प्रेमिकाओं का प्रेम एकनिष्ठ है। इस एकनिष्ठा क उल्लेख वल्लभ-संप्रदाय में ही है। गौड़ीय कवियों ने इसका उल्लेख नहीं किया है अन्य संप्रदायों में उसकी आवश्यकता ही नहीं है। उनमें राधा के प्रेम की ए निष्ठा स्वयंसिद्ध है। सूरदास ने राधा और गोपियों के प्रेम की एकनिष्ठा क चित्रण करते हुए कहा है कि कृष्ण के श्याम रंग में पगकर राधा ने समस्त र और निगमों को छोड़ दिया है। नारियों ने अपने घर और शरीर की सुधि बिसा कर दी है। लाज-लज्जा छोड़ दी है। (सूर २२२७--२२३०) । वल्लभ-संप्रद में भ्रमर-गीत का प्रसाद भी इसी एकनिष्ठ प्रेम का व्यंजन करनेवाला है।

एकनिष्ठ प्रेम के आदर्शों में गोपियाँ सर्वप्रथम हैं। सूर, नन्ददास परमानन्ददास आदि ने गोपियों की महत्ता के गीत गाए हैं। परमानंद का एक ऐसा ही पद निम्नलिखित है —

> गोपी प्रेम की ध्वजा।
> जिन गोपाल कियो बस अपने उर धरि स्याम भुजा॥
> सुक मुनि व्यास प्रसंसा कीनी ऊधौ संत सराही।
> भूरि भाग्य गोकुल की बनिता अति पुनीत भव माँही॥
> कहा भयो जो बिप्रकुल जनमो जो हरि सेवा नाँही।
> सोई कुलीन दास परमानन्द जो हरि सन्मुख जाई॥
>
> (परमानन्दसागर, ८२१)

प्रेम के अन्य आदर्शों में चातक दीप, पतंग चकोर मीन सारस आदि हैं। इन आदर्शों में भी दो वर्ग हैं। चातक पतंग मीन आदि 'एकांगी प्रेम' के आदर्श हैं। इनके द्वारा गोपियों और राधा के प्रेम की अभिव्यक्ति उत्कृष्ट रूप में होती है। सारस-युग्म और चकवा-चकवी 'सम प्रेम' के आदर्श हैं और उनका उल्लेख राधावल्लभ संप्रदाय में हितहरिवंशजी ने राधा-कृष्ण के प्रेम की विलक्षणता बतलाने के लिए किया है। ये सभी आदर्श कवि प्रसिद्ध हैं तथा एकनिष्ठ प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति करने में समर्थ हैं।

इस धारा के एकांगी प्रेम का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। फिर भी इस साहित्य में प्रेम के एकांगीपन से अधिक महत्त्वपूर्ण उसका अन्योन्याश्रयत्व है। एकांगी प्रेम विशेषतः गोपियों में परिलक्षित होता है किन्तु वह भी पूरा-पूरा एकांगी नहीं है। कृष्ण-उद्धव वार्तालाप इसका प्रमाण है। यथार्थ में वल्लभ-संप्रदाय में विरह की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए कृष्ण की निष्ठुरता का उल्लेख किया गया है अन्यथा कृष्ण और गोपी तथा राधा की प्रीति समान तथा पारस्परिक है। अन्य संप्रदायों में दोनों की प्रीति बराबर की मानी गई है। दोनों में तनिक भी अंतर नहीं है। दोनों एक प्राण दो देह हैं। मन वचन और कर्म से दोनों एक हैं। सखी संप्रदाय में दोनों को एक तने की दो डालों के रूप में व्यक्त किया गया है —

> बहुत भाँति हमरी कहूँ श्री बिहारिनदास बिचार।
> बिलसत बिपिन प्रानिमनै एक तना द्वै डार॥

राधा-कृष्ण का प्रेम समान होते हुए भी किसी संप्रदाय में कृष्ण को और किसी में राधा को प्रेम का आलंबन माना गया है। वल्लभ राधावल्लभ निम्बार्क और गौड़ीय संप्रदायों में कृष्ण प्रेम के आलंबन हैं —

यद्यपि दोउन की लगन सब मिलि कहूँ समान।
पै प्यारी महबूब है आशिक प्यारो जानि।

(वल्लभ रसिक)

सखी-संप्रदाय मे प्रेम का आलंबन राधा है। कृष्ण सदा राधा के प्रेम के याचक रहते हैं उनसे भयभीत रहते हैं–

प्यारी जू एक बात को मोहि डर आवत री
मति कबहुँ कुमया करि चाहि ॥ (केलिमाल, ७८)

कृष्ण भक्तों ने प्रेम का रूप सरोवर-तुल्य माना है जिसकी ओर प्रेमी समस्त बन्धनों को तोड़कर दौड़ता है। यह पयोधि है जिससे दोनों प्रेमी निकल नहीं पाते अष्ट-याम डूबते-उतराते रहते हैं। स्वामी हरिदास ने इसे मदिरा-तुल्य माना है जिसे पीकर प्रेमी मतवाला और दीवाना हो जाता है। इस प्रेम-मद को कभी-कभी प्रेमिका स्वयं प्रेमी को पिलाती है।

कृष्ण भक्तों ने राधा-कृष्ण के प्रेम के सम्बन्ध में 'काम' शब्द का प्रयोग कई बार किया है पर साथ ही साथ इसे लौकिक काम से भिन्न माना है। यह प्रेम लौकिक काम को मथनेवाला है। जिस काम का इन सम्प्रदायों में उल्लेख हुआ है वह प्रेम का पोषक विहार का प्रेरक और अलौकिक है। सखी-सम्प्रदाय के श्री ललितकिशोरीदेव ने इसका स्वरूप निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है –

जहाँ काम तहँ प्रेम है जहाँ प्रेम तहँ काम।
इन दोउन की संधि में विलसत स्यामास्याम।
विछुरन देत न प्रेम है जयति जयति सुकाम।
रस सागर विलसत रसिक रोम रोम अभिराम ॥
परम जु कहिए प्रेम रस परस केलि सुख काम।
गौर स्याम आसक्ति अति रोम-रोम अभिराम ॥

इस प्रकार इनके अनुसार प्रेम और काम सदा साथ रहते हैं। प्रिय-प्रिया को परस्पर सम्बद्ध रखनेवाला कभी न बिछुड़ने देनेवाला भाव प्रेम है। आकर्षण का अभिव्यक्त रूप प्रेम है। इससे भिन्न अंग-अंग में जो उमंग भरी है तथा जो स्पर्श और केलि का सुख है उसे काम कहते हैं।

जहाँ प्रेम है वहाँ नेम नहीं रहता है यह सभी सम्प्रदायों ने माना है। गोपियों तथा राधा ने प्रेम के लिए ही समस्त लोक-मर्यादाओं का त्याग किया था। जिन सम्प्रदायों में नित्य-विहार की कल्पना है उन्होंने भी प्रेम में नेम के न रहने की बात कही है। इस भाव का विहारविलास का एक पद उल्लेखनीय है —

मन प्रेम तो नेम रह्यो न जिया।
यम संयम विवेक बँधे व्रत तो लखि को परस्यो न हिया।

पुनि पावत ही सुख स्वाद कछू बिसरे सुख नेह किया न किया।
श्री बिहारिनिदास मनोहर की सुख सर्वस श्री हित हाथ दिया।
कोउ कैसिये कोटि कहौ सुख की मन प्रेम ही नेम रहै न हिया॥

राधावल्लभ सम्प्रदाय में विहार की स्थिति में प्रेम और नेम का एक नवीन ही अर्थ प्रस्तुत किया गया है। विहार की स्थिति में प्रिया प्रियतम की क्रीड़ाएं 'नेम' हैं तथा उनकी आत्मविभोर की स्थिति 'प्रेम' है। दूसरे शब्दों में प्रेम शाश्वत त्रिकालातीत और सदा एकरस रहनेवाला तत्त्व है। नेम विहार की स्थिति में आदि से अन्त तक युक्त एक ऐसा धर्म है जो प्रेम को व्यवहार्य बनाता है। जिन क्रियाओं द्वारा प्रेम पहचाना जाता है वे सब नेम हैं। प्रेम-नेम की यह व्याख्या केवल इसी सम्प्रदाय में है।

प्रेम की स्थिति में धर्माधर्म का भेद ही नहीं मिट जाता बल्कि धर्म अधर्म और अधर्म धर्म तक बन जाता है —

अधरम धरम धरम जहाँ अधरम ऐसी कछुक रसिकता आहि।
(वल्लभ रसिक)

प्रेम में तत्सुख भाव की प्रधानता है। तत्सुख का अर्थ है अपने सुख के स्थान पर प्रिय के सुख का ध्यान। उसी के सुख में सन्तोष और तुष्टि है। राधा और कृष्ण को एक-दूसरे के सुख का ही विशेष ध्यान रहता है। स्वार्थ और अहंकार का वहाँ नाम नहीं है। यही तत्सुख भाव राधावल्लभ सम्प्रदाय का मूलाधार है। हितचौरासी का प्रथम पद इसी भाव का द्योतक है। सखी-सम्प्रदाय में भी तत्सुख की ही महत्ता है। वहाँ अन्तर इतना ही है कि कृष्ण अपने समस्त अहंकार को नष्ट कर प्रिया के प्रेम की आकांक्षा करते हैं तथा प्रीति की रीति जाननेवाली प्रिया उन्हें उनकी सामर्थ्य के अनुकूल ही रस का पान कराती हैं।

कृष्ण भक्ति के वल्लभ-सम्प्रदाय ने प्रेम-पथ को ईश्वर प्राप्ति का सरलतम मार्ग कहा है। सूरदास ने इसे राजपथ तथा सीधा मार्ग (सूरसागर ४२०८) कहा है। सम्पूर्ण भ्रमर-गीत की रचना ही योगमार्ग की जटिलता व प्रेम-मार्ग की सरलता और श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए की गई है। हृदय-पक्ष की प्रधानता के कारण इसकी सरसता असंदिग्ध मानी गई है फिर भी कहा गया है कि इसको निबाहना सरल नहीं है। इसीलिये परमानन्ददास ने इसे अति कठिन मार्ग बताया है जिसमें पैर रखते ही मन खीजने लगता है (परमानन्द सागर, ५१६)। व्यासजी ने इसे तलवार की धार-तुल्य माना है। अन्य कवियों ने भी इसे कठिन बतलाया है। इसकी चोट बाण से भी अधिक होती है।

इस प्रेम में विरह मिला हुआ है। इससे व्याकुलता उत्पन्न होती है और

प्रकृति दुखदायी तथा संसार सूना लगने लगता है। इस प्रेम में प्रेमी से मिले बिना पीड़ा कम नहीं होती तथा मृत्यु तक नहीं सुहाती है। यह नित्य वर्द्धमान है। इसकी पीड़ा वही जानता है जिस पर बीतती है अथवा प्रिय ही जानता है। गूंगे बालक के समान इस पीड़ा को सहना पड़ता है।

इस प्रेम की चाल भी अटपटी है। बिना मिले तो वियोग ही है पर मिलने पर भी प्रतीत नहीं होती है। इस मिलन के प्रत्येक क्षण में वियोग-संयोग की आँखमिचौनी चलती रहती है —

बिरह संजोग छिनहिं छिन माँही। जदपि पीवनि सैनै जाँही॥

(प्रबवास)

यह विरह भी अटपटा है। इसे सुनकर विस्मय होता है। इसमें प्यासा जल न पीकर जल ही प्यास को पी रहा है प्यास ही जल हो गई है —

अटपटी भाँति को विरह सुनि सुनि रहो सब कोइ।
जल पीवत है प्यास को प्यास भयो जल सोइ॥

(प्रबवास)

संक्षेप म हम कह सकते है कि कृष्ण भक्ति धारा में प्रेम की विस्तृत अभिव्यक्ति हुई है। यह विलक्षण एकनिष्ठ सम संयाग वियोग से परिपूर्ण नित्य नूतन और वर्द्धमान है। इसका स्वरूप और इसकी महिमा अकथनीय है।

रसखान में प्रेम की अभिव्यक्ति

प्रेम के स्वरूप का यह विवेचन रसखान तथा मीरा के काव्यों में उपलब्ध प्रेम-स्वरूप के बखान बिना अधूरा ही रह जाएगा। अतएव सक्षेप में उसका वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

रसखान ने प्रेम भाव का लक्षण देते हुए कहा है कि प्रेम वही है जो गुण यौवन रूप धन की चाह नहीं रखता है और स्वार्थ तथा कामनाओं से रहित होता है —

बिनु गुन जोबन रूप धन बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध कामना तें रहित प्रेम सकल रसखानि॥

(प्रेमवाटिका, १५)

पिता-पुत्र बन्धु, मित्र आदि में प्राप्त प्रेम सहज स्नेह है शुद्ध प्रेम नहीं।

प्रेम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए रसखान इसे लौकिक तथा पारमार्थिक दोनों ही आनन्दों का मूलाधार मानते हैं। यह एकनिष्ठ एकांगी तथा प्रिय को अथवा सर्वस्व समझनेवाला होता है। यह नित्य वर्द्धमान तथा कभी भी घट

भ्रष्ट नहीं होनेवाला है। यह काम क्रोध मोह लोभ, मद मात्सर्य से परे श्रुति स्मृति और पुराणादि सभी का सार है।

बिना प्रेम के ज्ञान व्यर्थ है तथा प्रेम को जान लेने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता है।

प्रेम स्वयं ईश्वर है। दोनों में धूप और सूर्य का सम्बन्ध है —

प्रेम हरी को रूप है त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एक होइ द्वै यों लसैं ज्यों सूरज अरु धूप॥

(प्रेमवाटिका २४)

इतना ही नहीं, प्रेम हरि से भी श्रेष्ठ है क्योंकि हरि भी इसके वश में हैं। यह सभी मुक्तियों से श्रेष्ठ है।

ईश्वर और प्रेम दोनों ही अगम और अकथनीय हैं। कवियों ने इन्हें समझाने की अनेक प्रकार से चेष्टा की है। यह सागर के समान अगम अमित और अनुपम है। यह वह मदिरा है जिसे पीकर वरुण—जल के स्वामी तथा शंकर महादेव बने हैं। यह एक दर्पण के समान है जिसमें अपना रूप भी कुछ अजीब-सा दिखलाई पड़ता है। कोई इसे फाँसी तो कोई दुधारा तलवार, नेजा भाला, तीर या बाण कहता है। इसकी मार की मिठास रोम-रोम में भर जाती है जिसके कारण मरता हुआ प्राणी पुनः जीवित हो जाता है। यह विचित्र खेल है जिसमें दो दिलों का मेल होता है और प्राणों की बाजी लग जाती है। यथार्थ में प्रेम ही बीज, अंकुर, जल, डाल-पात, फल-फूल सभी कुछ है। कार्य-कारण, कर्त्ता-कर्म, क्रिया-करण भी प्रेम ही है। संसार में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रेम में नेम विधि-निषेध कुछ नहीं है।

रसखान ने प्रेम के कई भेद माने हैं। उन्होंने प्रेम को विषयानन्द या लौकिक प्रेम तथा ब्रह्मानन्द या भगवद्प्रेम दो रूपों में माना है। इनमें भगवद्प्रेम श्रेष्ठ है। इसका दूसरा वर्गीकरण शुद्ध तथा अशुद्ध प्रेम में है। शुद्ध प्रेम सहज और स्वाभाविक होता है जब कि अशुद्ध प्रेम में स्वार्थ रहता है। शुद्ध प्रेम विकार रहित होता है। जब तक हृदय में विकार रहते हैं तब तक शुद्ध प्रेम नहीं रहता और जब हृदय में शुद्ध प्रेम आ जाता है तब उसके पास विकार नहीं फटकते।

शुद्ध प्रेम की कसौटी बतलाते हुए रसखान ने कहा है कि जिस प्रेम में ईश्वर या बैकुण्ठ की भी इच्छा नहीं रह जाती है उसे शुद्ध प्रेम कहते हैं। शुद्ध प्रेम दो हृदयों का ही मिलन नहीं बल्कि दो तनों का भी एक हो जाना है —

दो मन इक होते सुन्यो पै वह प्रेम न आहि।
होइ जबै द्वै तनहुँ इक सोई प्रेम कहाहि॥

(प्रेमवाटिका, १४)

षष्ठ अध्याय

भक्ति-शृंगार के नायक

भक्ति-शृंगार का नायक शृंगार का आश्रय और आलंबन दोनों ही है। वह समस्त शास्त्रीय मान्यताओं के अनुरूप त्याग भावना से पूर्ण सुकृती कुलीन सत्कुलोद्भव बुद्धि-वैभवशाली रूप-यौवन-संपन्न उत्साही उद्योगशील तेजस्वी चतुर और सुशील है। भक्ति की विभिन्न शाखाओं में उपलब्ध नायक के स्वरूप का संक्षिप्त विवरण नीचे किया जा रहा है।

ज्ञानमार्गी शाखा

भक्त की आत्मा के प्रिय निर्गुण निराकार परब्रह्म राम हैं जोकि दशरथ के पुत्र नहीं हैं। वह आत्मा उसकी 'बहुरिया' है। वह अपने प्रेम से आत्मा को आप्यायित किए रहता है तथा स्वयं प्रसन्न होकर उसे सोहाग देता है। (कबीर ग्रंथावली पद २)। आत्मा-परमात्मा का यह मिलन क्षणिक होता है, इसलिए इसे निष्ठुर कहा गया। बधिर की भाँति यह नायक की आर्त पुकार नहीं सुनता है। (वही पद ५ और १०२)। इससे अधिक उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। इस अस्पष्टता का कारण नायक की अमूर्तता है और इसी वजह से वह निष्ठुर प्रतीत होता है।

प्रेममार्गी शाखा

सूफी काव्य में नायक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस शाखा में तीन महत्त्वपूर्ण नायक हैं—रत्नसेन सुजान और मनोहर। रत्नसेन के अतिरिक्त सभी राजकुमार हैं और गृहस्थी के बंधन से मुक्त हैं। यौवन में प्रवेश करते ही वे प्रेम-पथ पर चल पड़ते हैं और प्रेम के लिए सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार रहते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से वे धीरललित नायक हैं। साथ ही इनमें गम्भीरता विनय और क्षमा-गुण भी अपनी पराकाष्ठा में हैं। इस रूप में वे धीरोदात्त भी कहे जा सकते हैं। रत्नसेन चित्तौड़ का राजा है तथा धीरोदात्त नायक के सभी गुणों से युक्त है फिर भी उसमें प्रबलता प्रेम की ही है। पद्मिनी के प्रेम में वह राजपाट छोड़कर योगी हो जाता है तथा सिंहलद्वीप में भी

वह चित्तौड़ और नागमती को भूलकर सुख-विलास में डूब जाता है। इसलिए उसे भी धीरललित कोटि में ही रखना उपयुक्त होगा।

नायक के शृंगारिक भेद अनुकूलादि की दृष्टि से इस शाखा में नायकों के अनुकूल और दक्षिण—दो ही रूप उपलब्ध हैं।

इस शाखा के अनुकूल नायकों के दो सूक्ष्म भेद किए जा सकते हैं। इनमें प्रथम तो पूर्ण या शुद्ध अनुकूल नायक है जिसका ध्यान और प्रेम केवल एक नायिका पर ही केन्द्रित रहता है। मधुमालती का नायक मनोहर ऐसा ही नायक है। उसकी एक ही प्रेमिका है और वही उसकी पत्नी हो जाती है। द्वितीय रूप संकर-अनुकूल नायक का कहा जा सकता है। ये नायक बहुपत्नीव्रती हैं। रत्नसेन तथा सुजान ऐसे ही नायक हैं। रत्नसेन अपनी पत्नी को छोड़कर पद्मावती को प्राप्त करने चला जाता है। पद्मावती को प्राप्त करने के बाद से नागमती के संदेश प्राप्त करने तक की स्थिति में वह पद्मावती के प्रति अनुकूल नायक है। नागमती का संदेश मिलते ही वह चित्तौड़ के लिए चल देता है। यहीं से उसका दक्षिणत्व प्रारम्भ हो जाता है। चित्रावली के सुजान की भी यही स्थिति है। चित्रावली से मिलन के पहले तक सुजान ने अपने कौमार्य को अक्षुण्ण रखा तथा विवाह होने पर भी कौलावती के साथ सोहागरात नहीं मनाई। चित्रावली से विवाह होने पर भी वह उसीमें पूर्णतः रम गया तथा कौलावती को पूर्णतः विस्मृत कर चुका। इस स्थिति में उसकी गणना अनुकूल नायक में होगी। कौलावती का संदेश मिलते ही वह उससे मिलने के लिए आतुर हो उठता है। यहीं से उसका दक्षिणत्व प्रारंभ होता है। इस बीच की स्थिति को संकर अनुकूल कहा जा सकता है।

नायकों के दक्षिणत्व का संकेत पीछे किया जा चुका है। रत्नसेन का दक्षिण नायक का रूप चित्तौड़ में स्पष्ट होता है। नागमती और पद्मावती—दोनों को ही वह मिलकर रहने का उपदेश देता है। वह कहता है, जिन्होंने एक बार पति का मन समझ लिया है, वे एक-दूसरे से क्यों जूझेंगी? सच्चा ज्ञान इस प्रकार है। कोई उसे नहीं जानता। कभी रात होती है, कभी दिन होता है। धूप और छाँह दोनों ही प्रियतम के रंग हैं। दोनों एक साथ मिलकर रहो। झगड़ना छोड़ो और दोनों समझो। सेवा करो और सेवा से ही सुख प्राप्त करो। तुम दोनों ही गंगा यमुना के समान हो। तुम्हारे लिए परस्पर योग या संगम लिखा है। दोनों मिलकर सेवा करो और सुख भोगो। (पद्मावत ४४५)। सुजान भी कौलावती-मवन खंड में चित्रावली को समझाते हुए कहता है 'मेरी प्राणप्यारी सुन्दरी! तुम्हारे बिना शरीर में प्राणों का रहना कठिन हो रहा है। मुझे तुम्हारे बिना कोई दूसरा प्रिय नहीं है पर उस बेचारी ने मेरे विरह में बड़ा दुःख पाया है।'

तुम उसे दीन जानकर मत दुखी हो। वह तुम्हारी आज्ञाकारिणी होगी। इस प्रकार समझाकर सुजान कौलावती के पास जाता है। (चित्रा ५९५-९६)। अतएव रत्नसेन और सुजान दोनों ही पूर्णतः और असफल दक्षिण नायक हैं।

नायक का एक भेद पति और उपपति भी होता है। अपनी प्रेमिकाओं से विवाह हो जाने के बाद सभी नायक पति हो जाते हैं। विवाह के पूर्व उनका रूप प्रेमी का है। उनकी प्रेमिकाएँ परवशा हैं। शास्त्रीय दृष्टि से वे परकीया कन्यका हैं। अतएव विवाह के पूर्व तक इन नायकों को उपपति कहा जा सकता है। वैसे इनके लिए उपयुक्त शब्द 'प्रेमी' है।

नायकों का काम-शास्त्रीय भेद इस साहित्य में नहीं किया गया है यद्यपि सभी नायिकाएँ पद्मिनी जाति की हैं। नायकों के काम-शास्त्रीय भेद का वर्णन मात्र चित्रावली में है। पद्मिनी नायिका के उपयुक्त नायक शश वर्ग का होता है इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि सभी नायक इसी वर्ग के हैं।

गुणों की दृष्टि से सभी नायक युद्ध-निपुण, द्यूत-निपुण और रति-निपुण हैं। चरित्र की दृष्टि से सभी नायकों का स्वरूप प्रभावशाली है। संक्षेप में उनका स्वरूप नीचे दिया जा रहा है।

रत्नसेन

रत्नसेन चित्तौड़ का राजा है। वह गुण-ग्राही है। इसीलिए हीरामन ऐसे गुणवान शुक का समाचार मिलते ही वह उसे मँगवाता है। वह गुण को पहचान कर उसका उचित मूल्य देनेवाला है। उसने हीरामन को एक लाख रुपयों में मोल लिया था।

रत्नसेन की रानी नागमती है। वह रूपगर्विता है तथा उसे अपने पति का प्रेम भी उपलब्ध है। किन्तु रत्नसेन का उसके प्रति एकनिष्ठ प्रेम नहीं है। रानी को भी उसके प्रेम पर विश्वास नहीं है। वह राजा की सौंदर्य-लोलुपता तथा उसके लिए सर्वस्व त्याग की मनोवृत्ति से परिचित है। रत्नसेन नागमती के सौंदर्य से ही बँधा हुआ है। यदि उससे भी कोई सुन्दरी का पता रत्नसेन को लग जाता तो वह तत्क्षण नागमती को छोड़कर चल देगा इसमें संदेह नहीं है। इसी कारण से नागमती ने हीरामन की हत्या का प्रयत्न किया था।

रत्नसेन योगी है। वह सुख के लिए नागमती का अति कठोर दंड देने को उद्यत है। वह उसके स्थूल प्रेम का पालक है। तभी तो नागमती मानती है "इतना सा अपराध करने से ही यदि प्रिय रूठ जाता है तो पति की अपना कहे उसका कहना झूठा है। (पद्मावत ८९)।

नागमती के प्रति रत्नसेन का प्रेम एकनिष्ठ न होते हुए भी उसके हृदय में प्रेम का सागर भरा है। पद्मावती का रूप वर्णन सुनते ही वह उसपर मुग्ध हो जाता है। वह उसकी रूपलालुपता कही जा सकती है पर बाद में उसका प्रेम एक-निष्ठ और स्थायी हो जाता है। वह प्रेम-मार्ग का सच्चा पथिक है और प्रेम-पंथ की कठिनाइयों से विचलित नहीं होनेवाला है। उसके प्रेम की दो बार परीक्षा ली गई है और वह उनमें खरा उतरता है। कथाप्रसंग के आरंभ उसके प्रेम में सच्चे प्रेम की दृढ़ता सदा रही है।

त्यागी दृढ़व्रती और प्रेम में दीवाने रत्नसेन का रूप बड़ा ही प्रभावोत्पादक है। अपनी प्रिया की खोज में वह राज-पाट सुख-विलास बन्धु-बान्धव सभी का त्याग करता है। प्रेम-पंथ से न तो उसकी माता का वचन और न ही पत्नी की विनतियाँ ही उसे रोक सकीं। माता और पत्नी को दिए गए उसके उत्तर उसके प्रेम की एकनिष्ठता और दृढ़ता के द्योतक हैं।

प्रेम-पंथ में रत्नसेन ने अपने अहंकार का पूर्ण त्याग कर दिया था। एक क्षण पूर्व का राजा अब वन-वन भटकनेवाला योगी हो गया। अपनी प्रिया के नाम की रट उसे लगी थी। यही उस मार्ग की बाधाओं से निर्भय करती है। जीवन की अभिलाषा छोड़कर वह इस प्रेम-पथ में उतरा है इसलिए उसकी शक्ति अपरिमित हो गई। मृत्यु का उसे भय नहीं रहा। वह ज्योतिषियों के यह कहने पर कि 'मुहूर्त शुभ नहीं है', कहता है, "प्रेम के पंथ में आनेवाला दिन और घड़ी नहीं देखता। जिसके शरीर में प्रेम है उसमें माँस कहाँ ? उसकी देह में न रक्त होता है न नैनों में आँसू। पंडित भूला रहता है अपना नहीं जानता। प्राण लेते समय मृत्यु दिन नहीं पूछता। प्रेम में बौराई हुई सती क्या चिता पर चढ़ने का मुहूर्त पंडित से पूछती है और यदि मुहूर्त न हुआ तो क्या घर जाकर बर्तन-चौका समेटने लगती है ? जो गंगागति होकर मरना चाहता है उस दिन और घड़ी का मुहूर्त कब कोई बताता है ? मैं घर-बार अपना कहाँ बना सकता हूँ ? जो घर और शरीर है वह अन्त में दूसरे का हो जाएगा। मैं पंख वाला पक्षी हूँ। जिस वन में मुझे रहना है उसी वन का पाने के लिए येग धारा हूँ। तुम सब अपने घर जाओ।" (१२७)। सचमुच जिसने प्रेम-पथ में पग धरा उसे फिर संसार के विधि-निषेधों में मानापमान में और माया-मोह में कौन बाँध सकता है ? रत्नसेन भी न बँधा। रत्नसेन की वीरता और एकनिष्ठता देखकर हीरामन उसे पराक्रम में विक्रम सत्यवादिता में हरिश्चन्द्र योग में गोपीचन्द और वैराग्य में भर्तृहरि से श्रेष्ठ बतलाता है। (१६०)।

रत्नसेन का योगी स्वरूप भी अति उत्कृष्ट है। पद्मावती का नाम रटता हुआ उसके मार्ग पर दृष्टि देते हुए वह उसी प्रकार उसका ध्यान करता है जैसे

चातक और सीप स्वाति-नक्षत्र के जल का ध्यान करते हैं (१९६)। सारे संसार से रत्नसेन का ध्यान हटकर अपने प्रिय में केन्द्रित हो गया था। वह सच्चे अर्थों में प्रेम-योगी था। विरह दुःख में वह जलता रहा और उसने सिंहल द्वीप में महादेव के देवता की मनौती मनाई। उसके स्वभाव में एक ही ध्यान पर दृढ़ता दिखाई पड़ती है जब वह देवता को अपशब्द कहता है (२०२)।

अपनी असफलता की निराशा में रत्नसेन एक बार धैर्य खोकर चिता में जल मरना चाहता है किन्तु महादेव उसे बचा लेते हैं। उनके उपदेश से पुनः उसमें अपनी पुरानी गम्भीरता और वीरता आ जाती है। जिस समय गन्धर्वसेन की सेना योगियों को घेरने के लिए आती है उस समय वह अपने साथियों को युद्ध न करने की तथा प्रेम-पंथ में मर मिटने की सीख देता है। पकड़े जाने पर भी वह निश्चिन्त प्रेम में लीन रहता है और सूली के सम्मुख पहुँचकर हँस पड़ता है (२१०)। राजपुरुषों ने सूली देते समय उससे कहा 'जिसका स्मरण करना चाहते हो उसका स्मरण कर लो। अब हम तुम्हें बैठकी का भौंरा बना देंगे।' उस समय का उसका उत्तर उसके अगाध प्रेम का द्योतक है। वह कहता है मैं हर श्वास में उसीका स्मरण करता हूँ—मरते और जीते दोनों अवस्थाओं में जिसका हो चुका हूँ। मैं उस रामा पद्मावती का स्मरण करता हूँ जिसके नाम पर मेरा यह जीव निछावर है। मेरी काया में जितनी रक्त की बूँदें हैं वे सब 'पद्मावती पद्मावती' ही कहती हैं। यदि मैं जीवित रहा तो मेरे एक-एक बूँद रक्त में उसी पद्मावती का स्थान है। यदि सूली पर चढ़ूँगा तो उसीका नाम ले-लेकर मरूँगा। मेरे शरीर का रोम रोम उसीसे बिंधा है। प्रत्येक रोम-कूप बेधकर जीव उसके द्वारा युद्ध किया गया है। मेरी हड्डी-हड्डी में वही 'पद्मावती-पद्मावती' शब्द हो रहा है। मेरी नस-नस में उसीकी ध्वनि उठ रही है। उसके विरह ने शरीर के भीतर की मज्जा और मांस को खा डाला है। मैं तो एक ढाँचा (ठठरी) मात्र रह गया हूँ। उसमें वह रूप बनकर समाई हुई है (२१२)। यह रत्नसेन के प्रेम की उच्चतम स्थिति है।

योगी रत्नसेन पद्मावती को प्राप्त कर संयोगी हो जाता है। उसके इस गंधर्वी रूप में उसका क्रीड़ा-विलास-नैपुण्य प्रकट होता है। वह केवल योगी ही नहीं भोगी भी है। जिस समय पद्मावती उसके योगी-स्वरूप का आलम्बन लेकर उसका परिहास करती है उस समय वह भी अपने प्रेम-पथ में निपुण होने का संकेत करता है। पद्मावती चौपड़ खेलने का प्रस्ताव कर रत्नसेन की परीक्षा लेती है और रत्नसेन भी इसी माध्यम से अपने प्रेम और कुशा को प्रकट करता है। वह चौरासी आसनों का ज्ञाता काम-कला-विशारद है तथा योगी होकर

षड्रसों का स्वाद लेने में चतुर है। उसकी कुशलता से पद्मिनी संतुष्ट होती है। (३१६, ३२४ आदि)।

राजा रत्नसेन विनयी और चतुर है। विदा के लिए आज्ञा माँगते समय उसने गन्धर्वसेन से नागमती की बात न बतलाकर राज्य-रक्षा की समस्या उठाई। उसके व्यवहार-कुशल और नीतिज्ञ होने का यह प्रमाण है।

चित्तौड़ आने पर रत्नसेन के दक्षिण नायक होने का प्रमाण मिलता है। वह नागमती और पद्मावती दोनों को परस्पर मेल मिलाप से रहने का उपदेश देता है।

राजा रत्नसेन वीर और तेजस्वी है। अपने भोलेपन के कारण वह अलाउद्दीन से छला जाता है तथा अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए देवपाल से युद्ध करता हुआ मारा जाता है।

रत्नसेन के चरित्र में अनेक गुणों का समावेश है। वह एकनिष्ठ प्रेमी, अपनी पत्नियों को सन्तुष्ट रखनेवाला कुशल गृहस्थ, वीर राजा और मान के लिए मर-मिटनेवाला क्षत्रिय है।

सुजान

चित्रावली का नायक राजकुमार सुजान है। चौदह वर्ष की अवस्था में ही समस्त विद्याओं में पारंगत होकर तथा समस्त अभिलषित गुणों से परिपूर्ण होकर वह प्रेम पथ में पग रखता है।

चित्रावली के चित्र-दर्शन से उसके हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है। वह स्वयं भी कुशल चित्रकार है। चित्रावली की चित्रसारी में उसने अपना अपूर्व चित्र बनाकर रख दिया था जिसे देखकर चित्रावली उस पर मुग्ध हुई थी।

सुजान चतुर और व्यवहार कुशल नायक है। चित्रावली का पता लगाने के लिए वह धर्मशाला आरम्भ करता है और इस विधि से चित्रावली के दूतों के सम्पर्क में आता है।

चित्रावली के रूप-वर्णन को सुनकर सुजान योगी हो जाता है। उसके प्रेम की एकनिष्ठता की परीक्षा परेवा अनेक प्रेम पंथ की कठिनाइयाँ बतलाकर लेता है। उसकी दृढ़ता देखकर परेवा उसे शिष्य बनाता है तथा कुँवर सर्वस्व त्याग कर प्रेम-पथ पर निकल पड़ता है। उसके त्याग, दृढ़ता तथा एकनिष्ठता का यह प्रमाण है।

सुजान के प्रेम की एकनिष्ठता की कड़ी परीक्षा कौलावती के सम्पर्क के समय होती है। मार्ग में कुँवर चित्रावली का नाम रटता हुआ रूपनगर पहुँचता है। यहाँ चित्रावली का महल पास है किन्तु भाग्य विपरीत होने के कारण

अनेकानेक कठिनाइयों में पड़ जाता है। विरह में वह योगी रूप में चित्रावली को खोजता हुआ वह भटकता है। इसी समय राजा सगर की पुत्री कौलावती उसके रूप पर मुग्ध होकर छल से उसे बन्दी बना लेती है। अपनी सखी द्वारा वह अपना प्रेम निवेदन करती है पर अपने प्रेम में दृढ़ सुजान का ध्यान तो केवल चित्रावली में ही केन्द्रित है। स्वयं कौलावती रात्रि के एकान्त में उसके पास जाती है, पर वह उधर देखता भी नहीं है। प्रेम की यह दृढ़ता जिसमें अपूर्व सुन्दरी राजकुमारी के प्रेम-निवेदन की अवहेलना की जाए अपूर्व है।

प्रेम की इस दृढ़ता के साथ-साथ अबला की पुकार पर उसका पौरुष भी चमक उठता है। सागरगढ़ में जौहर की स्थिति आने पर वह रक्षा के लिए तत्पर हो जाता है। इस समय कौलावती को उसका चित्रावली-प्रेम ज्ञात होता है। वह चित्रावली की चेरी बनकर रहने को कहती है तथा प्रेम की भीख माँगती है। सुजान चित्रावली की शपथ खाकर उसे आश्वासन देता है। सुजान के लिए उसका मन-प्राण ईश्वर—सभी कुछ तो चित्रावली ही है। उसकी शपथ से बड़ी और क्या शपथ हो सकती है। अपनी शपथ द्वारा उसने कौलावती का प्रेम निवेदन स्वीकार करते हुए भी चित्रावली के प्रति अपने प्रेम की पुष्टि की। कौलावती के प्रेम की यह स्वीकृति भारतीय परम्परा के पूर्णतः अनुकूल है।

सुजान की चारित्रिक सबलता और चित्रावली के प्रति उसके प्रेम की सबलता अद्वितीय है। कौलावती से विवाह करके भी वह अपने ब्रह्मचर्य को चित्रावली के लिए सुरक्षित रखता है। वह पुनः अपनी प्रिया की खोज में समस्त भोग-विलास को छोड़कर चल देता है। अनेक कष्ट सहने पर और सब प्रकार से निराश होकर वह रूपनगर के पथ पर पागलों की तरह 'चित्रावली-चित्रावली' चिल्लाता है।

उसे मारने का प्रयत्न किया जाता है, पर प्रेमी सुजान को भय कहाँ ? उसे अपने प्राणों की चिन्ता नहीं है किन्तु उसका क्षत्रियत्व उसे सिंह की भाँति मरने से रोकता है। प्रबल पराक्रम से वह दसगंजन नामक मतवाले हाथी को मार डालता है। इस प्रकार प्रेम पंथ में मरना चाहकर भी वह मर न सका। राजा द्वारा बन्दी किए जाने पर भी वह अपनी प्रेमिका के ध्यान में मग्न रहता है। अंत में उसका विवाह हो जाता है।

कौलावती और चित्रावली से संयोग होने पर सुजान के रति-नैपुण्य का संकेत मिलता है। वह काम कला-विशारद है। वह दक्षिण नायक है और दोनों नायिकाओं को सुखी रखता है।

सुजान अपने प्रेम में एकनिष्ठ दृढ़ और गंभीर रहा। उसमें क्षत्रियत्व

भरपूर है और उसने उसका मार्ग-रक्षा में सफल उपयोग किया। वह त्यागी धार्मिक तथा रति-कला-कुशल नायक है।

मनोहर

मधुमालती का नायक मनोहर राजा सूरजभान का पुत्र है। सुजान की भाँति वह भी अल्पावस्था में ही सभी गुणों में पारंगत हो गया। बारह वर्ष की अवस्था में इसे युवराज पद दे दिया गया। उसी समय परिस्थितियों ने इसे प्रेम पंथ पर लाकर खड़ा कर दिया।

अप्सराओं द्वारा मनोहर मधुमालती के शयन-कक्ष में सोते समय पहुँचा दिया जाता है। निद्रित राजकुमारी के रूप-सौन्दर्य पर मनोहर मुग्ध हो जाता है। वह वाकपटु है और मधुमालती के जागने पर अपनी वाक्पटुता द्वारा अपने प्रेम का निवेदन करता है। वह अपने-दोनों की प्रीति को जन्म-जन्मान्तर की बता जाता है और अपना प्रेम-निवेदन बड़े सुन्दर रूप में करता है। प्रेमाख्यानक काव्य के अन्य नायक प्रथम मिलन के समय अपने प्रेम-निवेदन में इतने चतुर नहीं हैं। इस रूप में मनोहर की गणना अत्यन्त चतुर प्रणयी के रूप में की जा सकती है।

चतुर प्रणयी होने के साथ-साथ मनोहर को धर्म का भी ज्ञान है और उसमें धैर्य भी बहुत है। अपने आश्वासन के अनुरूप वह मधुमालती से समस्त काम क्रियाएँ करके भी संभोग को बचा जाता है। यह मनोहर के काम-कला विशारद होने का संकेत है।

अन्य प्रेमाख्यानी नायकों की भाँति ही मनोहर भी त्यागी तथा प्रेम-पथ में सर्वस्व लुटानेवाला है। वह इस पंथ में अपने प्राणों को न्योछावर करने को तैयार है। प्रिय की खोज में वह भी योगी बन जाता है।

विरह की स्थिति में मनोहर संज्ञा-शून्य-सा हो जाता है तथा विक्षिप्त की भाँति मधुमालती का नाम रटता फिरता है।

मनोहर का प्रेम एकनिष्ठ तथा उसका चरित्र उज्ज्वल है। प्रेमा की रक्षा करने के कारण उसके (प्रेमा के) माता-पिता उससे उसका विवाह करना चाहते हैं किन्तु मनोहर उसे अपनी बहन मानकर विवाह करना स्वीकार नहीं करता। उसमें परदुःख-कातरता तथा शौर्य यथेष्ट मात्रा में है। इसीसे प्रेरित होकर उसने प्रेमा की रक्षा की थी।

मनोहर के विरही रूप का विशेष वर्णन नहीं है। विरह में सिर पर धूल फेंकते हुए रोने का उल्लेख है। यथार्थ में मनोहर के चरित्र का विस्तृत विकास इस काव्य में नहीं है।

समग्र रूप में हम कह सकते हैं कि मनोहर धीर वीर गंभीर एकनिष्ठ प्रेमी

रामाश्रयी शाखा

इस साहित्य में शिव राम और लक्ष्मण ही शृंगार के नायक हैं। इनमें भी शिव और लक्ष्मण गौण हैं।

नायक भेद की दृष्टि से सभी नायक धीरोदात्त हैं। वे गंभीर क्षमाशील स्वाभिमानी और विनीत हैं। तीनों ही नायक अनुकूल और एकपत्नीव्रत-व्रती हैं। सभी पति हैं और उत्तम श्रेणी के हैं।

इस संपूर्ण शाखा में नायक के शृंगारी रूप का विशेष चित्रण नहीं है। जो कुछ अल्प वर्णन प्राप्त है वह दो शीर्षकों के अंतर्गत देखा जा सकता है। प्रथम प्रेमी तथा संयोगी रूप है। इस रूप में शिव लक्ष्मण और राम तीनों का ही उल्लेख है। रामचरितमानस में शिव के संयोगी रूप का संकेत है। इसमें उनके विविध प्रकार से पार्वती से संयोग का उल्लेख है। वे नित्य नवीन विहार करते हैं। यह उनकी क्रीड़ा विहार-कुशलता का संकेत है। लक्ष्मण के संयोगी रूप का संकेत गीतावली के एक पद में है (१०)। इसमें उर्मिला और लक्ष्मण दोनों के परस्पर देखने का उल्लेख मात्र है तथा शक्ति भवन में जाते समय के उनके दीन शोभा और स्नेह का संकेत है। राम का उल्लेख दो रूपों में है प्रथम में उनका प्रेमी रूप प्रकट हुआ है। सीताजी के कंकन किंकिनी और नूपुर की ध्वनि उन्हें कामदेव की दुंदुभी प्रतीत होती है। रूप लुब्ध राम अपलक दृष्टि से सीता के सौंदर्य का पान करने लगते हैं। सीताजी के उस सौंदर्य को व्यक्त करने के लिए उन्हें समस्त उपमाएं झूठी लगने लगी। उस रूप में उनका हृदय क्षुब्ध हो गया है। हृदय में स्नेहातुरता के कारण सीताजी के मुख के सम्मुख चन्द्रमा का रूप तुच्छ लगा। यह राम का प्रेमी रूप है। राम बड़े ही धैर्य से अपने प्रेम को हृदय में छिपा रखा।

राम का दूसरा रूप संयोगी नायक का है। इसका उल्लेख गीतावली के उत्तरकांड में है। इसमें राम का प्रातःकालीन रूप द्वारा रात्रि में उनके संभोग का संकेत किया गया है। उनका श्याम शरीर प्रिया के प्रेम रस में पग कर आलस्य के कारण अंगड़ाने लगा (गीतावली २)। इस वर्णन में रति-वैचित्र्य का मनोहर संकेत है। राम के इसी संयोगी रूप के अन्तर्गत उनकी फाग क्रीड़ा के समय का रूप आ गया। वे अपने सखा और भाइयों के साथ फाग खेल रहे हैं और जानकीजी अपनी सखियों के साथ क्रीड़ा कर रही हैं। इसके अतिरिक्त राम के रूप सौंदर्य का यथेष्ट वर्णन है पर वह उनके नायक रूप पर प्रकाश डालने वाला नहीं है। राम के संयोगी रूप का एक आध अन्य संकेत भी है जिसमें उनकी पुष्पाभरण बनाने की निपुणता तथा सीता का शृंगार करने का उल्लेख है।

नायकों का दूसरा रूप वियोगी का है। यह रूप केवल शिव और राम का ही प्राप्त है। लक्ष्मण के वियोग का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

सती के सती होने के बाद शिव किस प्रकार विरह-दुःख में पागल हो जाते हैं इसका स्पष्ट उल्लेख आलोच्य साहित्य में नहीं है किन्तु उनकी मृत्यु के बाद शिव के हृदय में वैराग्य आ गया इसका उल्लेख उपलब्ध है। सती के वियोग में वे सदा रघुनाथ का नाम जपने लगे तथा जहाँ-तहाँ उनके गुणों की कथाएं सुनने लगे। वियोगी राम का चित्रण अधिक विस्तार से हुआ है। सीताहरण के बाद का उनका विलाप उनके विरहाधिक्य को सूचित करनेवाला और उनकी उन्माद दशा का द्योतक है। उनका यही वियोगी रूप सीता के वस्त्राभूषण प्राप्त करने पर तथा हनुमान द्वारा सीता के संदेश और चूड़ामणि का प्राप्त करने पर प्रकट हुआ है। इतना सब होते हुए भी द्रष्टव्य यह है कि उनके सभी स्वरूपों में सतत वीरत्व और कर्तव्य-परायणता है।

राम-साहित्य में शिव और लक्ष्मण के चरित्र का विकास नहीं हुआ है। राम का चरित्र धीर और गम्भीर है। औचित्य और मर्यादा का उन्हें सदा ध्यान है। सीता पर मुग्ध होकर भी वे अपने प्रेम का प्रदर्शन नहीं करते। इतनी ही नहीं रणभूमि में भी वे सीता को प्राप्त करने के लिए पहले ही धनुर्भंग के लिए नहीं उठते हैं। इतना धैर्य और इतनी गम्भीरता अन्यत्र दुर्लभ है।

राम के संयोगी रूप में उनकी अनुकूलता सीता का दुःख देखकर कातरता तथा अलंकरण-नैपुण्य के संकेत मिलते हैं।

राम का वियोगी रूप अधिक विस्तृत हृदय-ग्राहक और उदात्त है। सीता के वियोग में तो वे पागल-से ही हो गये हैं किन्तु इस स्थिति में भी सबल भक्त वत्सलता, शरणागत की रक्षा तथा कर्तव्य की महिमा उनके सामने रही है। वियोगी होकर भी उनका वियोग सदा कर्तव्य के नीचे छिपी सरिता की भाँति प्रवाहित होता रहा जो कि कभी ही कभी अपने दर्शन देता है किन्तु जिसकी निर्मलता और प्रबलता सतत एक अलौकिक आभा फैलाए रहती है। अपने नायक रूप में राम आदर्श और अनुपम हैं।

कृष्णाश्रयी शाखा

नायक कृष्ण के रूप में यथेष्ट विविधता है। नायक कृष्ण में धृष्ट नायक के सभी गुण हैं। वे सुलक्षण बलवान तरुण मधुर भाषी धीर, विदग्ध प्रेमी तथा नारियों को मोहनेवाले हैं पर साथ-ही-साथ घर का भार न होने के कारण और नित्य आनन्द-विहार में मग्न रहने के कारण वे धीरललित ही कहे जा

सकते हैं। धीरप्रशांत और धीरोदात्त वाला उनका रूप शृंगार का आलंबन नहीं है।

कृष्ण का शृंगारी रूप इतना विस्तृत तथा विविध है कि उसमें दक्षिण अनुकूल और धृष्ट तीनों ही रूप मिल जाते हैं। शठ नायक का रूप प्राप्त नहीं है।

अनुकूल कृष्ण का रूप सखी तथा राधा-वल्लभ संप्रदाय में सबसे अधिक है। कृष्ण सदा स्वामिनीजी का मुँह जोहते रहते हैं तथा उनका अन्यत्र ध्यान जाता ही नहीं है। इन सम्प्रदायों में राधाजी की प्रतिद्वन्द्विनी कोई अन्य नहीं है। अतः अन्य रूपों के विकास का अवकाश ही नहीं है। वल्लभ तथा चैतन्य सम्प्रदायों में व्रज-लीला का विस्तार होने के कारण कृष्ण की प्रेमिकाओं में राधा चन्द्रावली ललिता आदि अनेक गोपियाँ आती हैं। अतएव इन संप्रदायों में कृष्ण के अनेकों रूपों के चित्रण का अवसर है तथा कवियों ने उनके विविध रूपों के चित्र अंकित भी किए हैं। यहाँ कृष्ण कभी अनुकूल कभी दक्षिण और कभी धृष्ट रूप में चित्रित किए गए हैं।

इन संप्रदायों में प्राप्त कृष्ण के अनुकूलत्व के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि यह रूप क्षणिक और सीमित है। अनेक गोपियों से प्रेम होने के कारण तथा उन्हें संतुष्ट करने के प्रयत्न के कारण सच्चा अनुकूलत्व इन सम्प्रदायों में प्राप्त नहीं है।

कृष्ण का दक्षिणत्व अधिक स्पष्ट है। यह व्रज तथा द्वारका में प्राप्त है। साहित्य की दृष्टि से उनका द्वारका वाला रूप महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रथम रूप में रास तथा चीरहरण-लीला के प्रसंगों में वे सभी नायिकाओं के साथ समसम समान व्यवहार करते हुए भी राधा को महत्ता देते हैं। इसी प्रकार ललिता चन्द्रावली आदि से प्रेम का प्रतिदान करते हुए भी उन्होंने राधा के प्रेम को यथोचित मान दिया है। ऐसे समस्त स्थलों पर वे दक्षिण नायक हैं।

कृष्ण का धृष्ट नायक वाला रूप सामान्यतः खंडिता उक्ति में व्यक्त होता है। दूसरी सपत्नी से संभोग के चिह्न होने पर भी वे झूठ बोलते हैं। यह रूप अधिकतर वल्लभ संप्रदाय में उपलब्ध है।

नायक-भेद के पति उपपति वाले भेद कृष्ण में प्राप्त हैं। चैतन्य-साहित्य में उनका उपपतित्व स्पष्ट रूप से स्वीकृत है। राधा-वल्लभ सखी तथा निम्बार्क में उनका पतिरूप ही स्वीकार है। गोपियों से उनका प्रणय-सम्बन्ध नहीं है। वल्लभ-संप्रदाय में वे रुक्मिणी आदि महिषियों के पति हैं। राधा का पतित्व

भी उन्हें प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है, जिसमें कवियों को सफलता नहीं मिली है। गोपियों के तो उपपति वे हैं ही।

चारित्रिक विशेषताओं की दृष्टि से कृष्ण-चरित में विविधता उनके प्रवास पूर्व रूप में है। मथुरा और द्वारका का उनका चरित एक रंग है। उनका यह जीवन व्यस्त राजा का है। उन्होंने गोपियों और राधा को एक क्षण के लिए भी नहीं भुलाया पर साथ ही-साथ अनेक आश्वासन देने के बाद भी विरह-सागर में डूबती गोपियों को उबारने के लिए वे एक बार भी वृन्दावन न आए। कुरक्षेत्र में गोपियाँ उनसे मिलीं पर उस समय तक उनका प्रेम अक्षुण्ण रहते हुए भी उनमें कितना अन्तर आ गया इसकी कल्पना ही की जा सकती है। वृन्दावन के सघन कुन्जों में रूप-सौंदर्य और लीला-विलास की भित्ति पर निर्मित दोनों का प्रेम वियोग की आँच में पिघल कर सूक्ष्म मानसिक रूप ले लेता है जिसमें शारीरिक सुख की कामना का ह्रास हो जाता और वह मानसिक धरातल पर अति सूक्ष्म रूप धारण कर शरीर के रोम रोम में व्याप्त हो जाता है।

कृष्ण का ब्रज-लीला का चरित दो मुख्य विभागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम रूप राधा-वल्लभ निम्बार्क सखी आदि सम्प्रदायों में मान्य निकुन्ज लीलाविहारी कृष्ण का है तथा द्वितीय वल्लभ-सम्प्रदाय में मान्य वृन्दावनविहारी कृष्ण का है।

निकुन्ज-लीलाविहारी रूप में कृष्ण अप्राकृत वृन्दावन में नित्य सहचरी गणों के साथ अपनी आद्या आह्लादिनी शक्ति, राधा के नित्य लीला-विहार में निमग्न रहते हैं। कृष्ण का यह रूप प्रकट लीला-नायक कृष्ण से नितांत भिन्न है। इन कृष्ण को कुन्ज छोड़ने का अवकाश कहाँ? ये सहचरी गणों से नित्य वेष्टित होकर प्रियाजी के प्रेम की आकांक्षा करते रहते हैं। इन्हें प्रिया का एक क्षण का वियोग भी सह्य नहीं है तथा ये सदा उनका मुँह जोहते रहते हैं। ये निरन्तर विविध प्रकार के शृंगार भोगविलास लीला विलास में निमग्न रहते हैं। इनका यह प्रेम रतिपति रतिलंपट कोक-कला-विशारद आदि का है। ये अपनी काम-कला से निकुन्जेश्वरी राधा को रस-मुग्ध किये रहते हैं। वियोग का यहाँ नाम नहीं है। प्रेम-वैचित्य की स्थिति में ही इन्हें असह्य वियोग-पीड़ा होती है। इस रूप में चरित्र के विकास का स्थान नहीं है। यह एक रस है।

कृष्ण के वृन्दावन विहारी रूप का विस्तार मुख्यतः वल्लभ-सम्प्रदाय में और उसमें भी सूरसागर में हुआ है। सूर ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन को लेकर उनकी बाल, संयोग और वियोग-लीलाओं का संतुलित

और समान उत्कृष्ट वर्णन किया है। सूरसागर के आधार पर कृष्ण का स्वरूप निम्नलिखित प्रकार का है —

बालक कृष्ण में ही उनका शृंगारी रूप प्रकट होने लगता है। वे अत्यन्त चतुर और गोपियों से परिहास क्रीड़ा में अत्यंत दक्ष हैं। पाँच वर्ष की ही अवस्था में उन्होंने गोपियों की अँगिया को फाड़ना, कुचों को पकड़ना तथा नख-क्षतादि करना प्रारम्भ कर दिया था। गोपियों के साथ यह सब करके भी वे यशोदा के सम्मुख एकदम अबोध बने रहते थे। इन लीलाओं में उनका मायावी तथा अलौकिक रूप प्रकट होता है।

बड़े होने पर उनकी छेड़-छाड़ और भी अधिक प्रकट होने लगी। अब वे घाट कुघाट कुञ्ज और वन में गोपियों से दान माँगने लगे। इस दान-माँगने में वे काम के सूक्ष्म संकेत करते थे। इसी समय वे चीरहरण-लीला करते हैं। इस अपनी चतुरता कुशलता और क्रीड़ा आदि के द्वारा वे गोपियों का मन मोह लेते हैं। उनकी इन लीलाओं में काम का प्रथम उन्मेष है तथा शृंगारी नायक का स्वरूप प्रस्फुटित होने लगता है।

इसी समय उनका परिचय राधा से होता है। बाल-साहचर्य प्रेम में परिणत होने लगता है। अपनी बंसी अपनी नित-नवीन चतुरता तथा काम-कला निपुणता से वे राधा का मन मोह लेते हैं। वे राधा को अनेक बहाने बनाना सिखाते हैं। राधा के साथ-साथ अन्य अनेक गोपियाँ भी उनकी ओर आकृष्ट होती हैं। चतुर और नायक कृष्ण किसीको निराश नहीं करते तथा सभी की इच्छा पूरी करते हैं। रास उनका एक सरस माध्यम था किन्तु रास के अतिरिक्त भी वे अपनी सभी प्रियाओं का ध्यान रखते थे। फल-स्वरूप कहीं वे अपने वचनानुसार नहीं पहुँच पाते हैं तो कहीं किसी नायिका के यहाँ पकड़े जाते हैं। खंडिता और मान की ऐसी सभी स्थितियों में रसिकागर कृष्ण अपनी प्रियाओं के मान मोचन में सभी साम उपायों का उपयोग करते हैं। इस उनका सारा जीवन शृंगारिक क्रीड़ा विलास में डूबे हुए बहु प्रेमियोंवाले नायक का है। वे राधा-वल्लभ और गोपी वल्लभ दोनों हैं।

भक्ति-शृंगार-काव्य के नायकों में मौलिक अन्तर होते हुए भी कुछ समानताएँ हैं। रामायणी शाखा के राम तो शृंगारी-नायक हैं नहीं। राम और प्रेमाश्रयी शाखा के नायक उदात्त-चरित्र योद्धा और एकनिष्ठ प्रेमी हैं। दोनों का ही प्रेम पंथ संघर्षपूर्ण है और उन्हें अपने प्रेम-पंथ में सफल होने के लिए अपने पौरुष का प्रमाण देना पड़ता है। दोनों में अन्तर यह है कि राम में गम्भीरता

और मर्यादा का ध्यान है। प्रेमाश्रयी शाखा के नायक मूलतः प्रणयी हैं। वे प्रेम पथ में सर्वस्व लुटा देते हैं। उनका प्रेम प्रकट है और वे प्रिय को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते हैं। ये वाक् पटु और रति-निपुण हैं। इन सबसे भिन्न कृष्ण हैं। उनके शृंगारी-जीवन में संघर्ष त्याग और तपस्या की आवश्यकता नहीं है। वे उन्मुक्त प्रेमी और क्रीड़ा-विलास से परिपूर्ण पूर्णतः शृंगारी हैं।



सप्तम अध्याय

भक्ति श्रृंगार में नायिका का स्वरूप

नायिका श्रृंगार का मूलाधार है। वह आश्रय और आलंबन दोनों है। उसके रूप का हिन्दी-साहित्य में अनेक रूपों में चित्रण हुआ है। साहित्यकारों का यह प्रिय विषय रहा है। परवर्ती साहित्य में नायिका-भेद का बड़ा विस्तार हुआ है। भक्ति-श्रृंगार में नायिका का विविध-रूपी-वर्णन हुआ है पर शास्त्रीय नायिका भेद पर विशेष रचनाएँ नहीं हुई हैं। सूरदास की साहित्य-लहरी में नायिकाओं का वर्गीकरण किया गया है जो कि पूर्णत शास्त्रीय पद्धति पर है। उसकी रूप रेखा निम्नलिखित है —

नायिका— (१) स्वकीया (२) परकीया
स्वकीया— (१) मुग्धा (२) मध्या (३) प्रौढ़ा
मुग्धा— (१) ज्ञातयौवना (२) अज्ञातयौवना
मध्या और प्रौढ़ा—(१) धीरा
पुन (१) ज्येष्ठा (२) कनिष्ठा
परकीया—(१) ऊढ़ा (२) अनूढ़ा
पुन —(१) गुप्ता (२) विदग्धा (३ लक्षिता (४) मुदिता और (५) अनुशयाना
विदग्धा —(१) वचन-विदग्धा (२) क्रिया-विदग्धा

अन्य भेद

नायिका— (१) अन्य सुरत-दुःखिता (२) प्रेमगर्विता (३) रूपगर्विता (४) मानिनी।

नायिका— (१) कलहान्तरिता (२) प्रोषितपतिका (३) खंडिता (४) उत्कंठिता (५) विप्रलब्धा (६) वासकसज्जा (७) स्वाधीन पतिका (८) अभिसारिका (९) वठियमनी (१०) आगतपतिका।

नन्ददास ने भी 'रसमञ्जरी' में नायिका भेद किया है। वह इस प्रकार है —

नायिका—(१) स्वकीया (२) परकीया (३) सामान्या।
प्रत्येक के—(१) मुग्धा (२) मध्या और (३) प्रौढ़ा।
मुग्धा — (१) नवोढ़ा (२) विश्रब्ध-नवोढ़ा।
— (१) अज्ञातयौवना (२) ज्ञातयौवना।
मध्या तथा प्रौढ़ा—(१) धीरा (२) अधीरा (३) धीरा धीरा।
परकीया—(१) सुरत गोपना (२) वाग्विदग्धा (३) लक्षिता।

अन्य भेद

नायिका—(१) प्रोषितपतिका (२) खण्डिता (३) कलहांतरिता (४) उत्कंठिता (५) विप्रलब्धा (६) वासकसज्जा (७) अभिसारिका (८) स्वाधीनपतिका तथा (९) प्रीतमगवनी।

प्रेमाश्रयी शाखा में 'पद्मावत' में चेतन तथा 'रामचन्द्रिकावली' में हंस मिश्रि नायिका का कामशास्त्रीय वर्गीकरण करते हैं। इसके अनुसार नायिका की चार जाति होती है—(१) पद्मिनी (२) चित्रिणी (३) शंखिनी और (४) हस्तिनी। नायिकाओं का रति की दृष्टि से (१) मृगी (२) बड़वा तथा (३) हस्तिनी वर्गीकरण भी किया गया है।

संपूर्ण भक्ति-शृ गार में काव्य रचना नायिका-भेद के आधार पर नहीं हुई है। नायिकाओं की जाति का जहाँ-कहीं भी उल्लेख हुआ है उन्हें पद्मिनी माना गया है। इस काव्य में नायिका का जो भी रूप प्राप्त है वह स्वतन्त्र रूप में है। यह दूसरी बात है कि नायिका भेद के अधिकतर रूप इस साहित्य में प्राप्त हो जाएँगे।

भक्ति-शृ गार की आलम्बनभूत नायिकाओं का अध्ययन उनके दो मुख्य भेद स्वकीया और परकीया के अन्तर्गत करना उचित होगा। सामान्या में केवल कुब्जा आती है और वह गौण है इसलिए यह अधिक अनावश्यक है।

स्वकीया नायिका

हिन्दी भक्ति-काव्य में स्वकीया का यथेष्ट चित्रण हुआ है। भक्ति की कृष्णाश्रयी शाखा को छोड़कर शेष सभी शाखाओं में स्वकीया रूप ही प्राप्त है। कृष्णाश्रयी शाखा में भी राधा को अनेक प्रकार से स्वकीयात्व प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है; पर इनमें अधिकतम असफल हुए हैं। इसका विवेचन 'परकीया नायिका' के अन्तर्गत किया जाएगा।

ज्ञानाश्रयी शाखा

निर्गुण ज्ञानाश्रयी-शाखा में आत्मा को स्वकीया नायिका माना गया है। इसका नायिका भेद के अन्तर्गत अध्ययन समीचीन नहीं है। फिर भी यदि हम चाहें तो उसकी प्रेम-उक्तियों के आधार पर उसे प्रगल्भा नायिका की संज्ञा दे सकते हैं। नायिका का यह रूप या तो स्वाधीनपतिका अथवा विरहोत्कंठिता का है।

प्रेमाश्रयी शाखा

इस शाखा में सभी नायिकाएँ विवाह द्वारा स्वकीया हो जाती हैं। इस विवाह के पूर्व सभी नायिकाएं कन्यका परकीया हैं।

स्वकीयात्व प्राप्त करने के बाद सामान्यतः प्रेमगाथा-काव्य समाप्त हो जाते हैं। फलस्वरूप नायिका के स्वकीया रूप का अधिक विस्तार नहीं है। पद्मावत इसका अपवाद है। चित्रावली में भी स्वकीया रूप का अल्प चित्रण है। पद्मावत में नागमती और पद्मावती दोनों के स्वकीया रूप का यथेष्ट विकास हुआ है। मधुमालती की कथा विवाहोपरांत नहीं बढ़ाई गई है।

मुग्धा नायिका

प्रेम-काव्यों में मुग्धा नायिका के वर्णन के लिए यथेष्ट अवकाश है किन्तु इसका पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया गया है। विवाहोपरांत अत्यंत क्षणिक काल के लिए चित्रावली और पद्मावती में मुग्धत्व प्रदर्शित किया गया है। विवाहोपरांत जब सहेलियाँ रत्नसेन को पद्मावती के आने की सूचना देती हैं और वह बाला को बाँह पकड़कर सेज पर लाता है उसी स्थान पर ही नायिका का मुग्धा रूप प्रदर्शित हुआ है। वह मन में सकुचाती डरती और सिसकती है। इसके बाद ही कवि ने एक झटके से उसके मुग्धत्व को नष्ट कर दिया। वह रत्नसेन को 'जोगी' संबोधन कर जो कुछ कहती है वह उसे मध्या एवं प्रगल्भा नायिका की श्रेणी में बैठा देता है। चित्रावली में बेचारी कौलावती को सोहागरात के दिन ही अपने पति को मनाना पड़ता है। मुग्धा नायिका बनने का उसके पास अवकाश कहाँ है? हाँ चित्रावली के चरित्र में इसके लिए विशेष स्थान है और कवि ने इस अवसर का उपयोग भी किया है। प्रथम समागम से बाला डरती है और मानो पल पल में भयभीत है। उसके सारा पैरों में अचेतना-सी पड़ गई है। छल-बल से सखियाँ उसे सेज के पास ले आईं वह पानी के किनारे आकर खड़ी हो गई। अनेक प्रकार से सखियाँ उसे समझाती हैं पर वह समझती नहीं है। कुँअर अनेक प्रकार से उससे विनती करता है पर वह एक भी बात नहीं मानती। इसके बाद कुँअर उठकर उसकी बाँह पकड़ता है। पद्मावती की भाँति चित्रावली भी कुँअर को 'जोगी' कहकर जो कुछ कहती है

वह उसके मुखरस को मंथ कर उस प्रगल्भा की श्रेणी में बैठा देता है। इस प्रकार चित्रावली में मुग्धा का संकेत ही मानना चाहिए। मधुमालती में मुग्धा का रूप अधिक सहज और स्वाभाविक है। इसमें मुग्धा की स्वाभाविक मिलन-अभिलाषा, लज्जा और भय आदि सभी का वर्णन है। प्रेमाख्यानी काव्यों में मुग्धा का यह सर्वोत्तम वर्णन है। इसकी एक झलक देखिए

लै उठाइ कुँवरहि सौं तहाँ। सुरति सेज सिंघासन जहाँ।
झझुरि सखी बाला फुसिलाई। कुरति सेज लै बैसाई।
जिहि चाहत मिलन कै जिहि मैं हिये परेउ।
प्रथम समागम काल तिसि न सौंह करेउ॥
कुँवर सौंह आनिनि चहि चहा। हिया लेराय जो रे दुख रहा।
धनहुँ ठव चाहित निठुराई। परिहरि लाज लाजु धीव माई।
लाज छोड़ि कहु रस सौं बैना। सौंह भये तब दुहुँ के नैना।
चहे जो लौचनप्रनात दिसाये। दुगहु पिया रस रूप समाये।
हाथि दुनो के हिये बोलानी। मिलन भाव की सपट सिरानी।
नैन नैन तें लोभे मन तें मन संवाद।
दुइ हीयर जो एक भो जो भो एक परान॥
सति सिमत रूप चल दीठ। रवि ससि मिलि एक भी दीठ।
मुख-मुख सौंह सौंह ना करई। प्रथम समागम डर डरई।
कुँवर अधर अधरन्हु सौं जोर। कुँवरि विमुख मैं मैं मुख मोर।
दीन भरम मुख चूके बाला। अविको कर रतन उजियारा।
दुनो कर लै लाजन्हु मुख मोदे। अधर दसन के जरित मोंदे।
एक बोल मरम दिखारी, सौ जो प्रीति समेत।
जिसरे लाज प्यासेउ घनकन्हु दुहुँ रतिरस॥ (११२ १२)

मध्या नायिका

मध्या नायिका का स्वरूप केवल पद्मावत और चित्रावली में ही उपलब्ध है। यथार्थ में यह रूप भी मध्या और प्रगल्भा का अद्भुत सम्मिश्रण है। 'साहुलपात' में नायिका का प्रिय से समागम जिसमें वह उन दोनों रहकर फटकारती है और फिर अनेक प्रकार से प्रेम-चर्चा करती है मध्या की सीमा को पार कर प्रगल्भा की सीमा को छूने लगता है। किन्तु इसके बाद वाला रूप पुनः मध्या के अंतर्गत ही आता है। नायिका के उपर्युक्त अंगों का आधार रति क्रीड़ा में नायिका की सलज्जता एवं यौवनादि का अधिक विकास तथा नायिका की नायक के प्रति मग्नता है। अतएव प्रगल्भा की स्थिति को पहुँचती हुई नायिका को पुनः मध्या की पूर्वस्थिति

में माना अनुपयुक्त होगा । इसी आधार पर पद्मावती और चित्रावली को प्रथम समागम के अवसर पर मुग्धा होने पर भी प्रगल्भा नायिका नहीं मानना चाहिए। वे मध्या एवं प्रगल्भा की संधि-स्थल की ही नायिकाएँ मानी जाएँगी । पद्मावती का रत्नसेन से प्रथम समागम के दिन बाद विवाह एवं उसके षड्ऋतुओं में संपन्न संभोग के स्वरूप को मध्या का रूप ही मानना चाहिए । यही स्थिति चित्रावली की भी है ।

मध्या के उपभेद धीरा धीराधीरा और अधीरा में इस साहित्य में दूसरा रूप धीराधीरा ही प्राप्त है । पद्मावती चित्रावली और नागमती तीनों में ही यह रूप प्राप्त है । यह रूप अपने प्रेम का उल्लेख और प्रिय की निष्ठुरता का वर्णन करते समय हुआ है ।

प्रगल्भा नायिका

इस धारा में प्रगल्भा नायिका का अभाव है । इसमें मध्यत्व ही प्राप्त है यद्यपि यह मध्यत्व कहीं-कहीं प्रगल्भता की सीमा को छूने लगता है ।

स्वकीया के अवस्थानुसार अन्य भेद

नायिका के अवस्थानुसार आठ भेदों में से स्वाधीनभर्तृका खंडिता प्रोषितभर्तृका और वासकसज्जा रूप ही इस धारा में प्राप्त हैं । इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है —

स्वाधीनभर्तृका

स्वाधीनभर्तृका नायिका का प्रेमी उसकी प्रेम डोर से बँधा हुआ उसे छोड़ कर अन्यत्र नहीं जा सकता है । यदि इस लक्षण का आधार लें तो प्रेमाख्यानी धारा में मधुमालती को ही स्वाधीनभर्तृका माना जाना चाहिए । विवाहोपरांत मनोहर मधुमालती की कथा समाप्त हो जाती है । अपनी पत्नी के अतिरिक्त उसका किसी अन्य से प्रेम होने की संभावना नहीं है । अतः मधुमालती को स्वाधीनभर्तृका मान लिया जा सकता है । पद्मावती और नागमती तथा चित्रावली और कौलावती इस गौरव की अधिकारिणी नहीं हैं । नागमती को छोड़कर रत्नसेन पद्मावती की खोज में चला गया था और पुनः नागमती के प्रेम के कारण ही वह चित्तौड़ लौट आया । इसी प्रकार चित्रावली के कारण सुजान ने कौलावती को छोड़ा और कौलावती के कारण वह पुनः लौट आया । अतएव दोनों के प्रति नायक का प्रेम होते हुए भी एक से मिलन की स्थिति में दूसरे की खंडिता की स्थिति अनिवार्य है इसीलिए इस धारा की नायिकाओं को स्वाधीनभर्तृका नहीं कहा जा सकता है । हाँ जिस समय नायक जिसके पास है उसके समय के लिए वह स्वाधीनभर्तृका कही जा सकती है ।

खंडिता

खंडिता नायिका केवल पद्मावत और चित्रावली में प्राप्त है। पद्मावती की खोज में जाने के कारण नागमती प्रोषितभर्तृका ही नहीं खंडिता भी हो गई है। इसके बाद चित्तौड़ लौटने के बाद रत्नसेन-नागमती मिलन के अवसर पर पद्मिनी की स्थिति भी खंडिता नायिका की हो गई थी। यही हाल चित्रावली और कौलावती का भी हुआ था।

खंडिता नायिका की उक्तियों में उग्रता का अभाव है। नायक की निष्ठुरता और अपनी अवहेलना की मर्म अभिव्यक्ति है। कवियों का खंडिता नायिका का करुण चित्र ही अधिक है। खंडिता पद्मिनी का एक चित्र निम्नलिखित है —

> कहौं सुरुज कया रैनि बिहानी। भोर भएउ कहँ पदुमिनि रानी।
> भाग देस ससि बदन मलीनी। कँवल नैन राते तन खीनी।
> रैनि नखत गनि कीन्ह बिहानू। बिकल भई अस देखे भानू।
> सुरुज हुआ ससि रोई पुकारा। टूटी आँसु नखतन्ह के मारा।
> रहे न राखे होइ निसारा। तहँवहि जाहि जहाँ निसि बासी।
> हौं के नेहु आनि कुच मेली। सींच लाय करुनी बेली।
> भए के नैन रहँट की घरी। भरीं ते ढारीं छूछीं भरीं।
> सुभर सरोवर हंस जस चलतहि भएउ बिछोह।
> कँवल प्रीति नहिं परिहरै सूखि पंक जस होइ॥ (४३०)

प्रोषितभर्तृका

इस साहित्य में स्वकीया प्रोषितभर्तृका का रूप नागमती और कौलावती का ही है। इन प्रबंधों में रत्नसेन और सुजान अपनी-अपनी विवाहिता पत्नियों को छोड़कर क्रमशः पद्मिनी और चित्रावली की खोज में जाते हैं। इनके अतिरिक्त रत्नसेन-बंधन खंड से मोक्ष-खंड तक नागमती और पद्मिनी दोनों प्रोषितभर्तृका हैं।

वासकसज्जा

स्वकीया नायिका का वासकसज्जा रूप केवल चित्रावली ग्रंथ में प्राप्त है। सुजान के लौटने पर कौलावती सोलहों शृंगार कर वासकसज्जा रूप में उसकी प्रतीक्षा करती है —

> कंत कथा परतीति पर सोरह साजि सिंगार।
> बासक-सेजा होइ रही साइ मन सुद बार॥ (२९९)

स्वकीया नायिका के अन्य भेदों में स्पर्धिता एवं ज्येष्ठा और कनिष्ठा हैं। नागमती और पद्मावती दोनों ही स्पर्धिता नायिकाएँ हैं। नागमती के स्पर्धिता होने का पता उस समय लगता है जब वह सुआ से पूछती है कि क्या

उसके समान सुन्दरी और कोई नारी भी है। उसका यह रूपगर्विता रूप रत्नसेन के लौटने पर पुनः प्रकट होता है। वह कहती है यद्यपि पद्मिनी अत्यन्त सुन्दरी है पर क्या वह रूप में मेरे बराबर हो सकती है? जहाँ अप्सराओं के बीच में महासुन्दरी राधिका हों वहाँ चन्द्रावली उसकी शोभा की तुलना नहीं कर सकती। (४२६)। पद्मावती को भी अपने रूप का बड़ा गर्व है और वह भी नागमती को कुछ नहीं गिनती है। वह चित्तौड़ में रत्नसेन से कहती है मैं सिंहल द्वीप की पद्मिनी हूँ। जम्बू द्वीप की नारियाँ मेरी बराबरी नहीं कर सकती हैं। मैं सुगन्धित निर्मल और उज्ज्वल हूँ। वह विष से भरी डरावनी और काली है। मेरी सुगन्धि से आकृष्ट भौंरे सब लग जाते हैं। उसे देखकर मनुष्य डर से भाग जाते हैं। (४३१)। दोनों का यह रूप-गर्व ही परस्पर झगड़ा करानेवाला होता है।

पति के प्रेम के आधार पर पद्मिनी और चित्रावली ज्येष्ठा तथा नागमती और कौलावती कनिष्ठा हैं।

सभी नायिकाएँ संयोग-आनन्दिता हैं। समागम के उपरान्त का उनका [illegible] स्वरूप प्रकट होता है।

प्रेमाश्रयी धारा में नायिका इन विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई है। स्वकीया की इतनी विविधता भक्ति-साहित्य की अन्य धाराओं में उपलब्ध नहीं है।

रामाश्रयी धारा

राम-काव्य शृंगार-काव्य नहीं है। शृंगार उसमें प्रासंगिक रूप में आया है। इस साहित्य में सभी नायिकाएँ स्वकीया हैं पर उनका वर्गीकरण नायिका भेद प्रणाली पर कठिन है।

शृंगार की आलंबन नायिकाएँ पार्वती सीता माण्डवी और श्रुतकीर्ति हैं। इनमें भी माण्डवी और श्रुतकीर्ति के अपने पतियों को देखकर मन ही मन प्रसन्न होने मात्र का उल्लेख है। इस रूप में ये मुग्धा स्वाधीनपतिका नायिकाओं की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। उनका यह रूप विवाह के अवसर पर प्रकट हुआ है —

अनुरूप बर दुलहिनि परस्पर लखि सकुच हिये हरषहीं।
सब मुदित सुन्दरता सराहहिं सुमन सुरगन बरषहीं॥

उपर्युक्त प्रसंग में अन्तर्निहित होने के अतिरिक्त उर्मिला के शृंगार का एक उल्लेख गीतावली में प्राप्त है। विवाह के उपरान्त के इस पद में उर्मिला का सजाकर अपने प्रिय को देखने का उल्लेख है। उर्मिला और लक्ष्मण आनन्दित होकर केलिगृह जाते हैं इसलिए उर्मिला का स्वरूप स्वाधीनभर्तृका मुग्धा नायिका का माना जा सकता है। गीतावली का यह पद निम्नलिखित है —

जैसे ललित लखन लाल लोने।
तैसिये ललित उरमिला परसपर लखत सुलोचन-कोने॥
सुखमासार सिंगार सार करि कनक रच्यो है तिहि सोने।
रूप-प्रेम-परमिति न परत कहि बिथकि रही मति मौने॥
सोभा-सील-सनेह सोहावनो समउ केलि-गृह गौने।
देखि तियनि के नयन सफल भये तुलसीदास हू के होने॥

(गी. १०७)

पार्वती

राम-साहित्य में पार्वती का स्थान सीता के बाद ही है। शिवजी से इनका विवाह हुआ था। अतएव ये स्वकीया नायिका हैं। मानस और पार्वती-मंगल में इनका विस्तार से वर्णन है। किन्तु विवाह के बाद का इनका वर्णन संक्षिप्त सांकेतिक और केवल मानस में ही प्राप्त है। पार्वती का निम्नलिखित रूप इस साहित्य में प्राप्त है।

स्वाधीनभर्तृका पार्वती

नायिका भेद की दृष्टि से पार्वती स्वाधीनभर्तृका हैं। उनके पति शिव का उनके अतिरिक्त और किसी पर अनुराग नहीं है। वे सदा पार्वती को अपनी प्रिया मानते हैं और उनका खूब आदर-सत्कार करते हैं इसीलिए उन्हें स्वाधीन भर्तृका मानना चाहिए —

जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बाम भाग आसनु हर दीन्हा॥

(मानस बा० १०६)

पार्वती में मुग्धा रूप का उल्लेख नहीं है।

मध्या-प्रगल्भा पार्वती

पार्वती के इस रूप का भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। कवि ने इतना मात्र कहा है कि शिव पार्वती विविध प्रकार के भोग विलास करते हुए अपने गणों सहित कैलाश पर रहने लगे। वे नित्य नये विहार करते थे। इस प्रकार बहुत समय बीत गया —

करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा॥
हर-गिरिजा बिहार नित नयऊ। एहि बिधि बिपुल काल चलि गयऊ॥

(मानस, बा १०२)

उपर्युक्त उल्लेख में 'बिबिध बिधि भोग-बिलासा' और 'बिहार नित नयऊ' से पार्वती के मध्या और प्रगल्भा होने का अनुमान लगाया जा सकता है। नायिका भेद के अन्य रूप पार्वती में सम्भव नहीं हैं।

सीता

राम-काव्य की नायिका सीता है और इस दृष्टि से सारे राम-काव्य में इन्हीं का सबसे अधिक उल्लेख है किन्तु फिर भी यह मात्रा में काफ़ी कम है। इस साहित्य में सीता के निम्नलिखित रूप प्राप्त हैं —

मुग्धा सीता

सीता के सबसे मनोहारी रूपों में उनका मुग्धा रूप है। उनका विवाह हो गया है। पति उन्हें पहले ही पसन्द आ गये हैं। उन्हें इतना पास देखकर वे बार बार सकुचाती हैं। स्थिर दृष्टि से चाह कर भी देखना संभव नहीं है। वे एक सरल-सा मार्ग निकाल लेती हैं। वे कंकन अथवा हाथ की मणि में राम की छवि को एकटक निहारती रहती हैं। उनकी यह मुग्धता वनवास में भी है। भारतीय कुल-वधुओं की भाँति वे भी अपने पति का नाम लेने में शर्माती हैं। ग्राम-वधूटियों की जिज्ञासा की शांति वे बड़े ही सुन्दर ढंग से संकेत द्वारा करती हैं। मुग्धा नायिका का उनका यह रूप अनूठा है।

सीता की मध्या प्रगल्भा नायिका रूप में कहीं भी चर्चा नहीं है।

प्रोषितभर्तृका

वनवास के लिए राम कटिबद्ध हैं। इस समाचार को सुनने के बाद से जब तक उन्हें साथ वनवास जाने की अनुमति नहीं मिलती है तब तक का उनका रूप प्रोषितभर्तृका का है। इसमें भविष्य प्रवास की आशंका है। प्रोषितभर्तृका का दूसरा रूप उनके वियोग का है। इस समय यद्यपि वे स्वयं प्रवास में हैं, किन्तु यह भी तो प्रिय का ही प्रवास हो जाता है। सीताहरण से लेकर राममिलन तक की स्थिति इसी भेद के अंतर्गत है।

स्वाधीनभर्तृका

सीता स्वाधीनभर्तृका हैं। उनके पति उन्हीं का प्यार करते हैं। उनकी इच्छानुसार राम उन्हें कथा-वार्ता सुनाते हैं एवं वन में अपने हाथों उनका शृंगार करते हैं जिससे उपयुक्त बात स्पष्ट होती है। राम का अपने प्रति बढ़ता स्नेह वे प्रतिदिन देखती हैं।

पतिव्रता

सीता के पातिव्रत को व्यक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे इसकी आदर्श हैं। उनका सारा जीवन ही उनके पातिव्रत की घोषणा करना है।

पति के विचारों की समझनेवाली

सीता प्रिय के हृदयगत भावों को जाननेवाली और तदनुसार कार्य करने वाली हैं।

पतिसेविका

सीता पतिसेविका है। उसे अपने श्रम की चिन्ता नहीं है। वह पति के सभी श्रमों को दूर करने को कहती है। पति के साथ चलने का वह यही कारण बतलाती है —

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं॥
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें॥
सम महि तृन तरु पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥
(मानस अ० ६६)

रामाश्रयी शाखा की नायिकाओं के स्वरूप के इस अध्ययन से स्पष्ट है कि इसमें परम्परागत नायिका भेद का अवलम्बन नहीं लिया गया है। अधिकतर नायिकाओं की उदात्त भावनाओं के चित्र ही विस्तृत रूप से दिये गये हैं। शृंगारिक भेद जो थोड़े-बहुत हैं वे सांकेतिक ही हैं।

कृष्णाश्रयी शाखा

कृष्णाश्रयी शाखा के वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा को स्वकीयात्व प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। यह कार्य रास के अवसर पर ब्रह्मा द्वारा उनका विवाह कृष्ण से करा कर किया गया है। लेखक के विचार से भक्त कवियों का यह प्रयास सफल नहीं रहा और राधा को स्वकीयात्व प्राप्त नहीं हो सका। इसकी विस्तृत चर्चा परकीया के प्रसंग में की जायेगी। चैतन्य-सम्प्रदाय में राधा को परकीया माना गया अतएव वहाँ स्वकीया का प्रश्न ही नहीं उठता है। शेष राधावल्लभ सखी सम्प्रदाय आदि में राधा का स्वरूप सर्व प्रचलित धारणा से पूर्णत: भिन्न है। इन सम्प्रदायों में राधा-कृष्ण को निरन्तर रमिरत चित्रित किया गया है। इसमें नायिका-स्वरूप की विविधता का अवकाश नहीं है। नायिका के जो रूप प्राप्त हैं वे निम्नलिखित हैं —

मुग्धा

राधा का मुग्धा रूप कृष्ण-साहित्य में बहुत ही कम है। सामान्यत: वह काम-कला-कोविदा एवं काम केलि रता है। एक-आध स्थलों पर और वह भी विशेषत: प्रथम समागम के अवसर पर ही उसका यह रूप परिलक्षित होता है। इस अवसर पर नायिका अतिशय लज्जाशीला, भयशीला और प्रिय स्पर्श को बचाने वाली है। यथा—

नमित ग्रीव छबि सींव रही घूंघट पटहि सँभारि ।
चरनन सेवत अगुरी प्रति सलज्ज सुकुमारि ॥
चो अंग चाहत छुयौ पिय कुंवरि छुवनि नहिं देत ।
चितवनि मुसकनि रस भरी हरि हरि प्रानन लेत ॥

(ध्रुवदास ब्यालीस लीला रसरतनावली लीला २—७)

किन्तु यह मुग्धत्व अल्पकालीन है। बाद में नायक की आतुरता देखकर नायिका स्वयं सक्रिय हो जाती है। अत एक प्रकार से इस साहित्य में मुग्धा रूप उपलब्ध नहीं है।

मध्या और प्रगल्भा

नायिका के मध्या और प्रगल्भावाला चित्र इस साहित्य में अधिक उपलब्ध है। इसके अन्तर्गत नायिका का प्रिय के लिए स्वयं सक्रिय हो जाना विविध प्रकार से रति-क्रिया संपादित करना आदि के वर्णन आते हैं। प्रगल्भा नायिका के अंत र्गत ही राधा का रतिदक्षा रतिकलाकोविदा रतिरणधीरा आदि रूप आएँगे। राधा के प्रगल्भा रूप का एक उदाहरण स्वामी हरिदास की रचना केलिमाल से दिया जा रहा है। इसमें नायिका कृष्ण से अपना यौवन-मद पीने के लिए कहती है —

प्याव लाल ऐसें मद पीव तेरो प्यारा मेरी प्रतिमा भरि।
कुच की सुराही नयन की प्याली, वाक चौपियों संकौ भरि।
अधरनि चुवाइल सब रस तन को न जान दें इत-उत ढरि।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी की सुहरत की खबर कहाँ पावत हरि॥

(केलिमाल ७४)

सुरतकला-प्रवीणा

इस साहित्य में राधा का सुरतकला प्रवीणा रूप भी यथेष्ट वर्णित हुआ है। राधा-कृष्ण की अनेक संभोग-लीलाएं सुरतादि से आपूरित हैं। इन लीलाओं के केन्द्र राधा और कृष्ण हैं। दोनों ही इस कला में निष्णात हैं। यह रूप इस साहित्य में सर्वत्र प्राप्त है।

नायिका के अवस्थाभेदानुसार स्वाधीनभर्तृका अभिसारिका एवं स्वयं दूतिका रूप इस साहित्य में उपलब्ध हैं।

स्वाधीनभर्तृका

राधा स्वाधीनभर्तृका है और उसकी कोई प्रतिद्वंदिनी नहीं है। कृष्ण उनके प्रेम के सदा आकांक्षी हैं। कृष्ण राधा की कृपा के कितने आकांक्षी हैं इसका एक सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित है —

में है। अन्य साहित्यों में परकीया का जो रूप मान्य है वह 'कन्यका परकीया' का है। विवाह से पूर्व माता-पिता के अधीन प्रेमी कन्या 'कन्यका परकीया' के अन्तर्गत आएगी। यह कन्यका परकीया रूप राम और प्रेमाश्रयी शाखा के साहित्य में प्राप्त है। कन्यका परकीया का विवाह जब प्रिय से हो जाता है तब उसे स्वकीयात्व प्राप्त हो जाता है। कृष्णाश्रयी शाखा में कन्यका परकीया और शुद्ध परकीया (दूसरे की पत्नी) का उल्लेख है किन्तु स्वकीयात्व प्राप्त करनेवाली कन्यका परकीया का नहीं है। नीचे विभिन्न भक्ति-शाखाओं में प्राप्त परकीया के रूपों पर विचार किया जा रहा है।

ज्ञानाश्रयी शाखा

ज्ञानाश्रयी शाखा में परकीया के समस्त रूपों का नितान्त अभाव है।

प्रेमाश्रयी शाखा

इस साहित्य में कन्यका परकीया का विस्तृत उल्लेख है। इस साहित्य की सभी मुख्य नायिकाएँ—पद्मावती चित्रावली कौलावती और मधुमालती प्रारम्भ में कन्याएँ ही हैं। इनमें पद्मावती के अतिरिक्त अन्य का विवाहोपरान्त स्वरूप विवेचित नहीं हुआ है। अतएव हम कह सकते हैं कि प्रेमाश्रयी शाखा में परकीया नायिका की ही प्रधानता है।

प्रेमाश्रयी शाखा में प्राप्त कन्यका परकीया का शास्त्रीय वर्गीकरण कठिन है। परकीया के मुग्धा मध्या और प्रौढ़ा भेद सामान्यतः नहीं किए जाते हैं यद्यपि नन्ददास ने अपनी रसमंजरी में उन्हें स्वीकार किया है। फिर परकीया के गुप्ता लक्षिता आदि जो भेद हैं वे भी इस शाखा में उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि नायिका अपना प्रेम कभी भी छिपा कर नहीं रखती है। वह तो उस प्रेम के लिए मर मिटने को तैयार रहती है। हाँ नायिका के अवस्थानुसार भेद हमें इनमें अवश्य मिलते किन्तु वे भी बहुत महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होते। अतएव हमें शास्त्रीय वर्गीकरण का आधार छोड़कर नायिका के व्यापक रूप को ही लेना होगा।

प्रेमपीड़िता नायिका

पूर्वराग में मेल करानेवाली यह प्रेम की प्रथम स्थिति है। प्रिय के प्रत्यक्ष-दर्शन स्वप्न-दर्शन गुण-श्रवण चित्रदर्शन आदि से नायिका के हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जाता है और वह उससे पीड़ित रहती है। पद्मावती चित्रावली कौलावती और मधुमालती सभी प्रेमपीड़िता नायिका रही हैं।

क्रियाविदग्धा नायिका

दस [illegible] में से एक है। इसमें नायिका अपने प्रिय से मिलने के अनेक यत्न करती है तथा नायक पर अपना प्रेम किसी क्रिया द्वारा

व्यक्त करती है। प्रेमाश्रयी धारा की सभी नायिकाएँ क्रिया विदग्धाएँ हैं। वे न केवल प्रिय से मिलने का संदेश ही भेजती हैं वरन् उसे प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न करती हैं। कौलावती उसे चोर बनवाकर पकड़वा लेती है। चित्रावली उसे दूत द्वारा खोजने का प्रयत्न करती है। पद्मावती चंदन द्वारा उसकी छाती पर अपना प्रेम अंकित कर आती है।

अभिसारिका

अभिसारिका प्रिय से मिलने के लिए जाती है। पद्मावत के 'बसंत खंड' में पद्मावती का रत्नसेन से मिलने के लिए महादेव के मंदिर में जाना ही उसका अभिसार है।

मुदिता

कन्यका परकीया का मुदिता रूप केवल मधुमालती में ही प्राप्त है। प्रथम मिलन में मनोहर और मधुमालती के केलिविलास में उसका मुदिता रूप प्राप्त है।

स्वाधीनभर्तृका

परकीया नायिका के स्वाधीनभर्तृका होने में संदेह किया जाता है किंतु पति या भर्ता का अर्थ प्रेमी ही मान्य है। इस अर्थ को स्वीकार करने पर कन्यका परकीया भी स्वाधीनभर्तृका हो सकती है। इस रूप में कौलावती को छोड़ कर शेष सभी परकीयाएँ स्वाधीनभर्तृका हैं क्योंकि उनके प्रेमियों का प्रेम उनके प्रति एकनिष्ठ रहा है।

विरहिणी

कन्यका परकीया का विरहिणी रूप में अनेक स्थलों पर चित्रण है। रत्न सेन के प्रेम में पद्मावती विरहिणी है और उसके संकट को सुनकर अपने प्राण देने को तत्पर है। कुटीचर द्वारा सुजान से वियोग होने पर चित्रावली विरहिणी है। मधुमालती के विरहिणी रूप का भी उल्लेख है। इस प्रकार इस साहित्य में नायिका का यह रूप लगभग सर्वत्र प्राप्त है।

समग्र रूप से इस साहित्य में कन्यका परकीया के अनेक रूप प्राप्त हैं। ये सभी अंत में स्वकीया हो जाती हैं।

रामाश्रयी धारा

इस धारा में सीता का विवाह के पूर्व का रूप कन्यका परकीया का माना जा सकता है। इसमें तथा सामान्य परकीया के प्रेम में यह अन्तर है कि नायक नायिका एक-दूसरे के प्रेम में अवश्य होते हैं मिलने का प्रयत्न करते हैं, किंतु

। प्रेम एक प्रकार से एकांगी रहता है। राम के हृदय में उनके प्रति प्रेम है पर सीता उससे अवगत नहीं है। इसलिए इन्हें कन्यका परकीया भी कहना कठिन है।

कृष्णाश्रयी शाखा

कृष्णाश्रयी शाखा में परकीया अपने शुद्ध रूप में प्राप्त है। गोपादि की पत्नियाँ जिनका कृष्ण से प्रेम था वे सभी शुद्ध परकीया हैं। उनका प्रेम भावनात्मक तथा शारीरिक दोनों ही धरातल पर अत्यंत तीव्र और उत्कृष्ट था। तभी तो जिस गोपी को उसके पति ने रास में जाने से रोक लिया वह अपने शरीर को ही छोड़कर प्रिय के पास पहुँच गई। इन नायिकाओं ने कृष्ण प्रेम में लोक-परलोक पति आदि सभी का परित्याग कर दिया है। ऐसी ही एक नायिका कहती है कि मैंने तो नन्द-नन्दन से प्रेम किया है। कोई इसे चाहे पातिव्रत कहे या व्यभिचार—

मैं तो प्रीति स्याम सौं कीनी।
कोऊ निन्दो कोऊ बन्दो अब तो यह कर दीनी।
जो पतिव्रत तो यह ढोटा सौं इन्हें समर्प्यों देह।
जो व्यभिचार नन्द-नन्दन सौं बाढ़्यो अधिक सनेह।
जो व्रत गह्यो सो ओर न भायो मर्यादा को भंग।
परमानन्द लाल गिरिधर को पायो मोटो संग।

नन्ददास ने परकीया प्रेम को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए इसे 'रस की अवधि' कहा है—

रस में जो उपपति रस आही। रस की अवधि कहत कवि ताही॥
(रूपमंजरी)

इसी 'उपपति रस' को लेकर उन्होंने सम्पूर्ण 'रूपमंजरी' की रचना की है। रूपमंजरी का विवाह लोभी पिता के कारण कुबुद्धि कुरूप राजकुमार से हो गया। उसकी सखी इंदुमती नहीं चाहती थी कि रूपमंजरी का रूप-सौंदर्य यों ही नष्ट हो। वह इसके लिए उपयुक्त नायक कृष्ण को ही समझती है। उनके प्रेम के लिए प्रार्थना करती है। वे स्वप्न में रूपमंजरी को दर्शन देते हैं। रूपमंजरी उनके प्रेम में पीड़ित होती है। कृष्ण का उनसे स्वप्न में मिलन होता है और इस प्रकार परकीया प्रेम पर आधारित यह कथा समाप्त होती है।

रूपमंजरी की कथा के सादृश्य पर मीरां का प्रेम भी परकीया प्रेम है। इनके प्रेम के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह 'गोपी भाव' का है। यहाँ पर 'गोपी भाव' के प्रेम और गोपियों के प्रेम के अन्तर को समझ लेना आवश्यक होगा। गोपियों के सामने उनके कन्हैया हाड़ मांस-रूप में थे। उनसे उन्होंने प्रीति लगाई थी। गोपी भाव के प्रेम में यह यथार्थ के स्थान पर कल्पना ही अधिक

होती है। इस प्रकार गोपी-कृष्ण-संबंध परकीयात्मक था जबकि गोपी भाव का सम्बन्ध सामाजिक दृष्टि से परकीया की हेयता को प्राप्त नहीं करता। यही कारण है कि यदि एक गृहणी की प्रीति कृष्ण से जुड़ जाती है तो उसकी प्रीत यद्यपि परकीया भाव की होती है किन्तु न तो समाज उस पर आक्षेप करता है और न ही उसे हेय समझता है। किन्तु वही स्त्री यदि किसी हाड़-मांस के पुरुष को कन्हैया मानकर आत्मसमर्पण करे, जैसाकि अक्सर हो भी जाता है, तो न केवल समाज ही उसे हेय दृष्टि से देखता है बल्कि गोपी-भाव के समर्थक भी उसे व्यभिचार कहने से नहीं चूकते हैं। इसीलिए दासी भाव और गोपी प्रेम में बड़ा अंतर है। गोपियों के सम्मुख माता पिता भाई-बन्धु सास-ननद पति और समाज का विरोध पूर्ण सत्यता के साथ था। वे उनकी भर्त्सना के लिए निरन्तर तत्पर रहती थीं। इसके विपरीत गोपी-भाव की प्रीति का अधिकतर समाज की वंदना ही प्राप्त होती है।

मीरां का विवाह हो चुका था। कृष्ण से उनका परकीया संबंध ही संभव था। इस दृष्टि से उनकी दशा रूपमंजरी की स्थिति बड़ी समान-सी थी। इस परकीया संबंध के लिए न तो समाज उन्हें हेय दृष्टि से देखता न सास-ननद। एक विधवा के लिए तो यह समयानुमोदित उपयुक्त ही थी। अतएव उनके पदों एवं लोक-किंवदंतियों में जो सास आदि की भर्त्सना का उल्लेख है इसका कारण उनका कृष्ण के प्रति परकीया प्रेमभाव नहीं होना चाहिए। संभवत: इसका कारण उनका राजमहल की मर्यादा का अतिक्रमण कर साधु-संतों के बीच घूमना होगा। परकीया भाव की उपासना में कृष्ण की खोज साधुओं के बीच में आवश्यक नहीं है। वह तो सर्वत्र, उनके महल में ही विराजमान थे। अत: यह संभावना कम है कि अपनी भक्ति के कारण ही उनके परिवारवाले उनसे रुष्ट थे। यह भी संभव हो सकता है कि उनकी प्रीति किसी मानुषी कन्हैया की ओर गयी हो जिसका संकेत पद्मावती शबनम ने किया है। जो भी हो जहाँ तक उनकी भक्ति का सम्बन्ध है वह परकीया की ही है। रही उनको अपने को स्वकीया समझने की बात, तो इस सम्बन्ध में यही ध्यान रखना है कि उन्होंने अपने को चाहे जितना स्वकीया-सा समझा हो पर बार-बार सामाजिक परिस्थितियाँ उन्हें उनका परकीयात्व याद दिला देती थीं जिन्हें वे भूल नहीं सकीं।

राधा का परकीयात्व

भक्ति-साहित्य में राधा के परकीयात्व का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। चैतन्य संप्रदाय के अतिरिक्त अन्य किसी संप्रदाय में राधा को प्रौढ़ा नहीं माना गया है। वल्लभ-संप्रदाय में राधा का कृष्ण से विवाह कराकर उनकी समस्त क्रीड़ा को स्वकीया का क्रीड़ा-विलास माना जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि राधा

के विवाह पर उनके क्रीड़ा-विलास पर तनिक विस्तार से विचार किया जाए, इसके पूर्व राधाकृष्ण के प्रेम विकास का अवलोकन आवश्यक है।

राधा-कृष्ण-प्रेम का विकास

राधा-कृष्ण प्रेम का विकास सूरदास ने अत्यन्त स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। हरि ब्रज-खोरी में खेलने निकले हैं। और उन्हें वहीं अचानक ही सुन्दरी राधा दिखलाई पड़ जाती है। दोनों के नेत्र मिल जाते हैं और उनमें ठगौरी पड़ जाती है। श्याम राधा से उसका परिचय पूछते हैं तुम कभी ब्रज की खोरी में दिखलाई नहीं पड़ती। राधा भी खूब उत्तर देती हैं कानों से सुनती हूँ कि नंद का पुत्र माखन चोरी करता रहता है मानो कह रही हों कि आज उसी चोर को देख भी लिया। किन्तु रसिक शिरोमणि ने ऐसी बात बनाई कि दोनों में खेल होने लगा। यहाँ तक बाल-स्नेह और मित्रता का रूप स्पष्ट है। किन्तु अगले पद से ही कैशोर-प्रेम का विकास होने लगता है। इस परिवर्तन के बीच कितना समय बीत चुका है इसका उल्लेख नहीं है। अब नेत्रों से बातें होती हैं। दोनों गुप्तप्रीति प्रकट करते हैं। मिलने का बहाना बतलाते हैं। दोनों अपनी प्रीति को छिपाकर रखते हैं। राधा दूसरे दिन बहाना बनाकर नन्द की खरिक में जाती हैं। नन्द कृष्ण को सौंपकर राधा से रखवाली करने को कहते हैं। कृष्ण राधा की नीवी पकड़ते हैं तथा कुच पर हाथ रखते हैं। इतने में यशोदा आ जाती हैं। कृष्ण अपने हृदय के काम-स्वरूप से पूर्णतः परिचित हैं। तरुण वे नंद खेलने का बहाना करते हैं। यशोदा उन्हें सत्य समझती हैं। कृष्ण राधा को वृन्दावन ले जाते हैं। कहते हैं कि अपने-तुम्हारे बीच कुछ भी अन्तर नहीं रख सकूँगा। तुम्हारा तन-ताप एवं कामाग्नि शान्त करूँगा। राधा भी काम से पीड़ित हैं। लज्जा किन्तु स्वीकृति से मुख झुका लेती हैं। श्याम गगन में मेघ छा देते हैं। आँधी आती है। नन्द राधा से कृष्ण को सँभालने के लिए कहते हैं। दोनों घोर वन में जाकर कामोन्मत्त होकर विहार करते हैं। दोनों का प्रेम नवीन है। स्थान नवीन है आभरण नवीन है। नव-यौवन से मदन दोनों आनन्द लेते हैं। काम की ज्वाला शान्त होती है पर प्रेमोन्मत्तता के कारण दोनों एक-दूसरे को छोड़ते नहीं हैं। अपने-दोनों के बीच में हार का अन्तर भी बाधक है तथा मरकत मणि जिस प्रकार स्वर्ण में जड़ी हो उसी प्रकार दोनों एक-दूसरे से लिपटे हैं। राधा हठ कर मना करती हैं। कृष्ण पैर पकड़ते हैं और मान-मोचन होता है। पुनः रति प्रारम्भ होती है। कृष्ण सन्तुष्ट होकर राधा पर रीझते हैं। हर्ष से प्यारी को कण्ठ लगाते हैं। राधा मुस्करा देती हैं। शृंगारादि के बाद रति समाप्त होती है और कृष्ण घर जाते हैं।

अब राधा का कृष्ण के घर नित्य आगमन होने लगा। यशोदा से परिचय भी हो गया। यशोदा ने राधा से कृष्ण के साथ खेलने के लिए आते रहने को कहा। राधा मान गयी। राधा को देखते ही कृष्ण अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं। गाय की जगह बैल का दुहन बैठ जाते हैं। खूब हँसी होती है। हास-परिहास बढ़ने लगा। कृष्ण कभी दूध की धार राधा पर मार देते हैं। राधा बनावटी कोप करती है। फिर गारुड़ी सीखा होती है। कृष्ण गारुड़ी बनकर विष उतारते हैं

उपर्युक्त से सम्बन्धित पदों का डॉ० दीनदयालु गुप्त ने परकीया के अन्तर्गत नहीं लिया है। उनके अनुसार 'कृष्ण से माधुर्य-भाव का प्रेम करनेवाली दो प्रकार की गोपियाँ थीं। एक वे कुमारिकाएं थीं जिन्होंने प्रारम्भ से ही कृष्ण की रूपमाधुरी और गुणों पर मुग्ध होकर उन्हें अपना पति माना था और उनमें से कुछ का उनसे वरण भी हो गया था। दूसरी वे विवाहिता गोपियाँ थीं जिन्होंने पर-पुरुष कृष्ण से परकीय रूप में प्रेम किया था। अष्टछाप भक्तों ने जैसा कि अभी कहा गया है, बहुधा गोपियों को स्वकीया ही चित्रित किया है। यद्यपि कुछ गोपियों का उनसे विवाह नहीं हुआ था। फिर भी वे लोक-लाज कुल-कानि छोड़कर कृष्ण से ही प्रेम करती थीं। परकीया भाववाले पद इनकी रचनाओं में बहुत कम हैं। जहाँ गोपियों के मान और खंडिता के भाव उन्होंने प्रकट किये हैं वहाँ उन्होंने गोपियों को अनन्यपूर्वा अथवा स्वकीया ही रखा है। इन स्थलों पर उनका उपालंभ 'खंडिता भाव' से हुआ।" आगे चलकर 'पूर्वराग की अवस्था में आसक्त भक्त की दशा' प्रकरण में वे पुनः कहते हैं 'पीछे कहा गया है कि अष्टछाप काव्य में पूर्वराग अवस्था की आसक्ति का जो रूप हमें मिलता है वह अनन्यपूर्वा कुमारी गोपिकाओं का है, परकीयाओं का नहीं है।'

उपर्युक्त मतानुसार राधा परकीया नहीं है। डॉ० गुप्त के उपर्युक्त मत पर विचार करना समीचीन होगा। पूर्वराग का वर्णन शृंगार रस प्रकरण में करते हुए साहित्य दर्पणकार कहते हैं— विप्रलंभ और सम्भोग ये दो शृंगार रस के भेद हैं। जहाँ अनुराग तो अति उत्कट है परन्तु प्रिय समागम नहीं होता उसे विप्रलंभ कहते हैं। यह विप्रलंभ (१) पूर्वराग (२) मान, (३) प्रवास और (४) करुण इन भेदों से चार प्रकार का होता है। सौन्दर्यादि गुणों के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक और नायिका की समागम से पहले की दशा का नाम 'पूर्वराग' है। 'उज्ज्वल नीलमणि' में रूपगोस्वामी भी उपर्युक्त मत से सहमत हैं। उन्होंने विप्रलंभ के भेद में करुण को स्वीकार न करके उसके स्थान पर 'प्रेमवैचित्त्य' को स्वीकार किया है। इस एक बात में दोनों एक मत हैं कि समागम के पूर्व की दशा का नाम पूर्वराग है —

रतिर्यासंगमात्पूर्वं दर्शन श्रवणादिजा ।
तयोरुन्मीलति प्राज्ञैः पूर्वरागः स उच्यते ॥ (उज्ज्वल नीलमणि)

इस प्रकार पूर्वराग के दो लक्षण हुए —

(१) यह विप्रलंभ शृंगार का एक भेद है।

(२) समागम के पूर्व की वियोगावस्था को पूर्वराग कहते हैं। अतएव समागम के बाद पूर्वराग की स्थिति नहीं रहती है।

यदि हम नायिका भेद प्रकरण देखें तो धनंजय भानुदत्त विश्वनाथ और रूपगोस्वामी के आधार पर परकीया के निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं —

(१) परकीया नायिका भेद में से नायिका का एक भेद है।

(२) इसके कन्यका और परोढ़ा दो भेद हैं।

(३) कन्यका परकीया की स्थिति में समागमादि से कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से पूर्वराग और परकीया का अंतर स्पष्ट हो जाता है। स्वकीया परकीया आदि नायिका के भेद हैं। इनका आधार नायिकाओं की सामाजिक स्थिति है। समस्त नायिकाओं को इनके अन्तर्गत आना चाहिए। इस प्रकार राधा या तो स्वकीया है या परकीया है और या सामान्या है। विवाह के पूर्व राधा स्वकीया हो नहीं सकती और उनके सामान्या होने का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि उनका विवाह किसी गोप से नहीं हुआ है इसलिए उन्हें परकीया होना चाहिए। परकीया के कन्यका भेद के अन्तर्गत वे आती हैं। कृष्ण से उनका तथाकथित विवाह रास-प्रकरण में होता है। अतएव रास के पूर्व तक वे कन्यका परकीया ही हैं।

रही पूर्वराग की बात तो यह नायिकाओं का भेद नहीं है। यह तो नायिका के प्रेम की स्थिति का द्योतक है। हृदय में प्रेम प्रस्फुटित हो गया है किन्तु समागम नहीं हो पा रहा है। इस अवसर के विरह को पूर्वराग कहते हैं। यह परकीया में ही हो सकता है स्वकीया में नहीं। इसलिए पूर्वराग की स्थिति की सभी नायिकाओं को परकीया माना जाना चाहिए। इनमें से जो स्वकीयात्व प्राप्त कर लेती हैं उनका परकीयात्व अस्थाई है। जो स्वकीयात्व नहीं प्राप्त कर पातीं वे शुद्ध परकीया ही रहती हैं। राधा शुद्ध परकीया हैं क्योंकि उनका विवाह कृष्ण से नहीं होता है। जिसे विवाह कहा गया है वह केवल खेल है विवाह नहीं।

इसके अतिरिक्त राधा-कृष्ण-प्रसंग में पूर्वराग की स्थिति भी अधिक देर तक नहीं रहती है। राधा का कृष्ण से मिलन-मिलन होता है। इतना ही नहीं इनमें समागम भी हो चुका है। ऐसी स्थिति में एक आध पद को छोड़कर प्रेम

पूर्वराग के अन्तर्गत नहीं लिए जा सकते हैं। उन्हें परकीया के अन्तर्गत ही लेना होगा।

राधा-विवाह प्रसंग

भागवत में राधा का ही उल्लेख नहीं है, फिर विवाह का प्रश्न ही कहाँ उठता है। सूरदास ने इसके विपरीत रास को विवाह प्रसंग ही माना है —

कार्यों व्यास बरनत रास।
है गंधर्व विवाह चित दै सुनो विविध विलास॥ (सूरसागर, १६८६)

इस विवाह का सूर ने वर्णन किया है। यह गांधर्व-विवाह है जिसमें ब्याह की अनेक रीतियाँ भी प्रयुक्त हुई थीं जैसे 'कंकन-छोरन' आदि। प्रश्न है कि क्या राधा कृष्ण का सचमुच गांधर्व-विवाह हुआ था? इस पर विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि हम गांधर्व-विवाह के लक्षणों का अवलोकन करें।

यदि मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रंथों को हम छोड़ भी दें तो भी काम से संबंधित कामसूत्र में जो इसके लक्षण दिखलाए हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं। वात्स्यायन 'प्रयोज्योपावर्तन'—वर प्राप्ति हेतु कन्या का स्वयं प्रयत्न करना—नामक १६वें प्रकरण के 'बाभ्रव्यतरोपचार' में कहते हैं कि यदि कन्या को विश्वास हो जाए तो रति-क्रीड़ा करे और अपने इस गांधर्व विधिना विवाह की सूचना संबंधियों पर प्रकट कर दे। आगे चल कर 'विवाह-योग प्रकरण' में गांधर्व विवाह की पुनः चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि इस प्रकार विवाह-संस्कार हो जाने के बाद उसके माता-पिता को सूचना दे। विवाहोपरांत उसके साथ संयोग करके मार्गदैव उसे ग्रहण करे तथा अपने और कन्या के संबंधियों में इस बात का प्रचार करा दे। विवाहोपरांत प्रेम-व्यवहारों द्वारा लड़की के माता-पिता तथा अन्य संबंधियों को प्रसन्न करने का प्रयत्न करे। इस प्रकार गांधर्व विधि से उसे ग्रहण करे।

याज्ञवल्क्य स्मृति और पारस्कर गृह्यसूत्र में गांधर्व विवाह के बाद होम, सप्तपदी आदि क्रियाओं का बाद में होना आवश्यक बतलाया गया है जिसके अभाव में कन्या दूसरे वर को दी जा सकती है। उपर्युक्त से स्पष्ट है कि गांधर्व विवाह का उद्घाटन आवश्यक है। इसका कारण समाज को इस तथ्य से अवगत कर विवाह को वैधानिकता प्रदान करना है। यथार्थ में विवाह में होनेवाली तमाम धूम-धाम का यही रहस्य है कि समाज जान जाए कि अमुक स्त्री-पुरुष पत्नी-पति रूप में रहने जा रहे हैं तथा उनका यौनात्मक संबंध सामाजिक है। स्त्री-पुरुष के यौनात्मक संबंध की स्वीकृति देने के लिए ही विवाह होता है। गंधर्व विवाह में संबंध को प्रकट कर यह बात समाज पर व्यक्त की जाती है। इसमें लज्जा का प्रश्न नहीं है। इसके बाद नायक-नायिका पति-पत्नी रूप में रहते हैं।

अब यदि हम राधा-कृष्ण के विवाह को देखें तो यद्यपि उस विवाह का सम्पादन ब्रह्मा ने किया था (इस प्रकार भी वह गंधर्व विवाह नहीं हुआ) सुरगण वहाँ उपस्थित थे सनकादि नारद और शिव इस कृत्य पर प्रसन्न हुए थे किन्तु इसकी चर्चा न तो वृषभानु और उनकी पत्नी से और न ही नन्द-यशोदा से ही कभी की गई। फलस्वरूप राधा-कृष्ण के प्रेम का 'चवाव' ब्रज में जोरों से चल पड़ा और यह चवाव करनेवाली वही गोपियाँ हैं जो दोनों के ब्याह में उपस्थित थीं। माता पिता गुरु-भाई सभी रुष्ट हैं। (सूरसागर २१०२)। वृषभानु-पत्नी समझाती है कि घर घर नहीं जाया जाता। ब्रज भर में 'राधा-कृष्ण' 'राधा-कृष्ण' की चर्चा चल रही है। ऐसा काम मत करो जिससे निन्दा फैले आदि। ऐसे समय क्यों नहीं दोनों में से कोई एक अपने विवाह की बात कहता? क्यों नहीं कोई गोपिका इन दोनों के विवाह की बात कहती? क्यों राधा अपनी प्रीत छिपाती फिरती है? इतना ही नहीं जब राधा इस चवाव की चर्चा कृष्ण से करती है। तो वे अपने-दोनों के विवाह द्वारा उसको संतोष नहीं देते हैं। वे आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध की याद दिलाते हैं तथा राधा के मन से लोक-लज्जा के भय को दूर भगाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इन दोनों के विवाह पर किसीको विश्वास नहीं है। गोपियाँ भी इसे बालकों का खेल मात्र समझकर विस्मृत कर चुकी हैं। राधा-कृष्ण के माता-पिता भी इससे अवगत नहीं हैं। दोनों का सम्बन्ध सामाजिक स्वीकृति पर न होकर प्रेम पर अवलंबित है। वे दोनों भी इससे परिचित हैं। इसीसे राधा का परकीयात्व सिद्ध है। कवि ने राधा के विवाह का उल्लेख तो अवश्य कर दिया है किन्तु सम्पूर्ण सूरसागर में व्याप्त राधा के स्वरूप में वे स्वकीयात्व नहीं भर सके हैं। राधा कभी भी अपने को कृष्ण की पत्नी नहीं सोच सकी है। उन्होंने स्वयं अपने को सर्वत्र परकीया अनुभव किया है। दोनों का विवाह सचमुच एक खेल ही था और वह खेल ही रह गया।

राधा-कृष्ण प्रेम का एक अन्य समाधान यह कह कर किया जाता है कि राधा कृष्ण की प्रकृति हैं। अपने स्वरूप का ज्ञान उन्हें स्वयं पुरुष ने कराया और इस अभिन्नता के कारण परकीयात्व नहीं है।

इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि परकीया-स्वकीया एक सामाजिक प्रश्न है आध्यात्मिक नहीं। समाज की दृष्टि में कुछ नियमों में बँधी स्त्री ही स्वकीया होती है। यदि वह अविवाहित है और उसका प्रेम किसी पुरुष से है अथवा वह विवाहित है और उसका प्रेम किसी अन्य पुरुष से है तो वह परकीया है। यदि हम राधा-कृष्ण के गंधर्व विवाह को जिसे किसीने भी विवाह नहीं माना है न मानें तो राधा अनूढ़ा परकीया है। उसमें अनूढ़ा परकीया के अनेक भेद मिलते

है। यदि हम उनके विवाह को मान लें तो वे स्वकीया अवश्य हो जाती हैं, किन्तु धर्मकलाप स्वकीयात्व के बाहर ही है।

नायिकाओं का चरित्र-चित्रण

भक्ति-शृंगार की नायिकाओं का संक्षिप्त चरित्र निम्नलिखित प्रकार का है।

ज्ञानाश्रयी शाखा

इस शाखा के कवियों ने अपनी आत्मा को ही ईश्वर की प्रिया माना है। आत्मा का परमात्मा से यह सम्बन्ध पत्नी और पति का है। इस सम्बन्ध के कारण इस काव्य में नायिका का जो स्वरूप उपलब्ध है उसमें पत्नी का गौरव और स्वकीया की मर्यादा बड़े ही मनोहर रूप में व्यक्त हुई है। यह नायिका पूर्ण सुहागिनी है। अपने संयोगी जीवन के सम्बन्ध में वह मुखर नहीं है। इसका विप्रलंभ ही अधिक मुखर है। इसका वियोगिनी रूप करुण तथा हृदयद्रावक है। इसका पातिव्रत सतत झलकता है। इसका रूप उत्कृष्ट गौरवपूर्ण और महान है।

प्रेमाश्रयी शाखा

प्रेमाश्रयी शाखा की सभी नायिकाओं का चरित्र बड़ी मात्रा में एक रूप होते हुए भी पर्याप्त विविध है।

नागमती को छोड़ कर इस शाखा की सभी नायिकाएँ अविवाहिता हैं। विभिन्न परिस्थितियों में उनका प्रेम होता है। प्रेमिका रूप में वे सभी एकनिष्ठ निर्भीक चतुर और प्रेम-पंथ में सर्वस्व त्याग करनेवाली हैं। अपने प्रिय को पाने के लिए वे सभी विधियों का उपयोग करती हैं। नायक से अपने प्रेम-निवेदन में सभी नायिकाएँ कुशल हैं। चारित्रिक दृढ़ता सभी में है। नायक की उदासीनता का उन पर प्रभाव नहीं पड़ता है। संयोगिनी रूप में सभी नायिकाएँ काम-कला-विशारदा तथा पति को संतुष्ट करनेवाली हैं।

नायिकाओं का वियोगिनी रूप हृदयद्रावक है। नागमती का वियोगिनी रूप गार्हस्थिकता लिए हुए अत्यंत करुण है। सब नायिकाएँ पतिव्रता दृढ़ और एकनिष्ठ प्रेमवाली हैं।

रामाश्रयी शाखा

रामाश्रयी शाखा में भक्ति का स्वरूप स्त्रियों की सहज जिज्ञासा अविश्वास उत्सुकता से परिपूर्ण और अपने अपराध को छिपानेवाली भावना का है। पत्नी रूप में वे एकनिष्ठ अधिकार दृढ़ तथा तपस्विनी हैं। वे आदर्श पतिव्रता नारी हैं तथा शृंगार की क्रियाओं में पारंगत हैं।

सीता का स्वरूप अधिक कोमल अधिक मधुर और हृदय को आकर्षित करने वाला है। कुमारी सीता सलज्ज मर्यादा का ध्यान रखनेवाली अपने प्रेम को हृदय के अंतरतम में छिपा कर, देवी-देवताओं की कृपा पर ही अपनी इच्छा को छोड़ने वाली सुकुमारी है। अपने पिता के वचनों से बंधी हुई वे अपने प्रेम को हृदय में ही गोपन रखती हैं। यह निश्चित है कि यदि राम के अतिरिक्त कोई अन्य राजा उनके पिता की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने में समर्थ होता तो भी शायद हृदय में राम के प्रति समस्त कोमल भावनाएँ रखते हुए भी वे उनको जयमाला पहनाने में न हिचकतीं। साथ ही-साथ यदि राम उनके पिता की प्रतिज्ञा पूरी करने में असमर्थ होते तो भी निश्चित था कि हृदय में राम के प्रेम को संजोये हुए भी वे मौन रह जातीं और कभी भी अपने प्रेम को प्रकट न करतीं। ऐसा निरीह और सरस उनका यह स्वरूप है जो सबका मन मोह लेता है

अपने विवाहित रूप में सीता का पातिव्रत चमक उठा। इसका प्रखरतम रूप रावण के सम्मुख अशोक वाटिका में प्रकट हुआ है। सीता के लिए समस्त सुख समस्त जीवन समस्त धर्म और कर्म सब कुछ अपने प्रिय राम की चरम सेवा में है। वे अपनी सास की अवहेलना करती हैं मृत्यु-शय्या पर पड़े श्वसुर को छोड़ती हैं तथा राम के उपदेशों को भी ठुकराकर उनके चरणों की छाया नहीं छोड़ना चाहतीं। वन ही उनके लिए अयोध्या बन जाता है। राम के संयोग में उनके पातिव्रत ने उनके समस्त कष्टों को पारसमणि की भाँति सुखों में परिणत कर दिया तो राम के वियोग में रावण की अशोक-वाटिका में यह उनका रक्षक होकर एक अभेद्य कवच बन गया।

सीता का संयोगिनी रूप बहुत कम मिलता है। राम का प्रेम उन्हें सदा मिला है।

सीता का *वियोगिनी* रूप बड़ा ही हृदयद्रावक है। *व्याध के हाथ में पड़ी* हुई निरीह हिरनी की भाँति सीता की स्थिति है। अशोक-वाटिका में कृश-वदना अधोमुखी, एक वेणी किए निरंतर प्रिय के ध्यान में मग्न लगाए वे बैठी रहती हैं। उनके नैनों में सदा आँसू भरे रहते हैं। भीषण उनका विरह और दारुण उनका कष्ट है। फिर भी उनमें कितना तेज है यह रावण को दिए गए उनके उत्तरों से स्पष्ट है। नारी का यह तेजस्वी स्वरूप भक्ति-काव्य में दुर्लभ है।

समग्र रूप में सीता का स्वरूप मनमोहक मरम एकनिष्ठ सुकुमार तेजस्वी और पातिव्रत से परिपूर्ण है।

कृष्णाश्रयी शाखा

कृष्णाश्रयी शाखा की प्रमुख नायिका राधा और गौण नायिकाओं में चंद्रावली ललिता वृन्दा ललिता आदि गोपियाँ हैं। इन नायिकाओं का स्वरूप दो रूपों

में विकसित हुआ है। एक रूप में ये सभी स्वयं अलग-अलग स्वतंत्र नायिकाएँ हैं, तथा दूसरे रूप में एक मात्र नायिका राधा है और शेष सभी उसकी सखियाँ मात्र हैं। यह दूसरा रूप नायिका-साहाय्य का है।

गोपियाँ

कृष्ण-काव्य में नायिका रूप में गोपियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। अपना अलग व्यक्तित्व न प्रकट करते हुए भी गोपी-रूप में नायिकाओं का एक सामूहिक व्यक्तित्व है जिसके आधार पर उनके रूप की एक रूपरेखा खींची जा सकती है।

गोपियाँ कृष्ण को अत्यधिक प्यार करनेवाली व्रज-ललनाएँ हैं। वे कृष्ण के रूप-लावण्य पर मुग्ध और उनके साहचर्य की आकांक्षिणी हैं। अपने प्रेम के लिए उन्होंने घर-द्वार, लोक-लज्जा सबका त्याग कर दिया है। कृष्ण प्राप्ति के लिए उन्होंने व्रत-उपवासादि सभी रखे। उनको प्रेम की चरम उपलब्धि रास के अवसर पर हुई।

गोपियों का जीवन ईर्ष्या, प्रेम, हास-परिहास छिपाव-दुराव आदि सभी स्वाभाविक वृत्तियों से पूर्ण अति आमोद-प्रमोद का है। उनमें जीवन अपने पूर्ण वेग से प्रवाहित होता है।

वियोगिनी गोपियों का रूप हृदय द्रावक है। निशि-दिन कृष्ण की स्मृति में डूबी हुई वे कभी अपने दुर्भाग्य को तो कभी कृष्ण की निष्ठुरता और मथुरा की नागरियों को कोसा करती हैं। उनके जीवन में वैराग्य पूर्ण रूप से आ गया है। कृष्ण का प्रेम सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर अत्यंत पवित्र हो जाता है। उद्धव आगमन के अवसर पर उनकी उत्सुकता, प्रेमावेश तथा दयनीयता उनके प्रेम को अत्यंत हृदयद्रावक बना देती है। इस स्थिति में भी उन्हें राधा की पीड़ा की ही चिन्ता है। उनके प्रेम को देख कर ही उद्धव ने उन्हें प्रेम-ध्वजा स्वरूपिणी कहा है।

ललिता, चंद्रावली सुखमा आदि

ललिता, चंद्रावली आदि कुछ महत्त्वपूर्ण गोपियाँ हैं जिन्हें कृष्ण का प्रेम कुछ अधिक प्रकट रूप में मिला है। कृष्ण प्रेम का प्रतिदान करते आते हैं किन्तु कभी-कभी दूसरे के यहाँ पकड़े जाते हैं। उस समय प्रायः खंडिता रूप में ये उनकी भर्त्सना करती हैं। इनके स्वरूप का अधिक विकास नहीं हुआ है। कालान्तर में ये राधा की प्रमुख सखियाँ बन जाती हैं।

राधा

राधा सबसे महत्त्वपूर्ण गोपी है। वह बचपन से ही चतुर है। प्रथम मिलन के अवसर पर कृष्ण की चोरी पर उसका व्यंग्य उस चतुरता का द्योतक है। चतुर होते हुए भी वह भोली है। कृष्ण दो ही बातों में उसका मन हर लेते हैं। कृष्ण से

साथ उसका प्रेम द्रुतगति से बढ़ता है। मिलन के लिए उसे न जाने कितने बहाने बनाते हैं। गोपियाँ उसकी चतुरता पर आश्चर्य करती हैं।

राधा का प्रेम गम्भीर और एकनिष्ठ है। वे भी कृष्ण से एकनिष्ठा चाहती हैं। फलस्वरूप उनमें संशय है। वे जब कभी कृष्ण को अन्य नायिका के पास देखती हैं उस समय कठोर मान धारण कर लेती हैं। अनुनय-विनय का उनपर असर नहीं होता है पर प्रेम की गहनता का भान होते ही वे द्रवित हो उठती हैं।

संयोगिनी राधा का रूप अत्यंत भव्य है। कामकला-विशारदा राधा कृष्ण की रति-निपुणता पर मुग्ध हैं। कृष्ण भी उनके रति-नैपुण्य से अत्यंत प्रभावित हैं। वह सदा रस निमग्न रहनेवाली निकुंजेश्वरी हैं। वल्लभेतर-सम्प्रदायों में उनका यह रूप अति विलासिनी का है। वल्लभ-सम्प्रदाय में सन्तुलित है।

वियोगिनी राधा का स्वरूप अत्यंत करुण है। वियोग की स्थिति में तड़ित चकित-सी वह निश्चल हो गई है। प्रिय से सम्पर्क हुई वस्तुएँ भी उन्हें प्रिय हो गई हैं और वह अब उनके प्रस्वेद से भीगी साड़ी को धुलाना भी नहीं चाहती है।

उद्धव का संदेश सुनकर उनका क्या हाल हुआ यह अवर्णनीय है। उद्धव सन्देश और गोपियों के उपालंभ के बीच वह एकदम शांत और निश्चल बैठी रहीं। उनका प्रेम और कृष्ण का यह सन्देश—बेचारी क्या कहें? उनके मौन ने उनकी पीड़ा को और भी अधिक प्रभावशाली कर दिया। उद्धव ने कृष्ण से उसी के प्रेम के गीत गाए। अपने नैन से विरहाग्नि फूटकर रह जाने से राधा व्यग्रतम हैं।

राधा का कुरुक्षेत्र में कृष्ण मिलन के समय का रूप भी अत्यंत करुण है। कितने वर्ष बीत गए। द्वारकाधीश कृष्ण अपनी रानियों के साथ आए हैं। उनसे आज भेंट होगी। इस मिलन में राधा अपना स्वरूप खो बैठीं। वे स्वयं मोहन रूप हो गईं। मिलन का यह क्षणिक सुख अपने गर्भ में जीवन-पर्यंत वियोग लिये था। यह कितना मधुर और दाहक रहा होगा! कृष्ण ने राधा से विहँसकर कहा 'हममें और तुममें कुछ अन्तर नहीं है।' यह कहकर उन्होंने राधा को लौटा दिया। यह मिलन कृष्ण की यह विहँसना राधा की यह सरसता और प्रिय पर उनका विश्वास समग्र स्वरूप को कुछ ऐसा रूप देता है जो कि अनिर्वचनीय है।

अष्टम अध्याय

भक्ति शृंगार में संभोग-वर्णन

शृंगार रस के दो भेदों—संभोग और विप्रलंभ मे संभोग ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। विप्रलंभ के मूल में भी संभोग की आकांक्षा रहती है। भक्ति-साहित्य में भी संभोग-शृंगार का ही विशेष वर्णन है। उत्कृष्टता की दृष्टि से भी यह विप्रलंभ से न्यून नहीं है। फिर भी साहित्य शास्त्रियों ने उसकी अवहेलना की है। भक्ति शृंगार के विवेचन के अवसर पर इसको केवल छू कर अपने कर्तव्य की इति-श्री समझी गई है। इसका क्या कारण है? झूठी नैतिकता और लज्जा के सिवाय और क्या कारण कहा जा सकता है। धर्म को जीवन से पूर्णतः अलग कर उसे एक अति पवित्र रूप देने की भावना भी इस उपेक्षा का कारण हो सकती है। धर्म और काम का जो पार्थक्य बाद में हो गया वह भी इसका कारण हो सकता है। एक समय काम धर्म के अन्तर्गत ही गिना जाता था। फिर दोनों एक-दूसरे के विरोधी हो गये हैं। भक्ति-शृंगार में धर्म और काम का जो ऐसा अनूठा मेल है वह इस भावना का विरोधी है। इसलिए यद्यपि उस साहित्य को हटाया नहीं जा सकता है फिर भी उसकी उपेक्षा तो की ही जा सकती है। सम्भवतः यही सब इस उपेक्षा के कारण हैं।

एक अन्य कारण भी हो सकता है। साहित्य-शास्त्र में संभोग शृंगार के भेदोपभेद नहीं किये गये हैं। उसमें संभोग के विवेचन में विस्तार नहीं है। शायद इसी कारण भक्ति-साहित्य के आलोचकों ने इस विषय को बड़ी मात्रा में अछूता छोड़ दिया। जो भी हो साहित्य-शास्त्र ने जिस काम को नहीं किया उसे काम शास्त्र बहुत पहले कर चुका था। काम-शास्त्र का सीधा सम्बन्ध संभोग से है और उसका इसे उठाना समीचीन भी था।

ऐसा प्रतीत होता है कि भक्त-कवि काम शास्त्र से परिचित थे। उनके काव्य का आधार यदि एक ओर भक्ति रही है तो दूसरी ओर काम-शास्त्र से भी उन्होंने प्रेरणा ली है। संभोग शृंगार का अध्ययन इसी काम-शास्त्रीय आधार पर ही संभव है। अतएव उसका भी रूप देख लेना उचित होगा।

संभोग के अंग

ऋग्वेद में संभोग के निम्नलिखित दस उपाय माने गये हैं —(१) आलिंगन (२) चुम्बन (३) हस्तकर्म (४) नखक्षत (५) सीत्कार (६) प्रहणन (७) संवेशन (८) उपसृप्त (९) औपरिष्टक तथा (१०) नरायित।

काम-शास्त्र में भी लगभग इन्हींको स्वीकार किया गया है। बाभ्रव्य ने काम के सम्बन्ध में 'चतुःषष्ठि' का उल्लेख करते हुए सम्प्रयोग क्रिया के आठ चरण या अंग माने हैं। इनमें से प्रत्येक के आठ-आठ भेद कर इनके ६४ उपाय हुए। काम-शास्त्र की चौंसठ कलाओं के आधार पर इन्हें भी 'चतुःषष्ठि' कहते हैं। बाभ्रव्य और वात्स्यायन के अनुसार संभोग के निम्नलिखित आठ अंग हैं — (१) आलिंगन (२) चुम्बन (३) नखच्छेदन (४) दशनच्छेद (५) संवेशन (६) प्रहणन सीत्कार और विरुत (७) पुरुषायितावरण और (८) औपरिष्टक। कल्याणमल ने अपने 'अनंग रंग' में केशकर्षण का भी उल्लेख किया है।

साहित्य-शास्त्र में संभोग का वर्गीकरण विप्रलंभ के आधार पर किया गया है। विप्रलंभ के चार रूपों के ही अनुरूप संभोग के भी चार रूप (१) पूर्व रागान्तर संभोग (२) मानान्तर संभोग (३) प्रवासानन्तर संभोग और (४) करुण विप्रलंभानन्तर संभोग माने गये हैं। भक्ति-शास्त्र में इन्हें ही थोड़े अन्तर से क्रमशः संक्षिप्त संकीर्ण सम्पूर्ण और समृद्ध संभोग कहा गया है।

संभोग शृंगार के प्रस्तुत अध्ययन में काम-शास्त्र का आधार ही समीचीन होगा किन्तु संभोग को कामशास्त्रीय आठ या दस उपायों में न बाँटकर उसके निम्नलिखित वर्गीकरण का आधार माना जाएगा —

(क) संभोग-पूर्व क्रियाएँ

इसके अन्तर्गत संभोग के पूर्व की जानेवाली समस्त क्रियाएँ आती हैं। आलिंगन चुम्बनादि इसीके अन्तर्गत आते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना है कि संभोग-पूर्व क्रियाएं होते हुए भी संभोग में भी इनका प्रयोग होता रहता है।

(ख) संभोग

इसके मुख्य रूप से तीन भेद किए जा सकते हैं। रति विपरीत और रति रूप इसके अन्तर्गत आते हैं।

(ग) सुरतांत

यह संभोग के अवसान का स्वरूप है। इसमें संभोग प्रभाव का वर्णन रहता है। जिस प्रकार संभोग-पूर्व क्रियाएँ संभोग की सम्पन्नता की दृष्टि से उसका अंग हैं उसी प्रकार सुरतांत भी सफल संभोग का प्रभाव और उसका अभिन्न अंग है।

(घ) हास विलास

इसके अन्तर्गत मिलन की स्थिति में नायक-नायिका के हास-परिहास क्रीड़ा शृंगार आदि आते हैं।

(ङ) संभोग का साहित्य-शास्त्रीय रूप

इसके अन्तर्गत साहित्य-शास्त्रियों द्वारा मान्य रूप आता है।

इसी वर्गीकरण के आधार पर भक्ति शृंगार में उपलब्ध संभोग-शृंगार का रूप प्रस्तुत किया जा रहा है।

संभोग का स्वरूप पीड़ा और आनन्द

संभोग मूल रूप में आनन्ददायक है किन्तु यदि हम इसकी क्रियाओं पर दृष्टिपात करें तो वे मूल रूप में पीड़ात्मक हैं। *आलिंगन चुम्बन नख-दंत क्षत* प्रहनन संवेशन आदि सभी में पीड़ा का अंश है। संभोग में इन पीड़ात्मक क्रियाओं की स्वीकृति क्यों है?

संभोग में पीड़ा की स्वीकृति को समझने के लिए हमें पशु-जगत की प्रणय केलि का अवलोकन करना होगा। पशु-जगत में प्रणय केलि केलि ही है जिसका प्रारम्भ 'रति' से होता है। यह केलि अवसर रण का रूप धारण कर लेती है। पशुवर्ग में मादा अधिकतम शक्तिशाली नर की होती है। शक्तिशाली नर अपने वर्ग के अन्य नरों को अपनी शक्ति के प्रदर्शन द्वारा दबाकर उस वर्ग की सभी मादाओं का उपभोग करता है। जब कभी कोई अन्य नर उसकी प्रतिद्वंद्विता करता है तो उसे पुनः अपनी शक्ति का युद्ध के माध्यम से प्रदर्शन करना पड़ता है। जो विजयी होता है वही यूथ-पति होता है तथा सभी मादाओं पर उसका अधिकार होता है। शक्तिशाली नर को भी अवसर धान्य को प्राप्त करने के लिए उस पर भी बल-प्रयोग करना पड़ता है। इस रूप में संभोग बलात्कार रहा होगा। इसके उपरान्त संभोग द्वारा प्राप्त आनन्द का सम्बन्ध बलात्कार या शक्ति-प्रदर्शन से हो गया होगा जिसके कारण बलात्कार की कष्टप्रद क्रियाएं तादात्म्य के द्वारा आनन्ददायक हो गई होंगी।

मानव-जगत में भी प्रारम्भ में स्थिति इससे भिन्न न रही होगी। विजेता विजित कबीले की सभी स्त्रियों को अपने अधिकार में करके उनका उपभोग करता होगा। इसमें भी उसे बल प्रयोग करना पड़ता होगा। धीरे धीरे शक्ति का आकर्षण और बल प्रयोग द्वारा आत्म-समर्पण भी परम्परा-सी बन गई होगी। कालान्तर में बलात्कार के पीड़ात्मक रूप से तथा संभोग जनित आनन्द से तादात्म्य हो गया होगा। इस तादात्म्य के कारण ही पीड़ा-संभोग का अनिवार्य अंग और उसको बढ़ानेवाली बन गई होगी।

है। जब तक प्रेमी स्त्री की दोनों भूखों को तृप्त नहीं कर सकता, तब तक वह उसे पूर्णतः सुखी नहीं रख सकता है।

पीड़ा द्वारा आनन्दानुभूति के पीछे नारी का शारीरिक गठन भी एक कारण है। स्त्री-योनि का अभ्यन्तर लगभग सभी प्रकार की स्पर्श-नाड़ियों से विहीन है। किंसे ने अपनी रिपोर्ट में इस पर विस्तृत रूप से विचार किया है। उनके अनुसार इस अभाव के कारण ही स्त्री संभोग में पीड़ा की चाह करती है। यह पीड़ा उसकी कामान्धता की वर्द्धक है। संसार के विभिन्न देशों में विलासवर्द्धक रूप में अनेक कृत्रिम प्रसाधनों का प्रचलन इसी कारण से सदा से होता आया है। इनका प्रयोग यह सिद्ध करता है कि ये स्त्री का काम-वर्द्धन करते हैं। यह निश्चित है कि कामोत्तेजना के अभाव में इनका प्रयोग पीड़ा जनक ही होगा पर उसकी उपस्थिति में ये पीड़ा जनक होते हुए भी सुखद हो जाते हैं।

प्रथम समागम और रति-भय

उपर्युक्त कामात्मक पीड़ा एक सीमा ही तक ग्राह्य है। स्त्री इस पीड़ा की चाह उसी सीमा तक करना चाहती है जहाँ तक वह असह्य न हो। कामान्धता में वह बड़ी मात्रा में सह्य होती है। यही कारण है कि प्रथम समागम के अवसर पर रति-सुख में पीड़ा ही अधिक होती है जिससे भय करना स्वाभाविक है। धीरे धीरे अभ्यास परिचय और सहवास-सुख के अनुभव से वह न केवल इस पीड़ा को सहन करने में समर्थ हो जाती है बल्कि स्वयं उसकी इच्छा भी करने लगती है।

पीड़ा की सीमा

पीड़ित करने और होने की यह इच्छा स्वाभाविक है। इस पीड़ा को पुरुष एक सीमा में प्रदान करता है और आनन्द की भूमिका रूप में स्त्री स्वीकार करती है। सीमातीत होने पर यह आनन्ददायक नहीं रह जाती है। यद्यपि रति-सुख के लिए इसे स्त्री स्वीकार कर सकती है। पीड़ा की यह सीमा सुनिश्चित नहीं है तथा प्रेम की प्रगाढ़ता के अनुरूप न्यूनाधिक होती रहती है। सीमातीत होने पर यह प्रेम की नाशक है क्योंकि यद्यपि स्त्री यह चाहती है कि उसकी इच्छा के विरुद्ध अनेक क्रियाएँ की जाएँ अथवा पीड़ा दी जाए पर इस गहन सुख में आनन्द की ही चाह है। जो पुरुष यह नहीं जानता है वह प्रेम को नहीं जानता है।

पीड़ा के आनन्ददायक होने का मनोवैज्ञानिक कारण

पीड़ा कामोत्तेजना में सहायक होती है। संक्षेप में इसका मनोवैज्ञानिक

कारण यह है कि पीड़ा सभी मनोवेगों को उत्तेजित करनेवाली होती है और कामोत्तेजना इसका अपवाद नहीं है।

भय और क्रोध दो मूल मनोवेग हैं और इनसे कोई मुक्त नहीं है। जीवन की रक्षा के लिए दोनों ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों ही का संबंध मानव की काम भावना से है। प्रणय-केलि तो मूलतः युद्ध है जिसमें दोनों मनोवेगों का स्थान है। पुरुष स्त्री पर अधिकार करने तथा उसको संतोष देने में सामान्यतः उन्हीं विधियों का उपयोग करता है जिनके द्वारा वह शत्रुओं पर अधिकार करता है। स्त्री पक्ष की प्रणय-केलि में यह भय मनोमुग्धकारी रूप में प्रकट होता है। लज्जा इसी भय का एक सरल रूप है। पुरुष की शक्ति इस लज्जा रूपी भय को नष्ट कर पुरस्कार स्वरूप प्रेम प्राप्त करता है। अतएव जिस क्षण यह भय और शक्ति काम के अंतर्गत आने लगते हैं उसी क्षण से मस्तिष्क प्रभावित होना प्रारंभ हो जाता है और स्त्री-पुरुष को कामोत्तेजना के लिए प्रभावित करने लगते हैं।

हिर्न ने अपनी पुस्तक 'कला की उत्पत्ति' में 'पीड़ा के आनन्दोपभोग' नामक अध्याय में बतलाया है कि क्रोध मूल रूप में एक क्रियात्मक मनोवेग है और शीघ्र ही आनन्ददायक हो जाता है। भय प्रारंभ में विषिल तथा दुखद होता है पर उसके मूल की भावना के नष्ट होते ही वह आनन्ददायक हो जाता है और कभी-कभी उसकी चाह तक होने लगती है।

दूसरे में क्रोध का प्रकोप देखकर आनन्द मिलता है। स्त्रियों को इस स्थिति में अधिक आनन्दानुभूति होती है। फेरी ने एक ऐसी स्त्री का उल्लेख किया है जो कि संभोग-सुख के लिए अपने पति को क्रुद्ध कर दिया करती थी। इस विधि से प्राप्त आनन्द की चर्चा उसने अपनी एक सखी से भी की तथा उसे भी ऐसा ही करने की सलाह दी थी।

उपर्युक्त के आधार पर हम कह सकते हैं कि पीड़ा प्रणय-केलि का अंग है। यह स्वयं आनन्ददायक नहीं है किन्तु एक सीमा के अन्दर कामोत्तेजना को प्रगाढ़ करने के कारण आनन्ददायक हो जाती है। पीड़ा एक साधनमात्र है जो क्रियाशील को बढ़ाकर तथा अन्य मनोवेगों को उत्पन्न कर उन्हें काम भावना की ओर प्रवाहित कर देती है और इस प्रकार आनन्द की उत्पादक होती है।

संयोग और वियोग दोनों ही रूपों में पीड़ा का महत्त्वपूर्ण स्थान है पर दोनों के स्वरूपों में यथेष्ट अंतर है। संयोग में पीड़ा का रूप स्थूल दैहिक और कामानन्द का वर्द्धक है। वियोग में यह सूक्ष्म है। आनन्ददायक यह दोनों ही में है। इसीलिए हम विरह-जन्य कष्ट को कभी भी छोड़ना नहीं चाहते हैं।

संभोग के स्वरूप की इस चर्चा के उपरांत भक्ति शृंगार में उपलब्ध संभोग-वर्णन का अध्ययन समीचीन होगा।

इस आलिंगन का संकेत सूर में उपलब्ध है। मदमाती गोपियाँ जब यशोदा को उलाहना देने आती हैं उस समय कृष्ण कहते हैं कि बल से मुझे बुलाकर ये मेरा आलिंगन करती हैं और मेरे हाथों को अपनी चोली पर रखकर स्वयं उसे फाड़ डालती हैं। संभावना यह है कि काम-कला विशारद कृष्ण गोपियों का आलिंगन प्राप्त कर स्वयं उसका उत्तर देते हों और गोपियों का आलिंगन करते हों जिससे उनकी चोली फट जाती है। यह संकेत निम्नलिखित पद में है —

झूठेहि मोहिं लगावति ग्वारि ।
खेलत तें मोहिं बोल लियो इहिं दोउ भुज भरि दीन्हीं अँकवारि ।
मेरे कर अपने उर धारति आपुन ही चोली धरि फारि । आदि
(सूर ९२१)

(३) अपविद्धक आलिंगन

इसमें केवल नायिका ही सक्रिय भाग लेती है नायक निष्क्रिय रहता है। सूर में इसका भी उदाहरण है। कोई गोपी कृष्ण के रूप पर मुग्ध होकर उनका आलिंगन करती है। शिशु कृष्ण तत्काल बारह वर्ष के किशोर हो जाते हैं और फिर बाद में शिशुरूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार सक्रिय केवल ग्वालिन रहती है और यह आलिंगन अपविद्धक की कोटि में आ जाता है —

गए स्याम तिहिं ग्वालिन कैं घर ।
देखी जाइ मथति दधि ठाढ़ी आपु लगे खेलन द्वारे पर ।
फिरि चितई हरि दृष्टि परे जब, बोलि लए हरुएँ सुनें पर ।
लिए लगाइ कठिन कुच कैं बिच, गाढ़ें चाँपि रही अपनें कर ।
उमँगि अंग अँगिया उर दरकी सुधि बिसरी तन की तिहिं औसर ।
तब भए स्याम बरस द्वादस के रीझे जुवती की छबि पर ।
मन हरि लियो तनक में ह्वै गए बैसे रहो सिसु रूप मनोहर ।
आनँद मैं सुख भरति स्याम कौं सूरज प्रभु रति-पति नागर बर ॥
(सूर, ९१९)

(४) लतावेष्टित आलिंगन

यह आलिंगन नायिका करती है। यह वृक्ष पर लिपटी हुई लता की भाँति नायिका द्वारा नायक का आलिंगन है। राधा-कृष्ण के संयोग में स्थल-स्थल पर उनके आलिंगन की उपमा तमाल वृक्ष से लिपटी लता द्वारा दी गई है। इस प्रकार के सभी आलिंगन लतावेष्टित आलिंगन के अंतर्गत आयेंगे। यथा—

किसोरी अंग-अंग भेंटी स्यामहिं ।
कनक तमाल तरुन भुज साखा लपटि मिली ज्यौं दामहिं ॥
मरकत एक लता गिरि उपज सोउ दीन्हें कनकामहिं ।
कछुक स्यामता स्यामल गिरि की छाई कनक धरामहिं ॥ आदि
(सूर १७५८)

तथा

रसना जुगल रस-निधि बोल ।
कनक बेलि तमाल अरुझी सुभुज बंध अमोल ॥
(सूर, २०५०)

(५) तिल-तंडुलक और क्षीर-नीरक

प्राप्त प्रसंगों में इन दोनों प्रकार के आलिंगनों को अलग-अलग करना सरल नहीं है। इन आलिंगनों का संकेत मरकत-कंचन, घन-दामिनी या घी-शक्कर के संयोग से किया गया है। कवि व्यास का इस आलिंगन का एक उदाहरण दिया जा रहा है —

निरखि सखि स्यामा बिहरति पिय सों ।
मुख महँ अधर, बाहु बाहुन महँ बिहरत नाहीं कुच कुच हिय सों ॥
लट में लट, पट में पट अरुझे, तन में तन मन में मन हिय सों ।
मिलि बिछुरी न 'व्यास' की स्वामिनि ज्यौंव बाँह मिलि पिय सों ॥
(व्यास, ५७६)

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त स्तनालिंगन ललाटिका वृक्षाधिरूढ़क आदि आलिंगनों का संकेत भी मिलता है। आलिंगनों का यह संकेत कृष्णाश्रयी शाखा के सूर में सबसे अधिक है। सूफी-साहित्य तथा अन्य कृष्ण भक्तों के साहित्य में इसका अधिक विस्तार नहीं है। ज्ञान तथा रामाश्रयी शाखा में इसका नितान्त अभाव है।

(६) चुम्बन

चुम्बन का स्वरूप पशुओं में भी प्राप्त है, यद्यपि यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं है कि इनके मूल में स्नेह का प्रदर्शन है या काम। मोरों, पक्षियों आदि में विशेष किसी के प्रति इस प्रकार की प्रेम-क्रिया देखी जाती है। कुत्तों का मुँह चाटना और दाँतों से धीरे धीरे काटना मानव-चुम्बन से मिलते जुलनेवाली ही क्रिया है।

मानव द्वारा प्रयुक्त चुम्बन में स्पर्श एवं घ्राण-सुख—दोनों का ही प्रयोग होता है।

चुम्बन का मनोवैज्ञानिक कारण

किसी भी वस्तु को चूसने की इच्छा मानव में स्वाभाविक है। शिशु किसी भी वस्तु को पाते ही उसे मुँह में ले जाना चाहता है। संभव है कि इसके मूल में स्तन-पान की भावना हो। ऐसा देखा गया है कि बच्चे वस्तुओं को ही मुख में नहीं रखते हैं बल्कि जिन प्राणी को वे प्यार करते हैं उनके विभिन्न अंगों को चाटना भी चाहते हैं। संभव है कि इस भावना का विकास माता के चाटकर प्यार करने से हुआ हो। इस चाटने की क्रिया से बालक के मन में यह मनोभावना बन जाती है कि चाटना और सुख का परस्पर सम्बन्ध है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि माता चाटने से प्राप्त होनेवाले स्वानुभूत आनन्द को शिशु को भी प्राप्त कराना चाहती है। इस चाटने में त्वचा का स्वस्थ घर्षण होता है जिससे गुदगुदी और आनन्द प्राप्त होता है। ऐसा अनुमान है कि बच्चे के बचपन में ऐसी बनी हुई भावना युवावस्था में तीव्र कामोत्तेजना की स्थिति में पुनः प्रकट हो जाती है।

चुम्बन और घ्राण का निकट का सम्बन्ध है। गाल मुख या ललाट को सूँघ कर प्रेम का प्रदर्शन किया जा सकता है। भारत में छोटों का ललाट सूँघ कर प्रेम व्यक्त करने की परम्परा थी। एस्किमोवासी मैथुन के समय चुम्बन के स्थान पर नाक रगड़ते हैं और जीभ से एक-दूसरे का मुख चाटते हैं। आज सामान्यतः चुम्बन में घ्राण का स्थान गौण हो गया है।

आजकल चुम्बन का सामान्य अर्थ ओठों द्वारा प्रिय के किसी भी अंग का हल्का या गहरा स्पर्श है। प्रगाढ़ता के साथ-साथ ओठों का प्रयोग अधिकाधिक होता जाता है और सामान्य स्पर्श से बढ़कर उस अंग का ओठों द्वारा दबाना चूसना और कभी-कभी नोचना तक होता है। इसके प्रयोग में केवल ओठ ओठ और जिह्वा तथा ओठ जिह्वा और दाँत तीनों का उपयोग हो सकता है। चुम्बन के कोमल रूप में केवल स्पर्श सुख है। प्रगाढ़ावस्था में पीड़ा का भी प्रवेश हो जाता है।

प्रिय का प्रत्येक अंग चुम्बनीय होता है किन्तु कोमल रोमांचयुक्त एवं गुदगुदी उत्पन्न करनेवाले अंग अधिक चूमे जाते हैं। ऐसे अंग मस्तक कच कपोल नैन अधर स्तन जिह्वा आदि हैं।

वात्स्यायन ने चुम्बन की अनेकानेक विधियाँ तथा अनेकानेक भेद बतलाए हैं। उन्होंने चुम्बन-द्यूत का भी उल्लेख किया है।

भक्ति-शृंगार में चुम्बन का उल्लेख

भक्ति-काव्य में संभोग के अंग रूप में चुम्बन का निरन्तर उल्लेख है। आलिंगन का जहाँ जहाँ वर्णन किया गया है उसीके साथ-साथ चुम्बन का भी

उल्लेख कर दिया गया है। भक्त कवियों ने चुम्बन के उल्लेख में उसके कामशास्त्रीय भेदों को प्रकट करने का प्रयत्न नहीं किया है।

भक्ति-शृंगार की ज्ञानाश्रयी और रामाश्रयी शाखा में चुम्बन का अभाव है। प्रेमाश्रयी शाखा में चुम्बन का यथेष्ट उल्लेख है। प्रथम समागम के अवसर पर रत्नसेन अधरों का रस लेने लगता है, तथा पद्मावती के अधर भी अपना रस प्रदान करने लगते हैं —

नारंग दारिउ तोर अस [illegible]। अधर आँबि रस जानहुँ लेई ॥

(पद्मावत, ३१६)

तथा

चाखुन रस आपुहि पै लेई। अधर लहँ आपे रस देई ॥

(पद्मावत ३२५)

रतिरण के अवसर पर रत्नसेन राम-रावण का रूपक देते हुए कहता है कि मैं तुम्हारे अधरों से भरे अमृत रस का लोलुप था —

हौं अस जोगि जान सब कोऊ। बीर सिंगार जिते मैं दोऊ ॥
उहाँ न सउँहँ रिपुन दर माहाँ। इहाँ त काम कटक दल पाहाँ ॥
उहाँ त कोपि भिरहर मरौं। इहाँ त अधर अमिय रस भरौं ॥

(पद्मावत ३१४)

चित्रावली में भी कौलावती तथा चित्रावली दोनों से भेंट के समय चुम्बन का उल्लेख है —

अधरन लाइ अधर रस लीन्हा। एक रस छाड़ि बीर सब लीन्हा ॥

(चित्रावली, ४०६)

तथा

अधर छूटे लो अमिरित पीआ। बैहि के विसर अमर भा जीआ ॥

(चित्रावली ३१६)

कृष्ण भक्त कवियों में से लगभग सभी ने चुम्बन का थोड़ा-बहुत उल्लेख किया है किन्तु सूर और व्यास में इसका अवश्य अधिक कथन है।

श्री भट्ट ने युगल-शतक में चुम्बन पर एक दोहा दिया है —

प्यारो प्रीतम परस्पर रच्यो रस अनुराग।
अधर सुधा रस लेत हैं सित श्याम बड़ भाग ॥ (७७)

सूर ने रति रीति में राधा का संकोच छोड़ कर प्रिय का चुम्बन देने का उल्लेख किया है। इसी गतिविधि के कारण वह कृष्ण को अत्यन्त प्रिय है —

पिय भावती राधा नारि।
कबहिं चुम्बन देति रति दिनि सकुचि दीन्ही डारि ॥ (सूर, १०७७)

कृष्ण भक्त कवियों में यद्यपि चुम्बन के काम-शास्त्रीय रूप नहीं मिलते हैं किन्तु उनके स्थान पर कुछ अन्य रूप प्राप्त हैं। ये नेत्र चुम्बन, कपोल-चुम्बन, स्तन ग्रहण कर चुम्बन और पाणिग्रहण कर चुम्बन हैं। इनमें से प्रत्येक के एक-एक उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं —

नेत्र-चुम्बन

नेत्र चुम्बन का ज्ञान नायिका के नेत्रों पर प्रिय के अधरों पर लगी पीक के द्वारा होता है। कवि व्यास का एक ऐसा पद है —

देखि सखी प्रीतम सुख नैन दोऊ जन।
बिथुरी अलक पीक-पलक खंडित अधर,
मंडित गंड शिथिल-बसन और साँवरे तन ॥

(व्यास ११६)

कपोल-चुम्बन

नेत्र चुम्बन की ही भाँति कपोल पर पीक देखकर कपोल-चुम्बन का ज्ञान होता है। सूर का एक ऐसा पद निम्नलिखित है —

लालन जी रति मानी जानी कहे देत नना रंग-भोए।
[illegible] कहहिं [illegible] मानहुँ मीन मधुकर घोए।
पीक कपोलनि तरिवन के ढिग [illegible] छबि घोए।
सूरदास प्रभु छबि पर रीझे, जानति हौं मिलि नैकु न सोए।

(सूर, १२८१)

स्तनग्रहण पूर्वक चुम्बन

स्तनग्रहण पूर्वक चुम्बन का उल्लेख सूर, कुम्भनदास और व्यास तीनों ही कवियों ने किया है। कृष्ण कभी राधा के उरोजों को पकड़कर चुम्बन देते हैं और कभी राधा से स्तनग्रहण कर चुम्बन लेने की अनुमति माँगते हैं। उपर्युक्त से सम्बन्धित कुछ पद नीचे दिए जा रहे हैं —

बहु छबि संग बिहारत स्याम।
कबहुँक चुम्बन देत उरज धरि अति सकुचति तनु बाम ॥
[illegible] प्यारी [illegible] भए पिय ऐसे ॥ आदि

(सूर १२४१)

तथा

राधा के सम पीछे कुंज-सदन में सहचरी सबै मिलि द्वारें ठाढ़ी।
नन्दनन्दन कुँवर वृषभान तनया सों करत केलि में [illegible] बाढ़ी ॥

पिया अंग-अंग सों लपटाई स्यामघन तिय अंग-अंग सों लपटाई स्यामा ।
दोऊ कर सों कर परसि कपोल अति प्रेम सों कियो चुम्बन अभिरामा ॥

(कुंभनदास, १०१)

तथा

पीन पयोधर दै मेरी धीमें ।
अधर-सुधा मधु प्याइ जिवावहु बिरहु रोग बस छीन ।
खोली चोवा चोली के बंद लोचन दै भामीन ।
कुच गहि चुम्बन-दान लग है चरन कमल-रज लीजै ॥
उरजें उर अ नयन के उर में मिलन व स्याम नवीन ।
व्यास स्वामिनी सुनि रति-रसिका पोवत मोहन-मीने ॥

(व्यास २११)

केशग्रहण पूर्वक चुम्बन

इस प्रकार के चुम्बन का उल्लेख केवल व्यासजी ने किया है। विद्यापति में भी इसका उल्लेख है। उसके उदाहरण निम्नलिखित हैं —

गोरी-गोपाल लाल बिहरत बनवासी ।
सघन कुंज तिमिर पुंज हरत करत हाँसी ॥
× × ×
कच धरि हरि चुम्बन करि, भुजन बीच गाँसी ।
कर अंचल अंचल अति हित की निजु दासी ॥ आदि ।

(व्यास २८०)

विद्यापति की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं —

प्रथमहि हाथ पयोधर लागु ।
पुनके अधरे मनोभव जागु ।
× × ×
चान्दिल अधर अधर मधु पीबे । आदि ।

(विद्यापति, ७१)

मधु-पान

राग-वृद्धि की अवस्था में अधरों से सम्यग् वेग संपर्दन करने का नाम निपीडन कहते हैं। इसी के उत्तर रूप जिसमें त्वचा क्षत हो जाती है का अधरपीडन या मधु-पान कहते हैं।

कामशास्त्र के अनुसार चंड-मण्ड वेग वाले पुरुषों को प्रत्येक समागम में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। केवल प्रथम संगमेच्छा की नवयौवनियों से

कृष्ण भक्त कवियों में यद्यपि चुम्बन के काम-शास्त्रीय रूप नहीं मिलते हैं, किन्तु उनके स्थान पर कुछ अन्य रूप प्राप्त हैं। ये नेत्र चुम्बन, कपोल-चुम्बन, स्तन ग्रहण कर चुम्बन और आलिंगन-ग्रहण कर चुम्बन हैं। इनमें से प्रत्येक के एक-एक उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं —

नेत्र-चुम्बन

नेत्र चुम्बन का ज्ञान नायिका के नेत्रों पर प्रिय के अधरों पर लगी पीक के द्वारा होता है। कवि व्यास का एक ऐसा पद है —

देखि सखी आँखिन सुख नैन दोऊ धाम।
बिथुरी-अलक पीक-पलक खंडित-अधर
मंडित गंड सिथिल-बसन गौर साँवरे तन ॥

(व्यास, ११६)

कपोल-चुम्बन

नेत्र-चुम्बन की ही भाँति कपोल पर पीक देखकर कपोल-चुम्बन का ज्ञान होता है। सूर का एक ऐसा पद निम्नलिखित है —

लालन सों रति मानी जानी कहै देत नख रंग भीए।
बचन बनाय कतहिं दुरावति आगहिं पीक महावर धोए।
पीक कपोलनि तरिवन के ढिग झलमलाति मोतिनि छबि भोए।
सूरदास प्रभु छबि पर रीझे, जागति हौं निसि नेकु न सोए।

(सूर १२८१)

स्तनग्रहण पूर्वक चुम्बन

स्तनग्रहण पूर्वक चुम्बन का उल्लेख सूर, कुम्भनदास और व्यास तीनों ही कवियों ने किया है। कृष्ण कभी राधा के उरोजों को ग्रहणकर चुम्बन देते हैं और कभी राधा से स्तनग्रहण कर चुम्बन लेने की अनुमति माँगते हैं। उपर्युक्त से सम्बन्धित कुछ पद नीचे दिए जा रहे हैं —

बहु छबि धाम बिहारत स्याम।
कबहुँक चुम्बन देत उरज धरि अति सकुचति तनु बाम ॥
सनमुख नैन न जोरति प्यारी निलज भए पिय ऐसे ॥ आदि

(सूर, १२४१)

तथा

राधा के सम पीछे कुंज-सदन में सहचरी सब मिलि ठाढ़ी।
नन्दनन्दन कुँवर वृषभानु तनया सों करत केलि में रुचि बाढ़ी ॥

पिया भुज-दंड सों लपटाई स्यामघन प्रिय भुज-भुज सों लपटाई स्यामा ।
ठोड़ी कर सों कर परसि कपोल अति प्रेम सों कियो चुम्बन अभिरामा ॥

(कुंभनदास १०१)

तथा

पीन पयोधर पै मेरी बीनें ।
अधर-सुधा मधु प्याइ जिवावहु विरह रोग वस हीनें ।
चोली खोलत चोली के बंद खोलत है आपोनें ।
कुच गहि चुम्बन-दान देत है, चरन कमल-रज लीनें ॥
अपनें प्रेम नयन के पट में मिलत हैं स्याम नवीन ।
व्यास स्वामिनी सुनि रति-ललिता खोलत मोहन-मीन ॥

(व्यास २१६)

केशग्रहण पूर्वक चुम्बन

इस प्रकार के चुम्बन का उल्लेख केवल व्यासजी ने किया है। विद्यापति में भी इसका उल्लेख है। उसके उदाहरण निम्नलिखित हैं —

मोरे-गोपाल लाल विहरत वनवासी ।
चपल कुंज तिमिर पुंज हरत, करत हाँसी ॥
× × ×
कच धरि हर चुम्बन हरि भुजन बीच गाँसी ।
कर चपल चपल अति हित की मिथु रासी ॥ आदि ।

(व्यास २८०)

विद्यापति की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं —

प्रथमहि हाथ पयोधर लागु ।
पुलके प्रमोदे मनोभव जागु ।
× × ×
कामिनि करइ अधर मधु पीवै । आदि ।

(विद्यापति ७२)

नख-क्षत

राग-वृद्धि की अवस्था में नखाग्रों से सम्यक् वेग संघर्षण करने को नख विलेखन कहते हैं। इनसे जब रूप विषम रेखा अंकित हो जाती है उसे नखच्छेदन या नख-क्षत कहते हैं।

कामशास्त्र के अनुसार मंद-मध्य वेग वाले पुरुषों को प्रत्येक समागम में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। केवल प्रथम मैथुनेच्छा की परिस्थितियों में

ही इसका प्रयोग करना चाहिए। प्रचंड वेग वाले नायक-नायिका इसका प्रयोग यथेच्छा प्रत्येक समागम में कर सकते हैं। राधा-कृष्ण ने अपने सभी समागमों में इसका प्रयोग किया है जिससे प्रतीत होता है कि दोनों प्रचंड वेग वाले नायक-नायिका हैं।

कामशास्त्र में नखों के स्वरूप, सुन्दर नखों के गुण, नख दान के स्थान तथा नख-क्षत के स्वरूपों का विस्तृत विवेचन है। भक्त-कवियों ने इसका चुम्बन-आलिंगन से कहीं अधिक उल्लेख किया है किन्तु उनके भेदोपभेदों का सम्यक् वर्णन नहीं किया है। नख-क्षत का चुम्बन-आलिंगन से अधिक वर्णन नायक-नायिका के मदन एवं प्रचंड रति का संकेत देने के लिए किया गया है। यह नायिकाओं के सोहाग का चिह्न है और नायिकाएँ इसीसे प्रिय की अन्यत्र केलि से अवगत होती हैं।

नख-क्षत में पीड़ा की मात्रा आलिंगन चुंबन से अधिक स्पष्ट और तीव्र होती है। यह प्रवृद्ध रागावस्था में ही सह्य होता है और उसीका द्योतक भी है।

काम-शास्त्र में वर्णित नख क्षतों के विभिन्न रूपों का उल्लेख भक्त-कवियों की रचनाओं में स्वाभाविक रूप से किया जा सकता था। इसके द्वारा नायक-नायिका के काम-शास्त्रज्ञ होने की पुष्टि बड़ी सरलता और सुन्दर ढंग से हो सकती थी पर भक्त-कवियों ने नख-क्षतों का इस रूप में वर्णन नहीं किया। उन्होंने सामान्य रूप से नख-क्षत का उल्लेख मात्र किया है। यह वर्णन प्रेमाख्यानी और कृष्णाश्रयी धारा में ही उपलब्ध है। नख-क्षत-वर्णन के ऐसे ही दो-तीन उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं —

नारंग जान कीर नख देई। अधर आमु रस जानहुँ लेई॥ (पद्मावत ३१६)

तथा

अधर रदन छत उरज नख उपजति यहै गुनि मान।
प्रथम समागम जनु कियो, सिसुता भयो तब धोम॥

(चित्रावली, ४०६)

तथा

राधा प्यारी तेरे नख सुसील।
[illegible] लियो मनोहर मोल॥
× × ×
कुच युग पर नख रेख प्रगट मानो शंकर सिर ससि सोल।
जै श्री हित हरिवंश कहत कछु भामिनि अति आलस सों बोल॥

(हितचौरासी २१)

नख-क्षत का प्रयोग केवल नायक ही नहीं करता है नायिका भी नायक पर नख-क्षत करती है । ऐसे नख-क्षतों का संकेत खंडिता की उक्तियों में मिलता है —

कृपा करी उठि भोरहीं मेरे गृह आए ।
धन्य हम भई बड़भागिनी निरखि चिह्न दिखाए ॥
× × ×
यह सीखी तुमही कहो उर-नख पहनाए ।
सूर स्याम जस रासि हौ धनि लिया हँसाए ॥

(सूर, ३३०७)

रतिरण के विभिन्न आयुधों में नख का महत्वपूर्ण स्थान है । इन नख-बाणों का प्रहार नायक-नायिका निरंतर सहते रहते हैं —

जोबन-मद दोऊ दल साजत राजत खेत खरे ।
गौर-स्याम सैनिक सनमुख रजनी मुख कोप भरे ॥
दसनछद-बान प्रहार सहत दोऊ उरज सुभट न टरे ।
भागत नहिं लागति छति अधरनि असनायुध गिरे ॥ आदि

(व्यास ५८६)

एक वीभत्स वर्णन

नख-क्षत का एक वीभत्स वर्णन व्यासजी ने किया है । राधा के कुचों पर कृष्ण की उंगलियाँ ऐसी प्रतीत हो रही हैं, मानों जोंकें रुधिर पीती हैं । कुचों पर कृष्ण की श्याम उंगलियों पर नखों द्वारा दिए गए क्षतों से निःसृत रक्त को लेकर ही यह उत्प्रेक्षा की गई है । यथार्थता की दृष्टि से यह चाहे कितनी भी सटीक क्यों न हो किंतु प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त वीभत्स है । वह पद निम्नलिखित है —

नैन निरखत प्रात अवलोकें ।
हरि मँह सोभा सिंधु समात न चलत सांकरी ओक ॥
लाजन होत मुख मचत हमारे चुमत तुम्हारो रोकें ।
कहा-कहा अनुभव कहियै हो सजन कला-कुस कोक ॥
कुच की रस चाखत कर मानौ रुधिरहिं पीवत जोंक ।
ऐसे ही 'व्यास' रसिक रस भोगी बिरचि मुखित सिर ठोकें ॥

(व्यास ६२७)

दशनक्षत

नख-क्षत के साथ-साथ प्रबुद्ध रासावस्था में दशनक्षत का भी प्रयोग किया

जाता है। उत्तरोष्ठ जिह्वा तथा नेत्रों को छोड़कर शेष समस्त चुम्बनीय स्थान दशनच्छेद्य के स्थान भी हैं। काम-शास्त्र में इसके अनेक भेदादि हैं किन्तु भक्त कवियों ने इसका सामान्य उल्लेख मात्र ही किया है। जिस प्रकार आलिंगन-चुंबन का साथ-साथ उल्लेख होता है उसी प्रकार नख-क्षत-क्षत का भी साथ-ही-साथ उल्लेख किया गया है। दशनच्छेदन के ऐसे उदाहरण नख-क्षत के उदाहरणों में पीछे दिए जा चुके हैं।

रति रण के आयुधों में दशनों का उल्लेख शस्त्र के रूप में किया गया है —

साजु सति कोपे स्यामा-स्याम।
बीर दोउ दशन नख करत सुरत-संग्राम।।

× × ×

दसन-सिखि नख-मुकुलनि करषति अधर, कपोल बिदारे। आदि

(व्यास १८८)

सुरति नायिका भी दाँतों से अधरों को खंडित करने को कहती है —

सुनि री कुल की कानि लाज सी मैं अधरों आँड़ोंगी।
मेरे इनके कोउ बीच परे जिनि अधर दसन आड़ोंगी।। आदि

(सूर, २२४)

केश-कर्षण

काम-शास्त्र में संभोग-पूर्व क्रियाओं के अन्तर्गत केश-कर्षण का उल्लेख केवल कल्याणमल्ल ने किया है। वात्स्यायन ने इसका स्वतन्त्र रूप से वर्णन नहीं किया है यद्यपि कच पकड़कर अधर-पान करने तथा दशनच्छेदन की चर्चा करते की है। भक्त-कवियों ने केश-कर्षण का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख लगभग नहीं ही किया है। इसके स्थान पर उन्होंने सुरत में केश और विशेषकर माँग के बिखरने का उल्लेख किया है। केश और माँग का यह बिखरना सफल रति का चिह्न माना गया है।

चित्रावली में सुजान ने एक संयोग छोड़कर रति की समस्त क्रियाएँ चौतारनी के साथ की थीं जिनमें से एक केश-कर्षण भी होगी क्योंकि प्रातः उसकी माँग पूर्णतः उजड़ गई थी —

अधर दसन उर परस नख उपटति गई पुनि माँग।
प्रथम समागम जनु कियो लियत भयो अब चौंग।।

(चित्रा ४०६)

पद्मावत में भी इसका उल्लेख है —

छूटे अलक-भाग सब भेसा। टूटी मयमंग भे केसा।।

(पद्मावत, ३१८)

कृष्ण-काव्य में भी वेश-कर्षण तथा केशों के शिथिल होने का यथेष्ट उल्लेख है —

बन बिहरत वृषभानु किशोरी ।
कुसुम-पुंज कमनीय कुंज कमनीय स्याम-संग गोरी ॥
× × ×
केस करषि आवेस अधर खंडित अंचल झकझोरी ।
रति विपरीति पीत पट स्यामहिं पहिराई चूनरि गोरी ॥
(व्यास १७१)

तथा

रति रस कलित विलास हास रँग भीने हो ।
कोऊ सुन्दर नारि के लगाए भाल ॥
× × ×
चाल शिथिल भुज शिथिल माल ।
रति सुख शिथिल कपोल ।
केश शिथिल वर वेश शिथिल ।
क्रम क्रम शिथिल सिरात ॥ (गोविंद स्वामी २५६)

संभोग पूर्व की इन क्रियाओं से स्पष्ट है कि भक्ति-शृंगार में संभोग का यह पक्ष अछूता नहीं है । भक्त-गण इनके महत्त्व से परिचित थे और उन्होंने सफल संभोग की भूमिका-रूप में इसे स्वीकार किया है ।

(ख) संभोग

प्रेम की चरम परिणति संभोग है । यही प्रेम का साध्य है । इसीमें प्रेमी प्रेमिका की शारीरिक और मानसिक दोनों ही धरातलों पर अभिन्नता होती है । प्रेम की उच्च भूमि में जब प्रेमी-प्रेमिका समस्त विधि निषेधों को त्याग कर एक-दूसरे को अपना तन और मन समर्पित करते हैं तभी संभोग सफल होता है । इस सफलता के लिए आवश्यक है कि नायक-नायिका दोनों ही इस कर्म के लिए तैयार हों इसमें रुचि रखते हों तथा यथासंभव सक्रिय सहयोग प्रदान करें । इस सक्रिय सहयोग को प्राप्त करने में संभोग पूर्व क्रियाएं सहायक होती हैं । इसी लिए उनका इतना महत्त्व है । नवोढ़ा का समर्पण प्राप्त करना कठिन है पर उससे भी कठिन उसका सक्रिय सहयोग प्राप्त करना है । लज्जा नवीनता अनभिज्ञता भय आदि अनेक कारण उसके प्रथम मिलन के पूर्व सहयोग को असंभव बना देते हैं । इसी कारण से नन्ददास ने 'रसमंजरी' में कहा है —

जो परस कौं कर चिर कर सो नवोढ़ा बाला परम ।

जिस प्रकार से हथेली पर पारे को स्थिर करना कठिन है इसी प्रकार नवोढ़ा बाला का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना कठिन है ।

रतिभय

नवोढा की रति में यद्यपि पूर्णता नहीं है किन्तु उसकी लज्जा उसका 'न-न' करना उसका भय यह सभी रसिकों को अत्यंत प्रिय रहे हैं। फिर भी इसका विशेष उल्लेख कृष्ण भक्त कवियों ने नहीं किया है। इसका कारण राधा का रति-नागरी रूप है। वे नवोढ़ा रूप में चित्रित ही नहीं हैं। काम-कला विशारदा राधा प्रारम्भ से ही संपूर्ण संभोग करती हैं। इसका अपवाद विद्यापति का काव्य है। उन्होंने नवोढ़ा के इस रति भय का अनेक पदों में सुन्दर चित्रण किया है। विद्यापति एक पद में ऐसी नायिका का चित्रण निम्नलिखित रूप में करते हैं —

'एक तो (नायिका) बलहीना उस पर भी अल्पवयसी हाथ धरते ही कोटि अनुनय करती है। भय से नाम से हृदय कम्पायमान होता है मानो हाथी के (पैरों) तले मृणाल पड़ गया हो। आँखों में आँसू भरकर 'ना-ना' कहती है मानो सिंह के भय से हरिणी के प्राण काँपते हों। (नायक ने) कौशल से कुच-कोरक हाथ में ले लिया। (नायिका का) मुख देखने से स्त्री-वध का संदेह हुआ। विलासिनी छोटी और कन्हाई युवा कुतूहली मदन-बाधा नहीं सुनता। विद्यापति कहते हैं मुरारि सुन ! अनिश्चित बल प्रयोग से नारी नहीं बचती'।"

प्रेमाश्रयी काव्यों में सोहागरात के समय नायिका के इस भय का उल्लेख है। चित्रावली ने इस भय का सुन्दर वर्णन उसमान ने किया है। वे कहते हैं प्रथम समागम में बाला डरती है। किसी भी प्रकार आगे पैर नहीं बढ़ाती। मत्त हस्तिनी के समान चित्रावली है और उसकी कुछ सखियाँ मतवाली हथिनी के पट्ठे के सदृश हैं किन्तु उनके पैरों में लज्जा रूपी अर्गला पड़ गई है। वह छलकर और छल करती किन्तु सखियाँ उसे पकड़ ले-ले कर बढ़ा रही हैं। और जबरदस्ती वह सेज के पास गई, किन्तु भय के कारण पाटी से आगे नहीं बढ़ती है। चतुर सखियाँ उसे बहलाती और समझाती हैं किन्तु सेज-सरिता को चित्रावली छूती भी नहीं है।" (४११) पद्मावत में अपने भय का उल्लेख पद्मावती स्वयं सखियों से करती है। वह कहती है 'उनके बाँह पकड़ने के समय मैं क्या कहूँगी ? प्रेम से मैं अनभिज्ञ हूँ। मैं अभी बालिका हूँ और पति तरुण। सेज पर चढ़ने पर न जाने क्या होगा ? उसकी अनुभवी सखियाँ उसे सांत्वना देते हुए कहती हैं 'जब तक मिलन नहीं होता है तभी तक भय है। क्या कभी भ्रमर के बोझ से भी डाली टूटती है। (३० ३ १)

प्रिय मिलन के लिए शृंगार

शृंगार की रीति ही निराली है। जिस संयोग में स्त्री-पुरुष को समस्त लज्जा का परित्याग कर वस्त्रविहीन होना पड़ता है उसीके लिए नायक और विशेष रूप से नायिका सुन्दरतम वस्त्रों से सजाई जाती है। जिस शृंगार में प्रत्येक प्रकार का आभूषण बाधक होता है, जो टूटते हैं उतारे जाते हैं उन्हीं आभूषणों से नायिका का शृंगार होता है। इसका एक कारण है। संयोग के लिए कामोद्दीपन में ये विशेष सहायक हैं। इनका तोड़ने में हटाने में काम की जो वृद्धि होती है वह व्यक्त नहीं की जा सकती है। फिर अपने सौंदर्य को बढ़ाने तथा प्रिय को सुन्दरतम रूप में अपने को समर्पित करने की चाह भी इसके पीछे है। शृंगार न केवल कामोद्दीपन ही करता है बल्कि स्त्री-पुरुष के आकर्षण को प्रभावशाली भी करता है। अनेक काम शास्त्रियों का मत है कि प्रेम और आकर्षण के स्थायित्व के ये नित नूतन शृंगार अत्यावश्यक है।

अपने को सुन्दरतम रूप में प्रिय को समर्पित करने की इच्छा नव वधू में भी होती है। सामाजिक शिष्टाचार के कारण वह अपना शृंगार नहीं कर सकती है। किन्तु इसके महत्व के कारण ही सोहागरात के दिन वधू के शृंगार की परम्परा है। यह शृंगार उसकी सखियाँ अथवा जिठानी आदि करती हैं।

वधू के इस शृंगार का वर्णन प्रेमाश्रयी काव्य में ही संभव है जहाँ नायिका का विवाह होता है। पद्मावत में पद्मावती तथा चित्रावली में कौलावती के इस शृंगार का वर्णन है। पद्मावती के इस शृंगार का वर्णन जायसी ने इस प्रकार किया है —

सखियों ने सर्वप्रथम स्नान करा कर सुन्दर पीतल वस्त्र पहनाए। मांग सँवारकर उसमें सौभाग्य चिह्न सेंदुर भरा। मस्तक पर सुन्दर टीका नैनों में अंजन कानों में कुण्डल और नाक में फूल पहनाए। पद्मावती ने पान खाया तथा गले कण्ठाई कटि तथा चरणों आदि शृंगार के बारह स्थानों पर बारह गहने पहने और सोलहों शृंगार किया। उसका उस समय का रूप अवर्णनीय है। ऐसा शृंगार कर पद्मावती प्रिय से मिलने गई। (२९६ ३००)

राधा के सम्बन्ध में सखियों द्वारा इस शृंगार का स्थान ही नहीं है। राधा चतुर है तथा अपने प्रेम को सखियों से छिपा कर रखती है। इसलिए वह अपना शृंगार स्वयं करती है। इस शृंगार का सूर का एक पद नीचे दिया जा रहा है

प्यारी अंग सिंगार कियौ।

बेनी रची सुभग कर अपनें टीका भाल दियौ ॥

मोतिनि माँग सँवारि प्रथम हीं केसरि आड़ सँवारि ।।
लोचन आँजि श्रवन तरिवन-छबि को कवि कहै निवारि ।।
नासा नथ अतिही छबि राजति अधरनि बीरा-रंग ।
नख-सत साजि चीर चोली बनि सूर मिलन हरि संग ।।

(२६४५)

राधा-वल्लभ सखी-सम्प्रदाय आदि जिनमें राधा स्वकीया तथा सदा संभोग-रता हैं वहाँ उनका शृंगार उनकी सखियाँ आदि करती हैं। उन राधा का तो स्वरूप ही विलक्षण है। उन्हें रति रस से इतनी छुट्टी कहाँ कि शृंगार करें। यह दायित्व तो उनकी सखियों का ही है किन्तु सूर की राधा जो कि परकीया हैं अपना शृंगार स्वयं करती हैं।

मिलन-स्थल

रति-स्थान और रति-शय्या का संभोग-कर्म और उससे प्राप्त आनन्द पर विशेष प्रभाव पड़ता है। सुन्दर निरापद सुखमय और एकान्त स्थान इस कार्य के लिए उपयुक्त है। इन सभी सुविधाओं को एक साथ प्राप्त करना या तो स्वकीया के लिए ही संभव है और या उन परकीयाओं के लिए जिन्होंने अत्यंत चतुराई से समझ-बूझकर अपने सहेट-स्थल रखे हैं। किन्तु सामान्यतः परकीया को जहाँ-जब एकांत मिले उसका लाभ उठाना पड़ता है। यही कारण है कि उनके मिलन के अनेक स्थल होते हैं। वात्स्यायन ने बाभ्रव्य के मतानुसार निम्नलिखित सहेट-स्थल और समय उपयुक्त माने हैं —देवालय उद्यान सामूहिक स्नानागार विवाहोत्सव यज्ञ पुनर घटना के समय वन त्योहारादि के अवसर अग्निकांड के अवसर, मेले तमाशे नाटकादि के अवसर।

भक्ति-शृंगार के नायक-नायिकाओं को मिलन-स्थलों की कठिनाई नहीं है। स्वकीया के लिए तो उनका प्रासाद या कुंज है जहाँ किसी प्रकार की बाधा नहीं है। ऐसी ही नायिका निकुंजेश्वरी नित्य-विहारिणी राधारानी हैं उनके रति-स्थल महल कुंज वन उपवन नदी-पुलिन तथा हिंडोला हैं। ये कुंज विभिन्न पुष्प और रत्नों से अलंकृत हैं। सूर की राधा और अन्य गोपिकाओं की स्थिति कुछ भिन्न है। वे परकीया हैं। उनके लिए गृह पर सुविधा नहीं है तथा अन्य कुंजों में अन्य सखियों का भय रहता है। कुंभनदास ने ही केवल एक ऐसा उल्लेख किया है जिसमें गोपिका कृष्ण को निश्शंक रूप से अपने घर में आने जाने के लिए कहती है —

बरन धोवने लिये के हौं मोहन ! कैसनि आवें तें मति डरपु ।
तो सौं लिव बाँ सी देखौं बारबार या सामीं बिन श्रमत न परहु ।
तब सुख चैन तो ही सौं प्यारे ! जो मौं लगन पाँको करहु ।

रतिकनु सोम रसिक नंद-नंदन तुम पिय ! मेरे सकल दुख हरहु ।
आवहु आजु पहु गृह मेरे श्याम मनोहर ! सक न करहु ?
कुम्भनदास प्रभु गोवर्द्धन-धर ! तुम अरि-जोबन कसोंव धरहु ॥

(२०६)

अन्य गोपियों के मिलन-स्थल कुंज वनी नदी पुलिन या घर भी सुविधा-जनक स्थान रहा नहीं है। मुख्यतः वन-कुंज और यमुना-पुलिन ही उनके मिलन स्थल हैं।

सेज

स्वकीया नायिकाओं की सेज तो अनेक प्रासादों में अति अलंकृत रहती है। इसका प्रश्न मुख्य रूप से परकीया के सम्बन्ध में ही उठता है। राधा सम्बन्धी पदों में इस सेज का अनेक रूपों में चित्रण हुआ है। ऐसे अवसर स्वल्प हैं जब कि राधा की सखियाँ सेज की रचना करती हैं। अन्य अवसरों में तो परिस्थिति के अनुरूप जो कुछ भी प्राप्त हो जाए उसीसे सेज का निर्माण होता है।

कुंजों में पुष्पादि उपलब्ध होने के कारण सेज उनसे सजाई जाती है। यह सेज कभी राधा सजाती है (सूर २६४७ ३१२६ आदि) कभी कृष्ण सजाते हैं। (गोविंदस्वामी ७०६, कुंभनदास २६४ श्रीभट्ट ३० आदि) और कभी राधा-कृष्ण दोनों ही मिल कर सजाते हैं। एक बार तो कुंजगली में दोनों की अनायास भेंट हो गई। समय कम था। ऐसे समय सेज का प्रश्न ही नहीं उठता है। एक ओर कृष्ण ने शीघ्रता से अपना पीताम्बर धरती पर बिछाया तो दूसरी ओर राधा ने स्वयं ही शीघ्रता से अपनी चोली खोली। दोनों की ही आतुरता इसमें अभिव्यक्त है —

दुहुँ आतुरनि चतुरता भूली।
कुंज गली अचकोंहै डोलत भेंट भई सुख-मूली ॥
स्याम पीत पट सेज करी स्यामा निज कचुकि खूली।
रजनी मुख सुख सेज परस्पर, चितवत भूला झूली ॥
थर थर होरि स पुलियनि बातें कहत कुंवरि सुख फूली।
पिय-हिय सुख दै 'व्यास' स्वामिनी सुरति डोलि चढ़ि भूली ॥

(व्यास, ४५२)

सूरदास ने सेज का रूपक सरोवर से बाँधा है जिसमें यौवन की मदिरा भरी हुई है। वे कहते हैं —

सेज सरोवर राजत है जल मादिक रूप भरे तरुनाई।
थरनि धारा तरंग उठ जहाँ मीन कटाछनि की छब छाई ॥

प्याली सखी भरि प्र कुसुम सेज पिये तें गिरी उपमा प्रभु पाई ।
प्रम गंयद ने डारे हैं तोरि के कनक कंज जनु बिखराई ॥

(ब्यालीस लीला पृ० २१)

सेज के स्वरूप उसकी कोमलता और उसके सौंदर्य का एक बड़ा सुन्दर वर्णन जायसी ने पद्मावत में किया है । वे कहते हैं

प्रथम गृह में सात खंडों के ऊपर कैलास था । वहाँ सुखवासी में सोने की शय्या थी । उसकी चार दिशाओं में पच्चीस हीरे और रत्नों से जड़े हुए चार खंभे लगे थे । वहाँ माणिक्य और मोती दीपक जैसे चमकते थे जिनकी ज्योति से रात में भी उजाला रहता था । ऊपर लाल चँदोवा छाया हुआ था और नीचे भूमि पर लाल बिछावन बिछी थी । उसमें पलंग बिछा था जिस पर सेज लगी थी । किसके लिए ऐसी सुखशय्या रची गई है ? चौड़ा और लंबे तकिये (गेंडुवा) और गोल चपटे तकिये (गलसुई) लगे थे । रूपये रेशम की रुई धुन कर उसके भीतर भरी गई थी । फूलों से भरी ऐसी सेज किसके योग्य है ? कौन उसपर सोकर सुख भोग करेगा ? वह सेज अत्यंत सुकुमार सजाई गई थी । कोई उसे छू नहीं पाता था । देखने मात्र से भी वह क्षण-क्षण में झुकी-सी जाती थी पाँव रखने से तो न जाने कैसी हो जाएगी ॥ (पद्मावत ३११)

प्रथम समागम

प्रथम समागम का उपयुक्त वर्णन प्रेमाश्रयी धारा के साहित्य में ही हुआ है । इस साहित्य में ही नायक-नायिका का विधिवत विवाह होता है और इसी कारण सोहागरात के अवसर पर इन्होंने प्रथम समागम का स्वाभाविक वर्णन किया है । राम-साहित्य में भी शिव-पार्वती तथा राम-सीता आदि के विवाह के प्रसंग हैं किन्तु कवि की अतिशय मर्यादाप्रियता के कारण प्रथम समागम का संकेत नहीं है । कृष्णाश्रयी शाखा में सूरदास ने रास के प्रसंग में राधा-कृष्ण का विवाह कराया है किन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है यह एक मन मात्र था । राधा कृष्ण का मिलन इससे पूर्व भी हो चुका था ।

प्रेमाश्रयी शाखा में प्रथम समागम के अवसर पर नायक द्वारा प्रयुक्त आलिंगन चुंबन नख और दंत क्षत आदि कामोत्तेजक क्रियाओं का उल्लेख है । इस शाखा के सभी नायक काम कला प्रवीण हैं और रति के लिए नायिका की चूप कोप तत्पर करने का प्रयास करते हैं । जायसी ने तो इन उत्तेजक क्रियाओं में नायिका-योनिस्थ कामांकुर (clitoris) के पतन का भी उल्लेख किया है । इसके द्वारा नायिका में कामातुरता आ जाती है तथा कामाधिक्य में उसकी चोप ... सकती है —

मनमथ हाथ कांध पुनि चांपी । रावन बार लंक गहि चांपी ॥
(चित्रावली, ६६७)

नायिका को बार-बार आलिंगन-चुम्बनादि क्रियाओं से उत्तेजित कर नायक संयोग करता है। संभोग-वर्णन में कवि नायिका के रति-भय का स्वरूप संकेत करता है किन्तु शीघ्र ही नायक कार्यरत हो जाता है। रति में नायिका के शृंगार चूर हो जाते हैं। शिश्न प्रवेश के साथ कुमारीच्छद विदीर्ण हो जाता है। शैया निःसृत रक्त से रंग जाती है और अंत में स्खलन के उपरांत नायिका को शीतलता मिलती है।

इस काव्य में शिश्न-प्रवेश का संकेत कनक-पिचकारी से बेधने से बर्मा से मोती बेधने से कमल-कोश में भ्रमर-प्रवेश से अथवा अर्जुन का बाण से राहु को मारने से किया गया है। कुमारी कन्या के योनिच्छद भंग होने का संकेत रंग गुलाल से भरना सिन्धौरा-फूटना कंचन-घट-टूटना तथा अमृत-भाजन के फूटने से किया गया है। नायक के स्खलन का संकेत सीप में मोती पड़ने तथा गगन से धार छिटकने के द्वारा किया गया है। इन सबको काम-प्रतीक कहा जा सकता है।

प्रेमाश्रयी भक्तों के इस वर्णन से एक बात स्पष्ट है कि उन्होंने नायक-नायिका के संयोग को स्वाभाविक रूप से स्वीकार किया है और उसके सूक्ष्म वर्णन में हिचकिचाए नहीं हैं। इन वर्णनों के द्वारा उनके संयोग-शृंगार में स्थूलता और सजीवता आ गई है। संयोग शृंगार के उनके कुछ पद नीचे उदाहरणार्थ दिए जा रहे हैं —

चित्रावली और सुजान के प्रथम समागम का वर्णन नीचे दिए पद में है। इसमें कामोत्तेजना-क्रियाएँ एवं संभोग का वर्णन है —

कुँवर सुपथ कामिनि मनमाना शिशु तपति बाला परमाना ।
रही अंक हियर समुझाई लै सुजान तब अंक में लाई ॥
पुनि पुनि खोलि रूप रस देखा सो देखत जेहि सीस सुरेखा ।
अधर पूछ सो अमिरित चोखा जेहि के पियत अमर भा होखा ॥
राहु गरास कलानिधि कांपा लोचन पल आगम पद झांपा ।
पुनि मनमथ रति काजु सँवारी, खोलि अद्भुत कनक पिचकारी ॥
रंग गुलाल दोऊ में भरे रोम रोम तन मोती भरे ।

सेद अंग रोमांच तन कांपु पतन सुरभंग ।
प्रथम समागम को कियो सिथल भा सब अंग ॥

इस छंद में 'दोपि मयूख कनक पिचारी' द्वारा कवि सुजान-कौलावती संयोग की याद दिलाते हुए स्मरण कराता है कि उन दोनों के प्रथम-मिलन में संभोग नहीं हुआ था। इस छंद में सात्विक अनुभावों की भी छटा है।

जायसी ने पद्मावती से रत्नसेन के प्रथम समागम का वर्णन कई छंदों में किया है। इन्हीं में उन्होंने नारी-जीवन में काम क्रीड़ा का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि क्रीड़ा से पति को संतोष होता है। जो नारी क्रीड़ा नहीं करती वह कुमारी नहीं है। इसी काम-क्रीड़ा से मोक्ष मिलता है —

किरिरा काम केलि मनुहारी। किरिरा जेहि नहिं सो न कुमारी॥
किरिरा होइ कंत कर तोखू। किरिरा किहें पाव धनि मोखू॥

इसी छंद में रति सुख से विरत का संकेत करते हुए उन्होंने स्खलन का संकेत किया है —

पिउ पिउ करत जीभ धनि सूखी बोली चातक भाँति।
परी सो बूँद सीप जनु मोती हिए परी सुख साँति॥ (३१७)

प्रथम समागम के एक अन्य वर्णन में उन्होंने राम रावण के युद्ध से रूपक बाँधते हुए नायिका के कंचनगढ़ (कुमारीच्छद) के टूटने का तथा उसके समस्त शृंगारादि के नष्ट होने का संकेत किया है —

कहौं जूझि जस रावन रामा। सेज बिधंसि बिरह संग्रामा।
लीन्ह लंक कंचनगढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा।
औ जोबन मैमंत बिधंसा। बिचला बिरह जीव लै नंसा।
लूटे अंग-अभरन सब भेसा। छूटी मंग भंग भे केसा।
कंचुकि चूर चूर भे ताने। टूटे हार मोति छहराने।
बारी टाड सलोनी टूटी। बाहु कँगन कलाई फूटी।
चंदन अंग छूट तस भेंटी। बेसरि टूटि तिलक गा मेटी।

पुहुप सिंगार सँवारि जो जोबन नवल बसंत।
अरगज जेउँ हिय लाइ कै मरगज कीन्हेउ कंत॥ (३१८)

मंझन ने भी प्रथम समागम की रति का पूरा-पूरा वर्णन किया है। लज्जा के कारण नायिका दीपक बुझाना चाहती है। इसी नायक और भी उजाला करता है। लज्जा कर वह दोनों हाथों से मुख को ढक लेती है। उसके बाद रति होती है। शृंगार टूट जाते हैं। कुमारीच्छद भंग होता है। समागमोपरान्त दोनों को शांति मिलती है —

सुत प्रेम रस प्रथम मरोरुं, रतन प्रवेश सेज को पोस्यो ।
कंचुकि दरकि तरकि उर फाटी, कोमलित मांग की पाटी ।
सेंदुर मिलिमा तिलक लिलारा काजर नव पीक रसनारा ।
कण्ठहार मणिहार के टूटे, हंसि मन दर्शन नेह सों छूटे ।
बहुरि पुनिगी अमित जागी, मो सांसो को सालति रागी ।
काम सकति उर जोरिये कहीं एक न टार ।
तब ये पुनी सांति भों जब पवन है छिरका बार ।

(पृ० १११)

कृष्ण-काव्य में जिस प्रथम समागम का उल्लेख है वह नवोढ़ा का नहीं प्रतीत होता है। परमानन्द ने प्रथम समागम के लिए राधा के स्वयं शृंगार करने का उल्लेख किया है जो एक वधू के लिए अस्वाभाविक है। एक परकीया में ही यह संभव है। परमानन्द का वह पद निम्नलिखित है —

राधे बैठी तिलक सँवारति ।
मृगनयनी कुसुमायुध के डर सुभग नन्द सुत रूप बिचारति ॥
दरपन हाथ सिंगार बनावत बासर जाम जुगति यों डारति ।
अन्तर प्रीति स्यामसुन्दर सों प्रथम समागम केलि सँभारति ॥
बासर गत रजनी ब्रज आवत मिलत लाल गोवर्धन धारी ।
परमानन्द स्वामी के संगम रति रस मगन मुदित ब्रज नारी ॥

(परमानन्द सागर, १७१)

उपर्युक्त उल्लेख में नवोढ़ा की लज्जा नहीं काम-कलादक्ष परकीया राधा की उत्सुकता ही अधिक है।

दामोदर स्वामी तथा ध्रुवदास ने भी राधा के प्रथम समागम का वर्णन किया है किन्तु उनकी राधा अति काम-कला-दक्षा है। वे प्रथम समागम पर ही रतिरण तथा विपरीत का आयोजन करने वाली हैं। उनका यह रूप स्वाभाविक नहीं है। ध्रुवदास का यह वर्णन निम्नलिखित है —

प्रथम समागम सरस रस, बर बिहार के रंग ।
बिलसत नागर नवल दम कोक कला के अंग ॥१॥
ललित सीव छवि सींव रही पू पद पटहि स मारि ।
बरनत हैतन चतुराई अति हुलास कुहुँ नारि ॥२॥
जो पहले आदर दुर्यो पिय, कुँवरि छुवनि नहि देत ।
चितवनि मुसकनि रस भरी, हरि हरि प्रानन लेत ॥३॥

रस विनोद विपरीति रति बरषत प्यार को मेहु ।
बरषी उमड़ि भरि प्रेम की तोरि मेड़ पग मेहु ॥

(ब्यालीस लीला, पृ० १६७-१६९)

रति-वर्णन

भक्त-कवियों ने रति-वर्णन दो प्रकार से किया है। प्रथम प्रकार में रति का संकेत या कथन मात्र है। दूसरे प्रकार का रति-वर्णन विस्तृत है। इसमें रति सम्बन्धी अनेक क्रियाओं का क्रमिक वर्णन है।

रति का संकेत

रति का संकेत राम-साहित्य में है। अतिशय मर्यादा की भावना के कारण कवि ने ऐसे प्रसंग का वर्णन किया है जिसके उपरांत पति पत्नी की रति की कल्पना की जा सकती है। विवाहोपरांत अयोध्या लौटने पर कवि ने सोहागरात का उल्लेख नहीं किया है। उसने कहा है कि सासें बहुओं को अपने साथ लेकर सोईं। इस प्रकार तत्काल मिलन का उसने निषेध कर दिया है। आगे चल कर कवि ने 'कंकन-छोरइ' प्रथा का उल्लेख करते हुए अद्भुत विनोद और आनन्द का कथन किया है। इसी कंकन-छोरइ से ही नायक-नायिकाओं के मिलन का संकेत किया गया है। यह प्रथा वर्तमान काल की 'चौथी' प्रथा के समान है जिसके बाद ही पति पत्नी मिल सकते हैं।

रति-कथन मात्र

राम-साहित्य में शिव-पार्वती की रति का कथन है। उनके संभोग का वर्णन न करने का उन्होंने कारण दिया है। शिव-पार्वती जगत के पिता और माता हैं फिर उनके शृंगार का वर्णन कैसे किया जा सकता है। संभव है कि इस अवसर पर तुलसी के मस्तिष्क में कालिदास के शिव-पार्वती के शृंगार की बात बिजली की भाँति कौंध गई हो। तुलसी ने इसीसे इनके शृंगार का वर्णन नहीं करते हुए भी इतना मात्र कहा कि दोनों ने अनेक प्रकार से भोग-विलास किया —

जबहिं सम्भु कैलासहिं आए। सुर सब निज-निज लोक सिधाए ॥
जगत मातु-पितु सम्भु भवानी। तेहि सिंगारु न कहउ बखानी ॥
करहिं विविध विधि भोग विलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा ॥
हर गिरिजा बिहार नित नयऊ। एहि बिधि बिपुल काल चलि गयऊ ॥
तब जनमेउ षटबदन कुमारा। तारक असुर समर जेहि मारा ॥

(मानस बा० १०३)

इसी प्रकार का कथन मात्र कृष्ण-साहित्य में भी प्राप्त है। कृष्ण भक्त कवियों ने यदि रति का विस्तृत वर्णन किया है तो अनेक स्थलों पर रति का केवल कथन मात्र ही किया है। ऐसे उल्लेख कृष्ण-साहित्य में सर्वत्र प्राप्त हैं।

रति का विस्तृत वर्णन

रति का विस्तृत वर्णन सभी कवियों ने नहीं किया है। जिन कवियों ने रति का विस्तृत वर्णन किया है उन्होंने भी कहीं एक ही स्थल पर क्रमिक रूप से रति का सांगोपांग वर्णन नहीं किया है। किन्तु ऐसे कवियों की रचनाओं में स्थानों के ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनके आधार पर रति के विस्तृत वर्णन की रूप रेखा तैयार की जा सकती है। ऐसी ही रूप रेखा नीचे दी जा रही है —

आमंत्रण

रति के लिए तत्पर नायिका में भी स्वाभाविक लज्जा होती है। चतुर नायक उसे प्यार से सेज पर आमंत्रित करता है। अवसर पा उसे अंक में भर कर ही सेज पर लाना पड़ता है। सूर के एक पद की इस प्रसंग की कुछ पंक्तियाँ दी जा रही हैं —

> ऐसे लसत कमल इक ठौर।
> तिनकी प्रति आदर देवे को आइ मिले द्वै चौर॥
> × × ×
> इतने जतन किये नन्द-नन्दन तब यह निठुर मनाई।
> हरि कर भरि सूर के स्वामी पलक पर ल्याई॥
>
> (१०७६)

वार्तालाप

सेज पर आई नायिका से वार्तालाप के विशेष उल्लेख नहीं मिलते हैं। बिहारनिदेव के एक पद में राधा को रिझाने के लिए कृष्ण का काम-कहानी कहने का उल्लेख है। वह पद निम्नलिखित है —

> मेंन्हीं मन्हीं बूंद घन लागन लागी प्रेम बरषे पानी।
> सींचि सींचि मन मोद बढ़ावत गावत प्रीतम प्रियहि रिझावत
> कहि-कहि काम कहानी।
> फूलिन बास सुबास गात लिपटात रीझि-रीझि पग-संग रंग रसिक लागी।
> श्री बिहारनिदास सुख सम्पति दम्पति बिलसत बिलसति रस पावस रितु
> रति मानी॥

ताम्बूल-निवेदन

भारतीय शृंगार प्रसाधनों में पान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वार्तालाप प्रारम्भ करने में इसका उपयोग होता है। प्रणयरागावस्था में प्रिय-प्रिया एक-दूसरे को मुख द्वारा पान खाते-खिलाते हैं। कभी-कभी जूठा पान भी खाया जाता है। चुम्बन में नायक-नायिका परस्पर एक-दूसरे की पीक पी लेते हैं। इस प्रकार से पान द्वारा अनेक क्रीड़ाएँ होती हैं।

कृष्ण भक्त कवियों ने नायक-नायिका के पान खाने का तथा एक-दूसरे की पीक पीने का भी उल्लेख किया है। यह उल्लेख व्यासजी द्वारा हुआ है —

स्याम कें गोरी सहज सिंगार।
कञ्चन तन हीरा दसनावलि नख मुक्ता मुक्तार ॥
× × ×
पिय के तोल अधर, रसना मुख सुखमय जूठी पार।
व्यास दासि पिय पीक पियत बड़ भागिनि मैल उगार ॥

(व्यास, १७१)

चुम्बन-आलिंगन

रति के पूर्व एवं रति में भी चुम्बन-आलिंगन का निरन्तर प्रयोग होता रहता है। इसका वर्णन सभी कवियों ने किया है।

वस्त्रापहरण

वस्त्रापहरण द्वारा रति का प्रथम महत्त्वपूर्ण कदम उठाया जाता है। कृष्ण भक्त कवियों ने वस्त्रापहरण का उल्लेख कई प्रकार से किया है। कहीं कामोत्तेजना से नायिका की चोली के बंद स्वयं टूटने लगते हैं तो कहीं नायक उन्हें खोलता है कहीं उतावली में नायिका स्वयं चोली उतारती है तो कहीं नायक विलम्ब सहन न कर सकने के कारण वस्त्रों को फाड़ देता है, तो कहीं उसकी जाँघों के वस्त्र को खींचता है। इस प्रकार वस्त्रापहरण के अनेक रूप हैं। श्री हित-हरिवंश का वस्त्रापहरण का एक पद नीचे दिया जाता है —

आजु बन क्रीड़त स्यामा-स्याम।
सुभग बनी निसि सरद चाँदनी रुचिर कुञ्ज अभिराम ॥
खण्डन अधर करत परिरम्भन ऐंचत जघन दुकूल।
उर नख पात तिरीछी चितवनि दम्पति रस समतूल ॥
वे भुज पीन पयोधर परसत वाम दृगा पिय हार।
बसननि पीक अलक आकर्षत समर श्रमित सत मार ॥

चल चल प्रबल चौंप रस संपत अति सुन्दर सुकुमार।
मैं श्री हित हरिवंश प्रानु तुम इतहूँ वलि विषम विहार॥

(हितचौरासी, ३२)

कुच-मर्दन और नख-क्षतादि

संसार की सुन्दरतम वस्तुओं में कुच माने जा सकते हैं। सुन्दरी के पुष्ट सुडौल उन्नत और स्निग्ध उरोजों की मादकता का वर्णन कौन कर सकता है? उनका दर्शन ही काम की लहर प्रवाहित करनेवाला होता है फिर उनके स्पर्श की मादकता का अनुमान कौन कर सकता है?

मानव-जाति में ही सन्तानोत्पत्ति के पूर्व कुचों का पूर्ण विकास पाया जाता है। फलस्वरूप ये कामोद्दीपन के प्रबल-केन्द्र हो गए हैं। स्त्री के लिए भी इनका स्पर्श, मर्दन, ग्रहण या चूषण सभी क्रियाएं अति कामोद्दीपक हैं। इनके इस महत्त्व को ही समझकर कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने काव्य में कुच-स्पर्श कुच-मर्दन आदि का वर्णन किया है। यथार्थ में कुचों के अनावृत हुए बिना उन्होंने काम की पूर्णता ही नहीं मानी है। इसीलिए तो आतुरता में राधा स्वयं ही अपनी चोली खोलती है। कुच सम्बन्धी कथन इस काव्य में सर्वत्र प्राप्य हैं।

नीवी-मोचन

कृष्ण साहित्य के शृंगार-वर्णन में नीवी-मोचन का वर्णन उल्लेख्य है। इस क्रिया के बाद नायिका पूर्णतया निर्वसना हो जाती है और तभी रति सम्पन्न हो पाती है। इसके उल्लेख में विस्तार का अवकाश नहीं है। कवियों ने सामान्यतः नीवी खोलने का उल्लेख किया है। कभी-कभी नायिका प्रिय को नीवी खोलने से रोकती है और हाथों में खेल-सा मच जाता है। सूर के ऐसे ही पद की निम्नलिखित कुछ पंक्तियाँ हैं —

नवल नागरि, नवल नागर किसोर मिलि कुंज कोमल-कमल दलनि सज्या रची।
गौरसांवल अंग रुचिर तापर मिले सरस मनि मुकुत कंचन सुप्रभा खची॥
सुन्दर नीवी बंध रहति पिय पानि गहि पीय के भुजनि में कलह मोहन मची॥

(सूर १८०९)

जघन-स्पर्श तथा मदन-सदन-वर्णन

नायक की काम-कला-निपुणता और कौतुकता जघन-स्पर्श तथा मदन सदन-दर्शन में होती है। कुछ ही कवियों ने इसका वर्णन किया है। इसका वर्णन करनेवाले कवियों में व्यास प्रमुख हैं। उन्होंने कृष्ण की इस क्रिया के साथ राधा की लज्जा का भी उल्लेख किया है —

ताम्बूल-निवेदन

भारतीय शृंगार प्रसाधनों में पान का महत्वपूर्ण स्थान है। वार्तालाप प्रारम्भ करने में इसका उपयोग होता है। प्रथमदर्शनावस्था में प्रिय-प्रिया एक-दूसरे को मुख द्वारा पान खाते-खिलाते हैं। कभी-कभी जूठा पान भी खाया जाता है। चुम्बन में नायक-नायिका परस्पर एक-दूसरे की पीक पी लेते हैं। इस प्रकार से पान द्वारा अनेक क्रीड़ाएँ होती हैं।

कृष्ण भक्त कवियों ने नायक-नायिका के पान खाने का तथा एक-दूसरे की पीक पीने का भी उल्लेख किया है। यह उल्लेख व्यासजी द्वारा हुआ है —

स्याम कें गोरी सहज सिंगार।
कज्जल तन हीरा रतनावलि नख मुक्ता मुकतार॥
× × ×
पिय के नैन अधर, रसना मुख सुखमय चूरी चार।
व्यास दासि बिन पीक पियत बहु भामिनि देत उगार॥

(व्यास, ५७१)

चुम्बन-आलिंगन

रति के पूर्व एवं रति में भी चुम्बन-आलिंगन का निरन्तर प्रयोग होता रहता है। इसका वर्णन सभी कवियों ने किया है।

वस्त्रापहरण

वस्त्रापहरण द्वारा रति का प्रथम महत्वपूर्ण कदम उठाया जाता है। कृष्ण भक्त कवियों ने वस्त्रापहरण का उल्लेख कई प्रकार से किया है। कहीं कामोत्तेजना से नायिका की चोली के बंद स्वयं टूटने लगते हैं तो कहीं नायक उन्हें खोलता है कहीं उतावली में नायिका स्वयं चोली उतारती है तो कहीं नायक विलम्ब सहन न कर सकने के कारण वस्त्रों को फाड़ देता है तो कहीं उसकी चोली के बन्ध को खींचता है। इस प्रकार वस्त्रापहरण के अनेक रूप हैं। श्री हित हरिवंश का वस्त्रापहरण का एक पद नीचे दिया जाता है —

आजु बन क्रीड़त स्यामा-स्याम।
सुभग बनी निसि सरद चाँदनी रुचिर कुंज अभिराम॥
खण्डत अधर करत परिरम्भन ऐंचत जघन दुकूल।
उर नख पात तिरीछी चितवनि दम्पति रस समतूल॥
द्वै भुज पीन पयोधर परसत बाम दृगन पिय हार।
बसननि पीक अलक आकर्षत समर श्रमित सत मार॥

पल पल प्रबल चौंप रस लंपट अति सुन्दर सुकुमार।
जै श्री हित हरिवंश आनु सुभ सूरत हौं बलि बिसद बिहार॥

(हितचौरासी, १२)

कुच-मर्दन और नख-क्षतादि

संसार की सुन्दरतम वस्तुओं में कुच माने जा सकते हैं। सुन्दरी के पुष्ट, सुडौल उन्नत और स्निग्ध उरोजों की मादकता का वर्णन कौन कर सकता है? उनका दर्शन ही काम को सहज प्रवाहित करनेवाला होता है फिर उनके स्पर्श की मादकता का अनुमान कौन कर सकता है?

मानव-जाति में ही सन्तानोत्पत्ति के पूर्व कुचों का पूर्ण विकास पाया जाता है। फलस्वरूप वे कामोद्दीपन के प्रमुख-केन्द्र हो गए हैं। स्त्री के लिए भी इनका स्पर्श, मर्दन, मंथन या चूषण सभी क्रियाएं अति कामोद्दीपक हैं। इनके इस महत्व को ही समझकर कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने काव्य में कुच-स्पर्श, कुच-मर्दन आदि का वर्णन किया है। यथार्थ में कुचों के अनावृत हुए बिना उन्होंने काम की पूर्णता ही नहीं मानी है। इसीलिए तो आतुरता में राधा स्वयं ही अपनी चोली खोलती है। कुच सम्बन्धी कथन इस काव्य में सर्वत्र प्राप्त है।

नीवी-मोचन

कृष्ण साहित्य के शृंगार-वर्णन में नीवी-मोचन का सतत उल्लेख है। इस क्रिया के बाद नायिका पूर्णतया निर्वस्त्रा हो जाती है और तभी रति संपन्न हो पाती है। इसके उल्लेख में विस्तार का अवकाश नहीं है। कवियों ने सामान्यतः नीवी खोलने का उल्लेख किया है। कभी-कभी नायिका प्रिय को नीवी खोलने से रोकती है और दोनों में खेल-सा मच जाता है। सूर के ऐसे ही पद की निम्नलिखित कुछ पंक्तियाँ हैं —

नवल नागरि, नवल नागर किसोर मिलि कुंज कोमल-कमल-दलनि सज्या रची।
गौर सांवल अंग रुचिर तापर मिले, सरस मनि मुकुत दामिनि घुमायो सची॥
सुन्दर नीवी बंध रहति पिय पानि गहि जीव के जुगति मैं चलहु मोहन मची॥

(सूर १८०६)

जघन-स्पर्श तथा मदन-सदन-दर्शन

नायक की काम-कला-निपुणता और कौतुकता जघन-स्पर्श तथा मदन-सदन-दर्शन में होती है। कुछ ही कवियों ने इसका वर्णन किया है। इसका वर्णन करनेवाले कवियों में व्यास प्रमुख हैं। उन्होंने कृष्ण की इस क्रिया के साथ राधा की लज्जा का भी उल्लेख किया है —

बन विहरत वृषभान किशोरी ।

× × ×

सरस वचन बरसन लगि चरन पकरि हरि हू करि निहोरी ।
मदन-सदन को वदन विलोकत नैननि मूदति गोरी ॥

(२७१)

एक अन्य पद में उन्होंने रति के लिए तत्पर राधा का वर्णन करने में उसकी नीवि के विस्रस्त होने तक का उल्लेख कर दिया —

काम-कनक-सिंहासन तरलित, शिथिल वसन कटि डोरी ॥ (४११)

रति

उपर्युक्त समस्त क्रियाओं के बाद रति की क्रिया आती है। भक्त-कवियों ने संप्रयोग का चित्रण नहीं किया है। उन्होंने इस क्रिया की व्यंजना अनेक प्रकार से की है। कहीं राधा-कृष्ण कनक-बेलि और तमाल के समान लिपटे हैं कहीं दोनों के बीच में बाधक हार राधा उतारती है और कहीं आभूषणों के रव हो रहे हैं। इन्हीं सब वर्णनों द्वारा रति का संकेत अधिकतर किया गया है। आभूषणों के रव का एक पद निम्नलिखित है —

उमग रची नवल न सदन में नीके दंपति करत विहार ।
परस-परस हँसि-हँसि बिलसि मिलि सुरत समागम परम अपार ॥
परिरंभन चुंबन आलिंगन कौतुक ही भयो शिथिल सिंगार ।
कंकन-वलय किंकिनी नूपुर धुनि बिरमि-बिरमि उपजत झनकार ।
श्रमकन वदन मदन रस लंपट राधा रसिकिनि नंदकुमार ।
'गोविंद' निरखि-हरखि गुन-गावत कुंवल किशोर सिज्या अधिकार ।

(गोविंदस्वामी २९३)

रत्यानन्द

राधा-कृष्ण की इस रति का वर्णन करते हुए सूरदास कहते हैं कि राधा ने कृष्ण की सभी आशाएं पूरी कर दीं (२६५२)। कृष्ण ने भी रति में राधा को मगन कर दिया (१२४०)। फिर भी दोनों का इस आनन्द में संतोष नहीं है। बारंबार वे बुझी हुई कामाग्नि को प्रज्वलित करते हैं —

देखो माई माधो राधा कीरत ।
सुरत समय संतोष न मानत फिरि-फिरि पग धरत ॥
सुख के अमित सुधाकर सम मत यह छबि मनहिं हरत ।
मानहुँ काम-अगिनि निरखत भई ज्वाला फेरि करत ॥

१

द्विविध प्रेम की रासि लाड़िली, पलकनि बीच धरत।
सूर स्याम स्यामा सुख सींचत मनसिज पाइ परत॥
(सूर, १०१८)

विपरीत रति

संभोग के आसनों में सामान्य आसन के बाद जो दूसरा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आसन है वह विपरीत रति का है। इसमें पुरुष के स्थान पर स्त्री सक्रिय होती है। वह नायकवत आचरण करती है। संभोग की यह विधि अति प्राचीन और विश्व-व्यापिनी है। प्राचीन रोम ग्रीक चीन जापान और भारत—सर्वत्र इसका प्रचलन था। आधुनिक काल में भी यह बहुत अधिक प्रचलित है। किंसे और उनके साथियों के मतानुसार अमरीका में ३५ प्रतिशत अविवाहित एवं ४५ प्रतिशत विवाहित स्त्रियों द्वारा इसका प्रयोग होता है। भारतीय काम-शास्त्रों में भी इसकी मान्यता है।

विपरीत रति के मनोविज्ञान पर विचार करते हुए किंसे ने इसके प्रयोग के तीन कारण बतलाए हैं —

(१) परम्परागत यौन-रूढ़ियों से मुक्त स्त्रियों द्वारा इसका प्रयोग होता है।

(२) परंपरागत यौन-रूढ़ियों को तोड़ने की इच्छा रखनेवाली स्त्रियों द्वारा इसका प्रयोग होता है।

(३) शारीरिक स्वतंत्रता एवं सक्रियता की इच्छा रखनेवाली स्त्रियां द्वारा इसका प्रयोग होता है।

भक्ति-काव्य में विपरीत-वर्णन

भक्त-कवियों ने संभोग में विपरीत रति का विस्तृत सूक्ष्म और रोचक वर्णन किया है। मात्रा की दृष्टि से यह सामान्य संभोग-वर्णन से कुछ ही कम होगा। विपरीत रति की इस बहुलता के निम्नलिखित कारण अनुमानित किए जा सकते हैं —

(१) कृष्ण और राधा दोनों ही नव दंपति हैं। नित नवीनता की इच्छा उन्हें बार-बार इस आसन के प्रयोग के लिए प्रेरित करती है।

(२) राधा और कृष्ण दोनों ही काम-कला विशारद हैं। दोनों ही अपनी विभिन्न काम-क्रियाओं द्वारा एक-दूसरे को रिझाना चाहते हैं। इसी कारण से राधा विपरीत आसन ग्रहण करती हैं।

(३) चतुर कृष्ण राधा के अंगांगों का दर्शन एवं क्रियाशीलता का आनन्द

लेना चाहते हैं। इसलिए वे उन्हें बार-बार विपरीत रति के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

(४) साम्प्रदायिक क्षेत्र में राधा की कृष्ण से अधिक महत्ता व्यक्त करने का यह एक सरल और सुलभ साधन था। विपरीत संभोग करनेवाली स्त्री की ऐसे पुरुष पर महत्ता की परम्परागत धारणा से भी इसमें सहायता मिली होगी। राधा सभी कार्यों में कृष्ण से बढ़कर थी। फिर क्रिया में वे कैसे पीछे रह जातीं। साथ-ही साथ सामान्य संभोगासनों में राधा की काम-क्रिया विदग्धता को व्यक्त करना कठिन था और उनकी सक्रियता भी नहीं दिखलाई जा सकती थी। विपरीत रति द्वारा दोनों ही बातें संभव हो जाती हैं। राधा को भी कृष्ण को सुरत में हराने का अवसर मिल जाता है।

(५) संभोग का वर्णन करनेवाले अधिकतर पुरुष हुए हैं। यद्यपि उन्होंने राधा के संभोग का वर्णन किया है पर वे पुरुषाचरण को विस्मृत न कर सके। उन्होंने अपना तादात्म्य राधा की सखी से किया और पुरुषाचरण का आरोप राधा पर कर दिया। यह आरोप उन्होंने विपरीत रति द्वारा व्यक्त किया।

सामान्य रति के समान ही विभिन्न कवियों ने विपरीत रति के विभिन्न अंगों का वर्णन किया है जिसके आधार पर विपरीत रति का एक सम्पूर्ण चित्र बनाया जा सकता है। ऐसे चित्र में सर्वप्रथम विपरीत रति की तैयारी आती है।

विपरीत रति की तैयारी

विपरीत रति के लिए राधा और कृष्ण दोनों ही विपरीत शृंगार करते हैं। कृष्ण राधा के आभूषण पहनकर अँगिया पहनते हैं तथा घूँघट काढ़ते हैं। राधा भी कृष्ण का रूप बनाती है। इन नए रूपों को देख-देखकर दोनों परस्पर मुग्ध होते हैं। (सूर २०६६, हितहरिवंश ध्रुवदास आदि)

विपरीत मान-क्रीड़ा

नायक नायिका का रूप धारण कर मान करता है। नायिका नायक बनकर मनाती है। इस प्रकार से मान-मोचन की रोचक क्रीड़ा होती है, सूर का एक ऐसा ही वर्णन निम्नलिखित है—

बोले स्याम मान तुम धारो।
तुम बैठे रहु मान ठानि मैं मेटयौ मान तुम्हारो॥
यह मन साध बहुत ही मेरे तुम बिनु कौन निवारै।
नागरि पिय-तनु अपनो सोभा बारबार निहारै॥
हँसी भौंह भाल बेंदी छबि नैननि अंजन-रंग।
सूर निरखि पिय घूँघट की छबि पुलकि न मावति अंग॥ (१७०१)

मान-मोचन के उपरांत या वैसे ही विपरीत की तैयारी हो जाने के बाद विपरीत रति होती है। इस रति-वर्णन में लगभग सभी कवियों ने आलिंगन चुंबन कुच-मर्दन एवं नीवी मोचन आदि काम-क्रियाओं का उल्लेख किया है। लगभग समस्त भक्त-कवियों का यह प्रिय विषय रहा है। सूरदास ने एक वर्णन में अनेक अनुभावों का उल्लेख करते हुए दोनों की युगल जोड़ी की सराहना की है। वह पद निम्नलिखित है —

स्याम-स्यामा परम कुशल जोरी।
मनौ नव जलद पर दामिनि की छटा सहज मति मैंहि छवि भई गोरी॥
अलक आकुल बिथुरि स्याम-मुख पर रहीं मानो तम राहु ससि घेरि लीन्हौं।
चिते मुख चारु चुंबन करत सकुच तजि वसन-छत अधर पिय मदन दीन्हौं॥
परत श्रम-बूंद इव द्रवति आनन-वास भई बेहाल रति-मोह भारी।
बिधु-बरसि देत बिमोह अमृत कुचन सूर विपरीत रति नीक प्यारी॥

(२६५१)

आभूषणों की ध्वनि और कटि-चालन

संभोग और विशेषकर विपरीत रति की व्यंजना करने की सबसे प्रभाव शाली विधि नायिका के आभूषणों की ध्वनि के वर्णन द्वारा है। अनेक कवियों ने विपरीत रति की व्यंजना इसी प्रकार की है। ऐसे दो उदाहरण निम्नलिखित हैं —

प्राननाथ प्रेम-रूप सुंदरी अनूप राधि रास में तरल रंग अंग भेद भावनी।
पिया चकोर लाल को पियूष पुंज भाल की सरोज नैन चोंचिका मनोज पुंज लालिनी॥
हेम के समान कांत हेत ही सुप्यार बर कुंभु छबीली डोल हृद पट चालिनी।
बिहारिनी नितम्ब-श्रोणि लागि के अनंग ओघ कलि-कलित राधिके निकुंज विराजिनी॥

(हितदास स्वामी)

आभूषण एवं दूसरा वर्णन बिहारी के विपरीत रति-वर्णन से कितना मिलता जुलता है —

गह्यो मौन मंजीर धीर किंकिनि कोलाहल कारी।
बेहद मदन-सदन मन सूरत वल्लभ रसिक बिहारी॥

(वल्लभ रसिक पृ० १६)

आभूषणों के इसी रव द्वारा कटि-चालन की व्यंजना भी हो जाती है। फिर भी वल्लभ रसिक ने कटि-चालन का स्पष्ट एवं अत्यंत कामोत्तेजक वर्णन किया है —

रति बिपरीति सुरीति सुहाई । रसना हरषि कहत सुन्याई ॥
ठेल छली उर हरी छबीली । लखि-लखि लहलहात लरबीली ॥
सहज सुरति बिपुरनि प्रसकनि की । सोभा स्वेदबिंदु झलकन की ।
गोल-कपोल तमोल झलक छबि । मग-मोतिन की ज्योति रही फबि ॥
रति प्यारी-प्यारी कहर करति-सुरति बिपरीति ॥
रति-पति की सुरति भई लई सुरति मन प्रीति ॥
मतवारी हारी नहीं प्यारी रति बिपरीति ॥
झुकि उर सों उर लाइ कें पीति अधर-रस मीति ॥

(बलराम रसिक पृ० २१)

विपरीत रति की शोभा

विपरीत रति के वर्णनों में ही कवियों ने उसकी शोभा का भी वर्णन किया है। व्यास कवि ने इसकी शोभा ऐसी बतलाई है कि उसका वर्णन करते-करते शेष और चतुरानन की आयु ही समाप्त हुई जा रही है। उनका यह वर्णन निम्न लिखित पद में है —

विहरत राधा कुंज बसी री।
सीस सुगंध मंद मलयानिल सीतल सरद-ससी री ॥
करुना रस बरसावत नव सिस मोहन मन न बसी री ।
विपरीत रति विहरति पिय ऊपर अधर-सुधा बरसी री ॥
मानहुँ पावस ऋतु को आगम घन-दामिनि विलसी री ॥
रूप-सील-गुन सहज माधुरी रोम-रोम बरसी री ॥
यह छबि 'व्यास' सेस चतुरानन बरनत बैस नसी री ॥

(व्यास १८२)

भक्त-कवियों का विपरीत वर्णन यथेष्ट विस्तृत और प्रभावशाली हुआ है। उन्होंने अत्यन्त रुचि और उत्साह से राधा-कृष्ण की विपरीत रति का स्पष्ट और क्रियात्मक वर्णन किया है।

रतिरण

संयोग में रतिरण के महत्व पर हम पीछे चर्चा कर चुके हैं। मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार संयोग का रूप रणात्मक होता है। अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्रति वह यथार्थ रण का रूप ले लेता है। अपनी प्रेमिका के प्रति इसका रूप क्रीड़ात्मक होता है किन्तु कभी-कभी पुरुष का अपनी प्रेमिका पर अधिकार करने का प्रयत्न क्रीड़ात्मकता से बढ़कर रणात्मक हो जाता है। इस परिवर्तन का कारण स्त्री की

शक्ति और प्रकृति है। अक्सर पुरुष स्वभाव की स्त्रियों की यह अभिलाषा होती है कि उनके साथ संभोग करने में पुरुष को अपने पौरुष का सहारा लेना पड़े। पौरुष का यह प्रदर्शन काम-वर्द्धक होता है।

परिचय की अधिकता एवं समय बीतने पर स्त्रियाँ संभोग में सक्रिय भाग लेने लगती हैं। इस स्थिति में स्त्री लज्जा त्यागकर रति में भागदान देती है। यह रतिक्रिया धीरे-धीरे क्रीड़ात्मक रूप धारण कर लेती है जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण रतिरण है। इस रतिरण में नायक-नायिका एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। प्रेम के विभिन्न घात-प्रतिघात ही दोनों पक्षों की सेना होती है। नायक-नायिका की संभोगेच्छा ही उनका उत्साह होता है। इस रतिरण में शिथिल हो जाए, श्लथ हो जाए वही पराजित होता है।

रतिरण के कारण

भक्त-कवियों ने नायक-नायिका के रतिरण के अनेक कारणों का संकेत किया है। कभी यह अनंगनृपति को पराजित करने के लिए होता है, तो कभी प्रिय से सामान्य रति में अपनी पराजय का बदला लेने के लिए नायिका रण का आयोजन करती है। कभी यह रण मान भंग होने पर होता है। इन कारणों से सम्बन्धित पद व्यास सूर आदि अनेक कवियों में प्राप्त हैं।

रतिरण-सज्जा

रतिरण की सज्जा में दोनों पक्षों की चालें ही व्यूह हैं। दंत अधर नख, कटाक्ष कुच आदि काम-क्रीड़ा के अवयव ही अस्त्रशस्त्र हैं जिनका रतिरण में प्रयोग होता है। रतिरण की सज्जा का वर्णन सूर और व्यास ने बड़े उत्साह से किया है। नायिका के शृंगार का युद्ध-सेना से एक सुन्दर रूपक व्यास कवि ने दिया है। वे कहते हैं कि सुन्दर मन्द-मन्द की चाल ही रथ है। अंचल लाल घूँघट ध्वज और खुले हुए बाल ही काम-नृपति के चँवर हैं। दोनों कुच कठिन सुभट हैं वस्त्र ही कवच और लटें तलवार हैं। झाँझ किंकिन और नूपुर ही सेना के निशान हैं। नैन ही बाण हैं जो कि कान तक खिंचे हुए हैं। भौंहें धनुष हैं। दाँत ही शक्ति नख ही शूल हैं। कुच रथ हैं, सखी सारथी हैं। इनसे सुसज्जित दोनों रतिरण बीच युद्ध करते हैं।

(२८३-२९१)

रतिरण-वर्णन

रतिरण का वर्णन दो प्रकार के रूपकों द्वारा किया गया है। प्रथम रूपक राम-रावण युद्ध का है। डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने पद्मावत में 'रावन-रामा'

की व्याख्या करते हुए रावण का अर्थ पति तथा रामा का पत्नी लिया है। मेरा विचार है कि इसका अर्थ रावण और राम ही लेना चाहिए जिनके युद्ध से पत्नी पति की रति का स्वरूप व्यंजित किया था। इस रण का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है —

राम रावण के जैसे रण में सेज टूट गई। उसने लंका ले ली (पति ने कटि ग्रहण कर संभोग किया)। कंचनगढ़ टूट गया (पत्नी का कौमार्य भंग हो गया)। जितना शृंगार किया था सब लुट गया। उसका सबसस यौवन चूर-चूर हो गया। दोनों के बीच में जो विरह था वह प्राण लेकर भाग गया। अंग-अंग का सब शृंगार लुट गया। माँग छूट गई। केश खुल गए। कंचुकी के बंध चूर-चूर हो गए। हार टूट कर मोती बिखर गए। बालियाँ और सुन्दर टड्डे टूट गए। भुजबन्ध और कलाई के कंगन टूट गए। दृढ़ आलिंगन से अंगों पर लगा चंदन पुंछ गया। नाक की बेसर टूट गई और मस्तक का तिलक मिट गया। बाला ने यौवन के नवल वसंत में पुष्पों का जो शृंगार किया था पति ने हृदय में बरमने की भाँति लगाकर सब मींड डाला (११८)।

रतिरण का यह वर्णन सम नहीं है। इसमें नायक की केलि का ही संकेत है। नायिका की सक्रियता का उल्लेख नहीं है। वह रावण की भाँति पराजित है। इस रतिरण के वर्णन की दूसरी विशेषता यह है कि यह प्रथम समागम के अवसर का है। संभवतः इसी कारण से कवि ने नायिका को सक्रिय नहीं दिखलाया हो।

आगे चलकर षट्‌ऋतु के प्रसंग में नायिका अधिक प्रगल्भ हो गई है। वह रत्नसेन को रतिरण के लिए ललकारती है। अपनी शक्ति और सामर्थ्य का बखान करती हुई वह कहती है — "हे प्रियतम मैं नहीं जानती कि तुम्हारी प्रतिज्ञा की रेखा कहाँ लिखी है। पर मुझे अपने पिता की शपथ है आज युद्ध से पराङ्मुख होकर न जाऊँगी। कल की भाँति नहीं है। आज रावण की भाँति संग्राम करो। मैंने भी शृंगार का सैन्यदल सजा लिया है। हाथी की गति मेरे पास है। ध्वजा की फहरान मेरे अंचल में है। समुद्र की हिलोर मेरे नैनों में है। गरुड़ का रूप मेरी नासिका में है। युद्ध में मेरी तुलना में कौन टिक सकता है। मेरा नाम रानी पद्मावती है। सब गुण मैंने जीत लिए हैं। तेरा जैसा योगी जिसके योग्य हो उसके पास तू जा कर बराबरी कर।

पद्मावती की इस चुनौती पर रत्नसेन योग और शृंगार तथा शक्ति सभी पर अपना समान अधिकार बताते हुए कहता है कि मैं रावण की भाँति तुम पर विजय प्राप्त करूँगा। वह कहता है "सब जानते हैं मैं ऐसा योगी हूँ जिसने वीर और शृंगार दोनों रस जीत लिए हैं। वहाँ मैं शत्रुदल के सामने रहता था

यह तुम्हारे पार्श्व में जो काम का कटक-दल है उसके सामने हूँ। वहाँ कुपित होकर मैं बैरी दल का मर्दन करता था यहाँ अमृत रस पीने के लिए तुम्हारे अधर का खंडन करूँगा। वहाँ तो खड्ग से राजाओं को मारता था यहाँ तुम्हारी विरहाग्नि का संहार करूँगा। वहाँ तो केसरी बन कर हाथियों पर झपटता था यहाँ हे कामिनी तू मेरे सामने रक्षा के लिए हा-हा करेगी। वहाँ तो कटक और स्कंधावार का नाश करता था यहाँ तुम्हारे शृंगार को जीतूँगा। वहाँ तो हाथियों के गंड स्थल को पकड़ता था, यहाँ तुम्हारे कुच-कलशों पर हाथ चलाऊँगा।

पद्मावती और रत्नसेन इस प्रकार से राम-रावण रूपक से एक-दूसरे को युद्ध के लिए ललकारते हैं।

गढ़-विजय-रूपक

रतिरण का दूसरा रूपक गढ़-विजय का है। स्त्री के काम-गढ़ को नायक जीतता है। जिस प्रकार एक राजा शत्रु से अपने गढ़ की रक्षा करता है वैसे ही स्त्री अपने तन की कामदेव से रक्षा करती है। पुरुष साम दाम दंड और भेद से इस गढ़ को जीतकर उसके धन का अपहरण करता है। इस गढ़-विजय का सर्वोत्तम रूपक माधुरी-बानी में प्राप्त है। चतुर नृप कृष्ण का नायिका के गढ़ में प्रवेश ही नहीं हो पा रहा है। उन्होंने उसकी सखी को मिलाया तथा नायिका के चरणों पर पैर रख दिए। नायिका पसीजी। प्रवेश का अवसर पाते ही कृष्ण सभी प्रतिकूल अंगों को अपने अनुकूल बनाने लगे। साम दाम और भेद से प्रवेश कर कृष्ण दंड का प्रयोग करने लगे —

प्रिया देह गढ़ मांझ तें प्रकट बसायो मैन।
जब सर लाग्यो काम को, कुटिल भई सब सैन॥

करके लगे ते और कजरानि उठि काम के मिलन को न छोड़ रिस भाव है
ठौर हूँ गए हैं लोग कामि कछु मानत है तब मनमथ अधिक रिसायो है।
कोऊ लड़ कोऊ दंड बंधन सौं बाँधि राखे नृपति मन्मथ बस आपनो करायो है।
काहू सौं मिलाप कीनो काहू को सजीव दीनो कोऊ बाँह चोंपि धाम सुबस बसायो है।

निपट बाम गढ़ प्रिया तन, केहि विधि कियो प्रवेश।
चतुर देत चकर करसो अदभुत मनमथ नरेश॥

(माधुरीबानी पृ० १७-१८)

रतिरण-वर्णन

उपर्युक्त रूपकों द्वारा तथा सामान्य रूप से भी रतिरण का कवियों ने वर्णन किया है। कुछ कवियों ने ऊँची उड़ानें भरी हैं। रसलीन रसिक ने तो सराय रूपी

मुर्गों से चोंचें चलाने की कल्पना की है —

मारतु बैठि उरज मुरग गोलनि-चोंचनि संग ॥ (पृ० ४४)

श्याम कवि ने नख-दाँतों के प्रहार का उल्लेख किया है। सूर ने और भी अधिक विस्तृत वर्णन किया है। उनका एक ऐसा ही पद निम्नलिखित है —

दोऊ राजत रतिरन धीर।
महा सुभट प्रगटे भूतल वृषभानु-सुता बलबीर ॥
भौंह धनुष चढ़ाइ परस्पर, सजे कटाच्छ तनु तीर ॥
गुन न बान निमेष परत नहिं, छूटे कटाच्छनि तीर ॥
नख नेजा आकुस कर साजें भजु न मानत पीर ॥
मुरली बरनि डारि आयुध लौं रहे सुभग भट भीर ॥
प्रेम समुद्र छाड़ि मरजादा उमंगि मिले तजि तीर ॥
करत बिहार दुहूँ विधि तें मनु सींचत सुधा सरीर।
अति रस जोबन चाह रुचिर रचि मंथन सिंधु सम नीर ॥
सूरदास स्वामी अरु प्यारी, बिहरत कुंज कुटीर ॥ (२६०४)

विपरीत रतिरन

सामान्य संयोग के अतिरिक्त विपरीत संयोग में भी रतिरन का उल्लेख उपलब्ध है। इन विपरीत रतिरन वर्णनों में नायिका की क्रिया विदग्धता प्रदर्शित की गई है। ये वर्णन भी पूर्व वर्णनों के ही समान हैं।

जय-पराजय

रतिरन में दोनों ही वीर एक से एक बढ़कर हैं। किसकी विजय हुई और किसकी नहीं हुई, यह कहना बड़ा कठिन है। कहीं पर कामदेव की पराजय का उल्लेख है (सूर १०७६ आदि) और कहीं कृष्ण की। कृष्ण की हार के एक पद में कवि कहता है कि भयंकर रतियुद्ध में राधा ने पीन पयोधर हार नितंब आदि से अनेक प्रहार कर कृष्ण को दंडित किया और अंत में अपना दास बना कर छोड़ दिया —

आजु अति कोपे स्यामा-स्याम।
बीर बरन वृन्दावन दोऊ, करत सुरत-संग्राम ॥
कसनि कंचुकि-वर्म सुदृढ़ कुच अंगनि, सज करत्रान।
अंग-अंग चतुरंग सैन (बर) भूषन रव-दुंदुभि बाज ॥
धीर स्याम आगत बने निजु बिरदावलि प्रतिपाल।
चंचल चंचल भुजा-पताका (छबि)देत चमर बिकराल ॥
भौंह-धनुष तें छूटत चहुँ दिसि लोचन-बान बिसारे।
बरत हृदय-कपाटनि निरंघ, तोमर उरज पसारे ॥

दसन-सति, नख-सुमनि बरषति अधर कपोल बिदारे।
घूँघट, घुमी मुकुट, टोपा, कपनी, कछुक भये न्यारे॥
बीती जामनि, हारे मोहन, सुख संकट में घेरे।
पीन पयोधर, हार नितंब प्रहार किये बहुतेरे॥
प्रणय-कोप बोली कंतव अपराध किये तैं मेरे।
परम उदार व्यास की स्वामिनि छाँड़ि दिये करि चेरे॥

(व्यास, १८८)

कुछ भक्तों ने कृष्ण की विजय का उल्लेख किया है तो कुछ ने दोनों ही की विजय का संकेत किया है। दोनों की इस विजय का संकेत सफल पूर्ण आनन्ददायिनी रति है।

(ग) सुरतांत

जिस प्रकार संभोग का प्रारंभ संभोग-पूर्व क्रियाओं के द्वारा होता है उसी प्रकार संभोग की समाप्ति सुरतांत से होती है। इसके अंतर्गत संभोगजन्य शिथिलता, सुख और आनन्द की अनुभूति आती है। इस सुरतांत के दो उपांग हैं —

बाह्य पक्ष—इसके अंतर्गत सफल संभोग की अभिव्यक्ति करनेवाले समस्त रति-चिह्नादि आते हैं।

आंतरिक पक्ष—इसमें दंपति द्वारा अनुभूत सुख संतोष एवं प्रेम-वृद्धि का उल्लेख होता है।

भक्त कवियों ने सुरतांत के इन दोनों अंगों का उल्लेख किया है।

बाह्य पक्ष

सुरतांत के बाह्य अंगों में रति-क्रिया को व्यक्त करनेवाले एवं उसकी सफलता की सूचना देनेवाले सभी संकेत आते हैं। इनमें से प्रमुख वस्त्रों का मृदित होना, शृंगार का बिखरना, प्रस्वेद नख-क्षत-दंतादि रति-श्रम आदि आते हैं। इनके द्वारा ही परिजन सफल रति का अनुमान करते हैं। इन्हें देखकर सखियाँ नायिका के भाग्य की सराहना करती हैं, और उसे चिढ़ाती भी हैं।

सुरतांत के वर्णनों में वस्त्रों के मृदित होने का वर्णन कृष्ण-काव्य में बहुत अधिक है। अन्य साहित्य में इसका अभाव है। इस वर्णन में अंगिया के बंदों के टूटने का भी वर्णन है। नायक के वस्त्रों में उसकी पाग के लटपटाने का ही वर्णन मिलता है। कभी-कभी प्रातःकाल की हड़बड़ी में नायक-नायिका के वस्त्र बदल भी जाते हैं। वस्त्रों के बदलने का ऐसा ही एक संकेत श्री दामोदर स्वामी की निम्नलिखित पंक्तियों में है —

नयन लाल पीक प्रातहि आये ।
पहानि पर पुत्र दिये सुभग छवि मन मिला मधुरापे ।
मीस-पीव पर पलकें भुवप आलस धुत रस पागे ॥ आदि

वस्त्रों के मुद्रित होने साथ-साथ कुछ आभूषणों के टूटने का वर्णन भी सुरतांत में होता है । ये आभूषण अधिकतर माला और क्षुद्र घंटिका हैं । माला टूटने का उल्लेख बहुत अधिक है ।

सुरतांत के प्रदर्शक रति-चिह्नों के अंतर्गत आलिंगन चुंबन नख-दंत-क्षत और मर्दन के चिह्न आदि आते हैं । इनके अतिरिक्त जावक और पीक चिह्नों द्वारा भी सभाव का संकेत होता है । सुरतांत का एक ऐसा ही उदाहरण निम्न लिखित है —

आजु पिय के संग जागी रात ।
दुरति न चोरी कुँअरि किसोरी कीन्हें परस पात ॥
पुलकित कंपित गातनि संकित बात कहत तुतरात ।
जावक पीक मची रंग रंगित, सारी स्वेत चुचात ॥
छूटी चिकुर चंद्रिका उरजनि पर लटकति लर-मोत ।
मानहुँ गिरवर कंचन ऊपर, मेघ घटा घुरवात ॥
खंडित अधर पीक पलकनि पर, लोचन अलस जँभात ।
हुलस चकोर नैन चित चौपत चंप भोर ऐंडात ॥
कहा-कहा रति बरनी केशव, फूली अंग न मात ।
बेगि देखाउ बहुरि वह कौतिक व्यास दास अकुलात ॥ (व्यास, ११८)

रति-शैथिल्य आलस्य और प्रस्वेद का भी इसी प्रसंग में वर्णन हुआ है । यह वर्णन सभी कवियों ने किया है । आलस्य के एक ऐसे ही वर्णन में सखी कहती है 'यह कौन सी अनोखी बान पड़ी है । जैसे-जैसे सवेरा होता है वैसे ही चादर तानते जाते हो । अब आलस्य तजो । रात्रि बीत गई । महावाणीकार हरिव्यास देवाचार्य का यह पद निम्नलिखित है —

आरस तजिये आज बलि सखी सुपहरी होत ।
ज्यों-ज्यों पौढ़त तानि पट बानि परी यह कौन ॥

× × ×

परी बलि कौन अनोखी बानि ।
ज्यौं-ज्यौं भोर होत है त्यौं-त्यौं पौढ़त हो पट तानि ॥
आरस तजहु बरजाई उठई गई निसा रति मानि ।
श्री हरि प्रिया प्रानधन जीवन सकल सुखन की खानि ॥

(महावाणी ११)

केलि के उपरांत नायक-नायिका अपना पुनः शृंगार करते हैं। कभी नायक नायिका का शृंगार करता है तो कभी नायिका स्वयं ही अपना शृंगार करती है। कभी-कभी सखियाँ भी राधा का शृंगार करती हैं। सूरदास ने राधा द्वारा स्वयं का शृंगार करते हुए बतलाया है कि सुरत-संग्राम में प्रयुक्त अपने विभिन्न अंगों को वे भाँति-भाँति के उपहार देती हैं —

बहुरि फिरि राधा सजति शृंगार।
मनहुँ देति पहिरावनि अँग, रन जीते सुरत अपार॥
कटि तट सुभटहिं देति रसना पट, भुज भूषन, उर हार।
कर कंकन आभार, मन्मथहि, दीन्हीं तिलक लिलार॥
बीरा बिहँसि देति अधरनि कौं सम्मुख सहे प्रहार।
सूरदास प्रभु के जु बिमुख भए, बाँधति कायर बार॥

आंतरिक प्रेम (सूर, २८०१)

सुरतांत के आंतरिक अंगों के अंतर्गत रसप्लावन की मस्ती, सुख और संतोष तथा प्रेम की प्रगाढ़ता का उल्लेख होता है। इन उल्लेखों में कृष्ण राधा पर रीझते हैं तथा राधा कृष्ण पर रीझती है। कृष्ण राधा पर रीझकर समस्त उपमानों को उनके अंगों पर न्योछावर कर डालते हैं। (सूर २७५१)। राधा भी कृष्ण ऐसे प्रिय को कृपण की भाँति रखती है। कभी-कभी सुरतांत में रति-संतोष से भर कर दोनों एक-दूसरे को अंक में भर कर आनन्दानुभूति करते हैं। सूर का एक ऐसा ही पद निम्नलिखित है —

हरि हँसि भामिनी उर लाइ।
सुरत अंत गोपाल रीझे, जानि अति सुखदाइ॥
हरषि प्यारी अंक भरि, पिय रही कंठ लगाइ।
हाव-भाव, कटाक्ष लोचन कोक-कला सुभाइ॥
देति हासा पतिहिं कोमल मुख निरखि मुसुकाइ।
सूर प्रभु रति-पति के नायक राधिका समुहाइ॥ (सूर १३०८)

(घ) क्रीड़ा-विलास

संयोग-शृंगार विभिन्न क्रीड़ा विलास के द्वारा नित्य नवीन रूप धारण करता रहता है। नायक और नायिका अपनी-अपनी सखियों के साथ नित नवीन क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। इन क्रीड़ाओं का विस्तार केवल कृष्ण-साहित्य में ही हुआ है। ये क्रीड़ाएँ पुष्पों में दर्पण दिखाने में मुरली की छीना-झपटी में और आँखमिचौनी में होती हैं। मुरली की छीना-झपटी उसे बजाना सीखने का खेल

नवल लाल दोउ प्रातहिं आये ।
प घनि घर मुख दिये चुंबन छबि नैन निसा अनुरागे ।
नील-पीत पट पलटे भूषन आलस घूत रस पागे ॥ आदि

वस्त्रों के नुचित होने साथ-साथ पुष्प आभूषणों के टूटने का वर्णन भी सुरतांत में होता है । ये आभूषण अधिकतर माला और क्षुद्र घंटिका हैं । माला टूटने का उल्लेख बहुत अधिक है ।

सुरतांत के प्रदर्शक रति-चिह्नों के अंतर्गत आलिंगन-चुंबन नख-दंत-क्षत और मर्दन के चिह्न आदि आते हैं । इनके अतिरिक्त जावक और पीक चिह्नों द्वारा भी समाव का संकेत होता है । सुरतांत का एक ऐसा ही उदाहरण निम्न लिखित है —

आजु पिय के संग जागी रात ।
सुरति न थोरी कुंवरि किसोरी कीन्हें परस गात ॥
पुलकित कंपित गातनि स्वेदित जात अकुल तुतरात ।
जावक पीक मसी रंग रंजित सारी स्वेत सुहात ॥
छूटी चिकुर चंद्रिका उरजनि पर लटकति लर-मोत ।
मानहुं गिरवर कंचन ऊपर, मेघ घटा घुरवात ॥
खंडित अधर पीक पंकनि पर, लोचन अलस जँभात ।
हँसत झकोर देत चित चोरत सब ओर पुँछात ॥
कहा-कहा रति करनी बैनन फूली अंग न मात ।
वेगि वेदाउ बहुरि यह मौतिक व्यास दास अकुलात ॥ (व्यास, ११८)

रति वैचित्र्य आलस्य और प्रस्वेद का भी इसी प्रसंग में वर्णन हुआ है । यह वर्णन सभी कवियों ने किया है । आलस्य के एक ऐसे ही वर्णन में सखी कहती है 'यह कौन सी अनोखी बान पड़ी है । जैसे-जैसे सवेरा होता है वैसे ही चादर तानते जाते हो । अब आलस्य तजो । रात्रि बीत गई । महावाणीकार हरिव्यास देवाचार्य का यह पद निम्नलिखित है —

आरस तजिये वारौं अलि लगी भुरहरी होन ।
ज्यों-ज्यों ओढ़त तानि पट बानि परी यह कौन ॥

× × ×

परी अलि कौन अनोखी बानि ।
ज्यों-ज्यों भोर होत है त्यों-त्यों ओढ़त हो पट तानि ॥
आरस तजहु अरुनई उदई गई निसा रति जानि ।
श्री हरि प्रिया प्राणधन जीवन सकल सुखन की खानि ॥

(महावाणी ११)

केलि के उपरांत नायक-नायिका अपना पुनः शृंगार करते हैं। कभी नायक नायिका का शृंगार करता है तो कभी नायिका स्वयं ही अपना शृंगार करती है। कभी-कभी सखियाँ भी राधा का शृंगार करती हैं। सूरदास ने राधा द्वारा स्वयं का शृंगार करते हुए बतलाया है कि सुरत-संग्राम में प्रयुक्त अपने विभिन्न अंगों को वे भाँति-भाँति के उपहार देती हैं —

> बहुरि किये राधा बनति शृंगार।
> मनहुँ देति पहिरावनि अंगन रन जीते सुरत अपार॥
> कटि तट सुभगहिं देति रसन पट भुज भूषन, उर हार।
> कर कंकन काजर नकबेसरि, दीन्हों तिलक लिलार॥
> बीरा दिए देति अधरनि कौं सन्मुख सहे प्रहार।
> सूरदास प्रभु के जु विमुख भए, बाँधति कायर बार॥

आंतरिक पक्ष (सूर, १८०१)

सुरतांत के आंतरिक अंगों के अंतर्गत रसास्वादन की मस्ती, सुख और संतोष तथा प्रेम की प्रगाढ़ता का उल्लेख होता है। इन उल्लेखों में कृष्ण राधा पर रीझते हैं तथा राधा कृष्ण पर रीझती हैं। कृष्ण राधा पर रीझकर समस्त उपमानों को उनके अंगों पर न्योछावर कर डालते हैं। (सूर २७२१)। राधा भी कृष्ण ऐसे प्रिय को कृपण की भाँति रखती है। कभी-कभी सुरतांत में रति-संतोष से भर कर दोनों एक-दूसरे को अंक में भर कर आत्मानुभूति करते हैं। सूर का एक ऐसा ही पद निम्नलिखित है

> हरि हँसि भामिनी उर लाइ।
> सुरत-अंत गोपाल रीझे, जानि अति सुखदाइ॥
> हरषि प्यारी अंक भरि, पिय रही कंठ लगाइ।
> हाव-भाव, कटाच्छ लोचन, कोक-कला सुभाइ॥
> देखि बदन प्रतिबिंब कोमल, मुख निरखि मुसुकाइ।
> सूर प्रभु रति-पति के नायक, राधिका समुदाइ॥ (सूर २६०८)

(घ) क्रीड़ा-विलास

संयोग-शृंगार विभिन्न क्रीड़ा-विलास के द्वारा नित्य नवीन रूप धारण करता रहता है। नायक और नायिका अपनी-अपनी सखियों के साथ नित नवीन क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। इन क्रीड़ाओं का विस्तार प्रायः कृष्ण-साहित्य में ही हुआ है। ये क्रीड़ाएँ पुरुषों से रूप छिपाने में मुरली की लीला-माधुरी में और आँखमिचौनी में होती हैं। मुरली की लीला-माधुरी

शृंगार का एक पद उदाहरणार्थ नीचे दिया जा रहा है। इसीमें
की क्रीड़ा का भी उल्लेख है —

मुरली लई कर तें छीनि।
ता समय छबि कही जाति न, चतुर नारि नवीन॥
चहुति पुनि-पुनि स्याम मांगें मोहि देहु सिखाइ।
मुरलि पर मुख जोरि दोऊ, परस-परस बजाइ॥
कृष्ण मुरत भाव उघरत प्यारि रिस करि गात।
बार बारहिं अधर धरि-धरि बजति नहिं अकुलात॥
प्रिया-भूषन स्याम पहिरत स्याम भूषन नारि।
सूर प्रभु करि मान बैठे तिय करति मनुहारि॥

(सूर, २७१२)

जलक्रीड़ा

संभोग क्रीड़ा-विलास में जल क्रीड़ा अति महत्वपूर्ण है। ब्रज के जीवन में यमुना का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है और ब्रजवासियों की अनेकानेक क्रीड़ाएँ यमुना को केन्द्र मान कर हुई हैं। यमुना-पुलिन पर ही रास की रचना हुई थी और यमुना के जल में ही अनेक बार कृष्ण और गोपियों ने जल क्रीड़ा की होगी। लगभग सभी कृष्ण-कवियों ने विविध रूपों में जल-क्रीड़ा का उल्लेख किया है।

जल क्रीड़ा प्रसंग में माधुरीजी ने यमुना के अन्दर ही एक महल की कल्पना कर ली है जिसमें जाकर राधा-कृष्ण केलि करते हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने नौका-विहार का भी उल्लेख किया है। वल्लभ रसिक ने यमुना के स्थान पर सरोवर में जल क्रीड़ा का वर्णन किया है। सूरदास ने यमुना में ही स्वाभाविक जल क्रीड़ा का उल्लेख किया है जिसमें राधा-कृष्ण और गोपियाँ जल में खेल करती हैं। इनके उल्लेख कृष्ण-साहित्य में सर्वत्र उपलब्ध हैं।

हिंडोल-क्रीड़ा

संभोग-शृंगार में दूसरी महत्वपूर्ण क्रीड़ा हिंडोल-क्रीड़ा है। इस क्रीड़ा में राधा-कृष्ण के झूला झूलने का तथा संभोग का भी वर्णन है।

हिंडोल के सामान्य वर्णन में राधा-कृष्ण का झूले पर बैठकर झूलना है। सूरदास ने इसके एक प्रसंग में विश्वकर्मा द्वारा दिव्य हिंडोल के निर्माण का उल्लेख किया है।

हिंडोल के शृंगारिक वर्णन में झूला झूलते हुए नायक-नायिका में कामोद्दीपन होने का वर्णन होता है। कृष्ण वर्जित किए जाने पर भी चुंबन-परिरंभण करते हैं और कंचुकी तथा नीवि के बंध खोलने लगते हैं। हिंडोल की यह क्रीड़ा

वर्षा ऋतु और होली पर होती है। सूर और व्यास आदि कवियों ने इसका वर्णन किया है।

होली

होली का त्योहार भारतीय त्योहारों में सबसे रंगीन, रोचक और कामोत्तेजक है। इसमें मर्यादा के समस्त बन्धन टूट जाते हैं। उन्मत्तता का साम्राज्य-सा छाया रहता है। कृष्ण भक्तों ने भी इस होली का बड़े उत्साह से वर्णन किया है। वसंत से ही इसकी तैयारियाँ होने लगती हैं। सर्वत्र रंग ही रंग दृष्टिगोचर होता है। धर-पकड़ में हार वस्त्र आदि छूट जाते हैं। आनन्द का सागर उमड़ आता है। सब रस-मग्न हो जाते हैं। कोई बुरा नहीं मानता है। होली का एक ऐसा ही वर्णन कुम्भनदास द्वारा किया गया है —

होरी को है औसर जिनि कोऊ रिस मानें।
काहू को हार तोरैं, काहू की चूरी फोरैं,
काहू की लुगी लै भाजैं सब अचानक।
काहू कों पिचकाई नैननि तकि तानें॥
काहू को नकबेसरि पकरि काहू की चोली
काहू की बेनी गहै सब कंचुकी मसकि तानें।
'कुंभनदास' प्रभु इहि विधि खेलत,
गिरधर पिय सब रंगु जाने (७५)

वल्लभ रसिक ने होली के वर्णन में राधा कृष्ण के शृंगार का और दोनों के संयोग का वर्णन किया है। माधुरीजी ने राधा की सखियों द्वारा कृष्ण के विपरीत शृंगार का तथा यशोदा के पास उन्हें उनकी बहू बनाकर ले जाने का उल्लेख किया है। इसी प्रकार के हास-परिहास का वर्णन सूर ने भी किया है।

अन्य क्रीड़ाएँ

इन प्रमुख क्रीड़ाओं के अतिरिक्त रास, नृत्य, अक्षय तृतीया, दान, फूल शृंगार आदि अन्य अनेक अवसर क्रीड़ा-विलास के हैं। ऐसे सभी अवसरों का राधा-कृष्ण भरपूर उपयोग करते हैं। सभी कृष्ण-भक्तों ने इनके वर्णन किए हैं।

(क) संयोग का साहित्य-शास्त्रीय स्वरूप

साहित्य-शास्त्रियों ने संयोग शृंगार के भेद-प्रभेदों की गणना अनावश्यक बतलाई है। फिर भी विप्रलंभ के विभिन्न रूपों का आधार लेकर उनके अनन्तर होने वाले संयोगों की पूर्वरागानन्तर संयोग, मानानन्तर संयोग, प्रवासानन्तर संयोग

और करुणविप्रलंभानन्तर संभोग माना है। इनमें क्रम से रागात्मकता बढ़ती जाती है।

गौड़ीय वैष्णव साहित्य-शास्त्रियों ने उपर्युक्त भेदों का भिन्न नामों से स्वीकृत किया है। उन्होंने पूर्वरागानन्तर संभोग को संक्षिप्त संभोग कहा है। प्रथम मिलन के कारण इसमें लज्जा विशेष होती है अतएव इसे संक्षिप्त संभोग की संज्ञा दी गई है। इस मिलन के अवसर और स्थल बाल्य क्रीड़ा वाणी-दोहन गोष्ठ इत्यादि हैं। मानानन्तर संभोग को संकीर्ण संभोग कहा जाता है। इसमें मान के कारण उद्भूत दुःख की स्मृति शेष रह जाती है। अतः मिलन का आनन्द पूर्ण नहीं होता है। इसके अवसर और स्थल रास जलक्रीड़ा कुंज दान वंशी चोरी नौका-विहार आदि हैं। प्रवास के अनन्तर होनेवाले संभोग को समृद्धिमान संभोग कहते हैं। यह मिलन स्वप्न या कुरुक्षेत्र में होता है। वैष्णव-साहित्य में करुण विप्रलंभानन्तर संभोग का क्रम प्राप्त नहीं है। करुण स्थिति की स्वीकृति न होने के कारण यह संभव भी नहीं है। इसके स्थान पर वैष्णव साहित्य-शास्त्रियों ने 'प्रेम-वैचित्त्य' की दशा को स्वीकार करके उसके बाद होनेवाले संभोग को सम्पन्न की संज्ञा दी है। इसके अवसर सुदूरागत दर्शन दोल होली वसंत द्यूत-क्रीड़ा झूलन इत्यादि हैं।

हिन्दी भक्त-कवियों ने सामान्यतः गौड़ीय-वैष्णव-साहित्य-शास्त्र का आधार नहीं लिया है। उनकी रचनाएँ इस दृष्टि से नहीं की गई हैं। उन्होंने स्वाभाविक रूप से विप्रलंभ का वर्णन किया है। इन वर्णनों के बीच-बीच में स्वाभाविक ढंग से संभोग का भी वर्णन आया है। अन्यथा उपर्युक्त रूप भक्ति-शृंगार में मिल जाएँगे पर इस ओर उनका झुकाव नहीं था।

ज्ञानाश्रयी और रामाश्रयी शाखा के शृंगार में इन रूपों का अभाव है। सूफी शाखा में प्रायः संक्षिप्त और समृद्धिमान संभोग ही प्राप्त है। मान और प्रेम-वैचित्त्य के अभाव के कारण इस शाखा में संकीर्ण और संपन्न संभोग का वर्णन नहीं है।

संक्षिप्त संभोग का वर्णन पद्मावत में पद्मावती रत्नसेन भेंट खंड और षट्ऋतु वर्णन में, चित्रावली में कौलावती-विवाह खंड, चित्रावली-विवाह खंड और कौलावती भवन खंड में तथा मधुमालती में मधुमालती जागी भाव खंड ब्याह खंड और पेमा-ब्याह खंड में है।

समृद्धिमान संभोग का वर्णन इस साहित्य में कम है क्योंकि मुख्य प्रवास इस साहित्य में नायकों के संबंध में बताया अवश्य नहीं है। इसलिए चित्तौड़ आगमन खंड के अन्तर्गत नागमती रत्नसेन का मिलन समृद्धिमान संभोग का अंग है।

इसका अत्यल्प और सांकेतिक वर्णन ही कवि ने किया है। समृद्धिमान संभोग का एक अन्य अवसर बंधन-मोक्ष खंड में है। अलाउद्दीन के यहाँ से मुक्त होकर पद्मावती-रत्नसेन की क्रीड़ा इसीके अन्तर्गत आएगी। इस संभोग का भी संकेत मात्र है।

कृष्ण-साहित्य इतना विशाल है और कृष्ण की लीलाएँ इतनी विविध हैं कि उनमें संभोग के सभी शास्त्रीय रूप मिल सकते हैं। किन्तु इस साहित्य के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तों ने संभोग-वर्णन में साहित्य-शास्त्रीय आधार न लेकर काम-शास्त्रीय आधार लिया है।

कृष्ण-साहित्य का अधिकतर संभोग-वर्णन संक्षिप्त संभोग के अन्तर्गत आएगा। यथार्थ में मान और प्रेम-वैचित्र्य तथा प्रवास के कुछ पदों को छोड़कर शेष सभी पद संक्षिप्त संभोग के ही हैं। प्रथम समागम, गोदोहन, आसक्ति लीला आदि प्रसंग इसीके अन्तर्गत आएँगे। किशोर-किशोरी की नित्य-लीला को यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से इसी भेद के अन्तर्गत स्थान देना होगा किन्तु उस संभोग में जो निश्चिन्तता, अबाधता एवं तन्मयता है वह उस संक्षिप्त संभोग की सभी से ऊपर उठनेवाली है। यथार्थ में राधावल्लभ, सखी आदि सम्प्रदायों के नित्य संभोग को संभोग के शास्त्रीय भेदों से परे ही रखना पड़ेगा। वह तो एक 'अखंड संभोग' है।

मान की योजनाएँ वल्लभ-सम्प्रदाय में ही अधिकतर प्राप्त हैं और इसी कारण संकीर्ण संभोग इस साहित्य में बड़ी मात्रा में उपलब्ध है। अष्टछाप के कवियों ने रासलीला, दानलीला, नौकाविहार लीला, जल तथा स्नान क्रीड़ा, कुंज-लीला आदि में इसका वर्णन किया है। इस संभोग-वर्णन में मान-मनौवल, हास-परिहास, छल-कपट, वेश-परिवर्तन आदि अनेक क्रीड़ाएँ आती हैं।

समृद्धिमान संभोग मात्रा में सबसे कम है। कृष्ण के प्रवास के बाद गोपियों से मिलने का वर्णन अष्टछापी कवियों में ही है। यह भेंट कुरुक्षेत्र में हुई थी। इस भेंट में शृंगारिकता कम, प्रिय-दर्शन जनित विह्वलता अधिक है।

समृद्धिमान संभोग का दूसरा रूप स्वप्न-संभोग में है। प्रिय की स्मृति के फलस्वरूप नायिका स्वप्न में प्रिय का दर्शन करती है। इसका अत्यल्प उल्लेख हुआ है।

कृष्ण-साहित्य में सम्पन्न संभोग के अनेक स्थल हैं पर इसका विस्तृत वर्णन नहीं है। अनुराग में प्रेम वैचित्र्य की स्थिति अल्पकालिक ही हो सकती है। इसीसे इसका विशद विस्तार संभव नहीं है। बसन्त-लीला, होली-लीला, रास-लीला, झूलन लीला और पूर्णिमा आदि के प्रसंग इसके हैं।

सब कुछ होते हुए भी जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संभोग का साहित्य-शास्त्रीय रूप महत्त्वपूर्ण नहीं है। जो कुछ भी संभोग-वर्णन हुआ है वह इससे स्वतन्त्र है। उसमें काम की अबाध धारा बहती है। उसमें राग की गंभीरता भावना की तीव्रता और वासना की अतिशयता है। संपूर्ण संभोग-वर्णन अति सघन विविध और उत्कृष्ट है।

नवम अध्याय

भक्ति-शृंगार में विप्रलम्भ-वर्णन

हिन्दी भक्ति-शृंगार में विप्रलंभ अपनी उत्कृष्टता और विस्तार दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। भक्ति-शृंगार के नाम से अधिकतर इसीका हिन्दी जगत में अध्ययन हुआ है। यह विप्रलंभ पूर्वराग मान प्रवास और करुण विप्रलंभ इन चार रूपों में व्यक्त हुआ है। प्रस्तुत अध्ययन में इस शृंगार का इन अंगों के अन्तर्गत विश्लेषणयुक्त अध्ययन न कर भक्ति की चार प्रमुख धाराओं के अन्तर्गत संपूर्ण विप्रलंभ का अध्ययन किया जाएगा। यही सुविधा जनक और विप्रलंभ के संश्लिष्ट रूप को अभिव्यक्त करनेवाला होगा।

ज्ञानाश्रयी धारा

ज्ञानाश्रयी धारा में उपलब्ध-शृंगार में विप्रलंभ ही महत्त्वपूर्ण है। इस विप्रलंभ में भी विरह-वेदना का ही विशेष चित्रण है। कबीरदास ने पूर्वराग, मान और प्रवास का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इनके संकेत ही यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

पूर्वराग

भक्त का ईश्वर से प्रेम गुरु-कृपा से होता है। इस रूप में सन्तों का पूर्व राग गुरु-श्रवण द्वारा माना जाएगा। शिष्य के ये गुरु-कथन अथवा गुरु के ये वचन नुकीले तीर की भाँति होते हैं जोकि संत के हृदय में घाव कर देते हैं। इस पूर्वराग की पीड़ा को वही जानता है जो कि स्वयं भोगी होता है।

संतों के प्रेम का विकास सामान्य पूर्वराग से नहीं होता है। वह तो गुरु-कृपा से आत्म-ज्ञान के किसी एक क्षण में एकाएक प्रज्वलित हो उठता है। [illegible] सम्बंध एक दम से पति-पत्नी रूप में होता है। प्रिय का आगमन पति रूप में होता है। इसीलिए इस साहित्य में शुद्ध पूर्वराग का अभाव मानना चाहिए।

इस साहित्य में मान का पूर्ण अभाव है।

इस धारा में प्रेम का जो स्वरूप स्वीकृत है उसमें विरह की स्थिति स्वाभाविक है। निर्गुण ब्रह्म साधना की चरमावस्था में ही प्राप्त हो सकता है। साधना की यह उच्च स्थिति क्षणिक ही हो सकती है। अतः इसमें मिलन भी क्षणिक ही होगा और उसके बाद विरह ही विरह रह जाता है। इस विरह की अभिव्यक्ति प्रवास के अन्तर्गत की जा सकती है पर वह बहुत समीचीन नहीं है। यह विरह की वेदना वियोगजन्य है बस इतना ही कहा जा सकता है।

कबीर ने विरह की साखियों में कहीं-कहीं प्रवास का संकेत अवश्य किया है। प्रवास का सुन्दर संकेत निम्नलिखित दोहे में है —

बिरहिनि ऊभी पंथ सिरि पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहु पीव का कबर मिलैंगे आइ॥

(कबीर ग्रन्थावली विरह को अंग ५)

विरह के अन्य प्रसंगों में विरह की तीव्र पीड़ा एवं काम की अनेक दशाओं की अभिव्यंजना है। निर्गुण ब्रह्म के प्रति होते हुए भी यह अति स्वाभाविक एवं शृंगार से परिपूर्ण है। इस विरह में कबीर का नारी रूप अत्यन्त मुखरित हुआ है।

विरह की स्थिति में हँसना बोलना एवं चंचलता नष्ट हो गई है। इस स्थिति में न दिन में चैन न रात में सुख मिलता है। विरह स्वप्न में भी पीड़ित करता रहता है। नायिका प्रिय से कहती है तुमसे मिलने के लिए मन तरसता है। मैं कितने दिनों से बाट जोह रही हूँ। तुम्हारे दर्शन के बिना मन को विश्राम नहीं है। विरह में समागम की तीव्र अभिलाषा उठती है। वह प्रिय से कहती है 'प्रिय कब तुम आकर मुझसे अंग से अंग लगा कर मिलोगे मेरी अभिलाषा पूरी करोगे।' अपनी पीड़ा की उपमा चातक की प्यास से देती हुई वह कहती है 'जिस प्रकार चातक स्वाति नक्षत्र के जल का प्यासा होता है वैसे ही मैं भी प्रिय-दर्शन की व्याकुल दिन रात उदास रहती हूँ। विरहिणी के शरीर में विरहाग्नि का वज्र प्रज्वलित रहता है। उसका सारा शरीर जर्जर हो जाता है। प्रिय का पंथ निहारते-निहारते उसकी आँखों में झाँई पड़ गई है प्रिय का नाम पुकारते-पुकारते जीभ में छाला पड़ गया है। उसका शरीर घुन लगे काठ का-सा हो गया है। वह न तो जीती है और न मर पाती है। उसे राम दर्शन या मृत्यु की कामना है। वह धीरे धीरे मृत्युगामी लगती है। अपनी मृत्यु निकट जानकर वह प्रिय से कहती है अब तो मृत्यु निश्चित है। हे प्रिय! अब भी मिलो। मरने के बाद मिलने से क्या लाभ होगा।

कबीर के इस विरह-वर्णन में विरहिणी की मानसिक और शारीरिक दशा का ही वर्णन नहीं है, बल्कि प्रेम की वह तीव्र व्याकुलता भी व्यंजित है जिसमें मिलनेच्छा अपने सुन्दरतम रूप में अभिव्यक्त होती है।

इस साहित्य में विप्रलंभ का विस्तृत वर्णन नहीं है, पर जो कुछ भी है वह अपनी तीव्रता, भावना की गम्भीरता एवं मधिमा में अद्वितीय है।

प्रेमाश्रयी शाखा

प्रेमाश्रयी शाखा में विप्रलंभ की विशेष महत्ता है। इस महत्ता का कारण सूफ़ी दर्शन है। निर्गुण परमात्मा से इस शरीर द्वारा मिलन तो क्षणिक ही होगा। उसके बाद का सारा जीवन तो प्रेम की पीर से भर जाएगा। इसी पीर की व्यंजना स्थान-स्थान पर सूफ़ी-साहित्य में हुई है। प्रेम की यह पीर पूर्वराग और प्रवास-विरह के रूप में मिलती है। और उसमें भी पूर्वराग-विरह ही इसका मुख्य केन्द्र है। पद्मावत में नागमती का विरह प्रवास जन्य है और उसमें तीव्र विरह की अभिव्यक्ति भी है किन्तु फिर भी जायसी का इष्ट नागमती का विरह इतना नहीं है जितना कि रत्नसेन और पद्मावती का पूर्वराग। इस शाखा के अन्य कवियों में तो विरह बड़े अंश में केवल पूर्वराग में ही प्राप्त है अन्यत्र नहीं।

पूर्वराग की सीमा

इस शाखा में प्राप्त अधिकतर विरह पूर्वराग का है इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए आवश्यक है कि पूर्वराग की सीमा निश्चित कर दी जाए। सामान्यतः मिलन के पूर्व तक की स्थिति पूर्वराग के अंतर्गत आती है। पर प्रश्न यह है कि मिलन क्या है? क्या स्वप्न मिलन, इन्द्रजाल-मिलन, सखियों के प्रयत्न से साम्य क्षणिक मिलन तथा संभोगहीन विवाह यथार्थ मिलन हैं? इस साहित्य में नायक-नायिकाओं के मिलन इस प्रकार के भी हुए हैं। यदि ये यथार्थ मिलन हैं तो इनके साथ ही साथ पूर्वराग की स्थिति समाप्त मान लेनी चाहिए। इनके बाद का विरह पूर्वरागानन्तर प्रवास विरह होगा। यदि ये यथार्थ मिलन नहीं हैं तो यह विरह पूर्वराग विरह ही कहलाएगा।

उपर्युक्त में स्वप्न-मिलन कोई मिलन नहीं है। इन्द्रजाल द्वारा मिलन सच्चा तथा संभोग-पूर्ण होता है किन्तु वस्तुतः में स्वप्नवत होने के कारण इसमें प्रेम का बीजारोपण मात्र ही होता है। यह पूर्वराग की समाप्ति पर मिलन न होकर उसके प्रारम्भ का मिलन होता है सखियों के प्रयत्न से क्षणिक मिलन भी यथार्थ मिलन नहीं है। वह मिलन तो पूर्वराग को दर्शन द्वारा पुष्ट करने वाला है। इस मिलन के साथ भी पूर्वराग की समाप्ति नहीं होती है वह और अधिक दृढ़ ही होता है। अंतिम संभोग-विहीन विवाह का प्रश्न अधिक जटिल

मोहित हो जाती है। इस प्रकार से इन्द्रजाल के अन्दर चित्र-दर्शन द्वारा दोनों में पूर्वरागोदय होता है।

(२) प्रत्यक्ष-दर्शन

इन्द्रजाल के अन्तर्गत प्रत्यक्ष-दर्शन द्वारा पूर्वरागोदय मंझन ने मधुमालती में दिखलाया है। उसकी कथा इस प्रकार से है —

कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर को एक बार अप्सराएँ सोते में उठा ले गईं और महारास नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी में रख आईं। वहाँ जागने पर दोनों की भेंट होती है और वे परस्पर मोहित हो जाते हैं। दोनों के सो जाने पर अप्सराओं ने पुनः मनोहर को उसके यहाँ पहुँचा दिया। प्रातः जागने पर दोनों को रात्रि की घटना स्वप्नवत लगी पर जब उन्होंने एक-दूसरे की दी गई सहिदानियाँ देखीं तो उन्हें घटना की सत्यता पर विश्वास हुआ। दोनों के हृदय में एक-दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ।

सूफी-साहित्य में इस प्रकार पूर्वराग की उत्पत्ति यथेष्ट विविध रूप में हुई है। भक्ति साहित्य में इतनी विविधता सम्भव नहीं है।

पूर्वराग में प्रथम दर्शन का प्रभाव

पूर्वराग में प्रथम-दर्शन का प्रभाव इस साहित्य में बड़े विलक्षण रूप में व्यक्त किया गया है। नायक के पक्ष में इसमें बड़ी एकरूपता है। नायक-नायिका को देखते ही मूर्च्छित हो जाता है। उसमें काम की ज्वाला दहक उठती है। काम की अनेकानेक दशाएँ उसमें प्रकट हो जाती हैं। इसके विपरीत नायिकाएँ प्रथम दर्शन से प्रभावित तो होती हैं पर उनमें अधिक धैर्य और दृढ़ता है। धैर्य और दृढ़ता का यह प्रदर्शन मधुमालती में सबसे अधिक है। मधुमालती नायक मनोहर को देखकर मुग्ध होकर चुप-चुप नहीं बैठी रहती है। वह उससे अनेकानेक प्रश्न कर अपनी जिज्ञासा की शान्ति करती है। इससे पता चलता है कि इस साहित्य में नायक अधिक संवेदनशील है।

पूर्वराग का विकास

सूफी-साहित्य में पूर्वराग का विकास ही सबसे महत्वपूर्ण है। साधना की दृष्टि से भी इसी में सूफी धर्म का सार्वभौमिक रूप प्रकट होता है और विप्रलंभ की दृष्टि से भी इसी में प्रेम की पीर की व्यंजना है। कथा की दृष्टि से भी यही अंश सबसे अधिक गतिशील और रोचक है। पलायन को छोड़कर शेष कथाएँ तो इसकी परिणति के साथ समाप्त हो जाती हैं।

सूफी पूर्वराग के विकास को कई सरणियों में बाँटा जा सकता है जैसे —

(क) प्रयत्न

प्रथम आकर्षण होते ही नायक-नायिका एक-दूसरे के लिए प्रयत्नशील होजाते हैं। नायक इसके लिए सर्वस्व त्यागकर जोगी ही जाता है। संसार का मोह तथा अहंकार का त्याग कर वह प्रेमिका के पथ का पथिक हो जाता है। कोई भी बाधा उसे इस मार्ग से विरत नहीं कर पाती। इस प्रयत्न का प्रथम विश्राम नायक नायिका के प्रथम दर्शन से होता है।

असफल नायक अपने अहंकार में चूर पाशविक शक्ति द्वारा प्रिया तक पहुँचना चाहते हैं जिनमें उन्हें सफलता नहीं मिलती है।

प्रेम-पंथ में प्रयत्न केवल नायक ही नहीं नायिका भी करती है। नायिका के लिए जोगिनी बनकर निकलना सरल नहीं है पर वह निश्चेष्ट नहीं बैठी रहती। वह संदेशवाहकों द्वारा प्रिय का पता लगवाती है जैसा कि चित्रावली ने किया था। कभी-कभी वह चतुरता के कारण छल-बल का भी सहारा लेती है। छलों में सबसे प्रचलित छल प्रिय को चोरी के अपराध में पकड़वा लेना है। नायिका नायक को किसी बहाने से भोजनादि के लिए आमंत्रित करती है। भोजन के समय वह अपना कोई आभूषण नायक के भोजन या वस्त्रों में छिपवाकर—उसे चोर बनवाकर बन्दी करा लेती है। कौलावती ने सुजान पर यही छल किया था। नायिका इस प्रकार से नायक को पकड़ने में तो अवश्य सफल हो जाती है। पर उसके प्रेम को प्राप्त करने में कभी भी सफल नहीं होती है।

नायिका का दूसरा प्रयत्न प्रेम-निवेदन है। वह अपनी किसी दासी द्वारा या स्वयं ही नायक से अपने प्रेम का निवेदन करती है। इसमें भी उसे सफलता नहीं मिलती है।

नायिका का तीसरा प्रयत्न संदेश तथा पत्र भेजना है। रत्नसेन के पास संदेश द्वारा पद्मावती तथा सुजान के पास पाती द्वारा चित्रावली अपने प्रेम का निवेदन करती है।

यथार्थ में सूफी-साहित्य में नायक-नायिका दोनों ही सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

(ख) प्रथम दर्शन

नायक-नायिका के प्रयत्नों के फलस्वरूप दोनों का प्रथम-स्पर्श होता है। यह दर्शन दोनों के प्रेम का उद्दीप्त कर उन्हें अन्तिम त्याग का प्रयत्न के लिए

रित करता है। प्रथम दर्शन के प्रभाव से अक्सर नायक मूर्छित हो जाता है। यह उसकी अपरिपक्वावस्था का द्योतक है। नायक-नायिका का यह मिलन क्षणिक होता है, इसीलिए पूर्वराग की स्थिति यहाँ समाप्त नहीं होती है। यथार्थ मिलन के लिए अभी और प्रयत्न एवं साधनाएँ आवश्यक हैं।

(ग) बाधाएँ

नायक के मार्ग में कई प्रकार की बाधाएँ आ सकती हैं। प्रथम प्रकार की बाधा युद्धादि की है। पद्मावती में रत्नसेन को गढ़ पर चढ़ाई करनी पड़ी और सूली पर चढ़ने के लिए तैयार होना पड़ा।

दूसरे प्रकार की बाधा कुटीचरों द्वारा उत्पन्न होती है। चित्रावली में कुटीचर द्वारा कुटीचर नायक सुजान को अन्धा कर एक पर्वत की गुफा में डाल देता है। वहाँ एक अजगर उसे लील लेता है। उसकी विरह-ज्वाला से घबड़ाकर उसे उगल देता है। एक वनमानुष द्वारा उसे दृष्टि-लाभ होता है, पर उसकी मुसीबतों का यहीं अन्त नहीं होता है। एक हाथी उसे पकड़ लेता है। एक पक्षी उसकी रक्षा करता है। फिर अन्त में चित्रावली का पिता उसे खूनी हाथी से तथा सेना द्वारा मारना चाहता है। अन्त में समस्त बाधाओं को पार कर सुजान सफल होता है।

मधुमालती में बाधा का रूप सबसे विलक्षण है। मधुमालती की माँ ने उसे पक्षी होने का शाप दे दिया था। पक्षी रूप में मधुमालती ने मनोहर को खोजने का बहुत प्रयत्न किया पर सफल न हो सकी। ताराचन्द के प्रयत्न से वह शापमुक्त होकर प्रिय को प्राप्त करती है।

सूफी कवियों ने अपने-अपने प्रकार से नायक के मार्ग में बड़ी-से-बड़ी कठिनाई प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता हुआ नायक नायिका को प्राप्त करता है।

(घ) विरह

पूर्वराग की स्थिति में कवियों ने नायक-नायिका के विरह का विस्तृत वर्णन किया है। इस विरह में प्रेम की तीव्रता तथा काम की अनेक दशाओं का वर्णन है। यह विरह अधिकतर बारहमासा पद्धति पर कहा गया है। कहीं-कहीं षट्ऋतु के रूप में भी इसका वर्णन है। यह विरह-वर्णन सदा मर्यादित रहा है।

षट्ऋतु और बारहमासा

संयोग और वियोग दोनों ही में प्रकृति उद्दीपनकारी है। इसके माध्यम से कवियों ने संयोग-सुख और वियोग के दुःख का वर्णन किया है। षट्ऋतु का

प्रयोग सामान्यतः संयोग-सुख की अभिव्यक्ति करने में होता है। इसका अपवाद चित्रावली का विरह है जो कि षटऋतु पद्धति में हुआ है। इस विरह में चित्रावली की भूख और नींद समाप्त हो गई है। वह अपने विरह को हृदय में ही छिपाए रखती है जिससे उसका शरीर भीतर ही भीतर नष्ट हो रहा है। वस्त्र उसे भार लगते हैं। आभूषणों में उसे रुचि नहीं रह गई है। विरह असह्य हो रहा है। ऋतु पर ऋतुएँ बीतती जा रही हैं पर दूत लौटकर आए नहीं। प्रत्येक ऋतु उसकी पीड़ा को उभार कर देती है। विरह-समुद्र में वह डूबती जा रही है। अन्त में उसके हृदय में अभिलाषा होती है कि होली में अपने शरीर को राख कर दे और पवन के साथ उड़कर चारों दिशाओं में अपने प्रिय को खोजे —

अब तन होरी लाइ कै, होइ चहौं जर छार।
चहु दिसि मारुत संग होइ, ढूँढौं प्रान अधार॥

(चित्रावली, २४६)

ऐसी तीव्र उसकी वेदना है और इतनी तीव्र उसकी अभिलाषा है।

पूर्वराग में बारहमासे का प्रयोग उसमान और मंझन दोनों ने किया है। यह विरह-वर्णन पत्र द्वारा किया गया है। चित्रावली का बारहमासा चैत से प्रारंभ होकर फाल्गुन में समाप्त होता है तथा मधुमालती का बारहमासा सावन से प्रारंभ होकर आषाढ़ में समाप्त होता है। दोनों ही विरहिणियों का विरह प्रति मास अधिकाधिक बढ़ता जाता है। प्रत्येक मास का प्रारंभ प्रिय आगमन की किस आशा से होता वह उसके समाप्त होते-होते निराशा में बदल जाता। दोनों ही बारहमासों में सरल सरस तथा हृदयग्राहक रूप में प्रेम की पीड़ा की व्यंजना है। इनमें सर्वत्र प्रिय-मिलन की उत्कट कामना तथा प्रिय के लिए सर्वस्व समर्पण की उत्कृष्ट भावना है।

मान

सूफी-साहित्य में मान के चित्रण का बहुत अधिक अवकाश था पर कवियों ने इसकी पूर्णत: उपेक्षा की है। इस साहित्य में न तो प्रणय-मान और न ही ईर्ष्या-मान के प्रसंग हैं।

प्रवास

सूफी-साहित्य में पूर्वराग के ही अंतर्गत प्रवास की भी योजना है। पूर्ण मिलन के पूर्व ही नायक-नायिका एक-दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। नायक अनेक संकटों में पड़कर उन पर सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार प्रवास होता है। इस प्रवास को पूर्वराग के अंतर्गत ही रखना चाहिए। चित्रावली

और मधुमालती में प्रवास इसी प्रकार का है। पद्मावत में भूत प्रवास है जब कि रत्नसेन नागमती को छोड़कर सिंहलद्वीप के लिए चल देता है।

चित्रावली में पूर्वरागान्तर्गत प्रवास का प्रारम्भ उस समय से होता है जब योगी रूप में सुजान शिव-मंदिर में चित्रावली से मिल चुकता है और कुटीचर द्वारा अंधा होकर भटकता है। मधुमालती में यह प्रवास उस स्थान से माना जाएगा जहाँ मधुमालती की माता उसे पक्षी होने का शाप देती है।

पूर्वरागान्तर्गत प्रवास-विरह के स्वरूप का उल्लेख पूर्वराग के प्रसंग में पीछे किया जा चुका है।

भूत प्रवास के वर्णन केवल पद्मावत में प्राप्त हैं। इसके दो स्थल हैं —

(१) नागमती का विरह-वर्णन

(२) सिंहलगढ़ से विदा के बाद समुद्र में रत्नसेन-पद्मावती के वियोग के अवसर का विरह।

नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। अपनी सरलता, स्वाभाविकता और वेदना की व्यंजकता में वह अनुपम है। उस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है अतः और अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

पद्मावती रत्नसेन का समुद्र का वियोग भिन्न प्रकार का है। राक्षस द्वारा जहाज टूटने से दोनों अलग-अलग हो गए। इसलिए इसे प्रवास माना जायगा। पद्मावती को लक्ष्मी ने बचा लिया। अकेली वह विरहाग्नि में दग्ध होने लगी। प्रिय वियोग में वह रोती है और बार-बार मूर्छित हो जाती है। उस पर पागलपन सा छाने लगता है और वह मरने को तैयार हो जाती है किन्तु उसे कोई मरने भी नहीं देता है। भूख-प्यास और नींद त्यागकर वह अथाह सिन्धु के बीच बैठी सीता सी हो गई है। इसी समय लक्ष्मी की कृपा से उसकी भेंट प्रिय से होती है।

उधर दूसरी ओर पद्मावती को खोकर रत्नसेन भी व्याकुल था। मिलन के लिए व्याकुल वह बराबर रोता था। पद्मावती को प्राप्त करने के लिए वह सभी प्रकार के कष्टों को सहने को तैयार था पर उस बेचारे को अपनी प्रिया का कोई अता-पता ही नहीं मिल रहा था। करे तो वह बेचारा क्या करे। वह असहाय सा अनुभव कर रहा था। वह ईश्वर को याद करता है और पद्मावती का नाम लेकर मरना चाहता है। उसी समय लक्ष्मी उसे पद्मावती का पता बता कर उससे मिलाती है।

दोनों ही का विरह हृदयद्रावक और काम की अनेक दशाओं से परिपूर्ण है।

रामाश्रयी शाखा

रामाश्रयी शाखा का अधिकतर साहित्य प्रबंधात्मक है। और उसमें वियोग वर्णन के विस्तार का विशेष अवकाश है। किन्तु फिर भी इस शाखा के साहित्य में विरह का विशेष विस्तार नहीं है।

विरह का स्वरूप

इस शाखा के साहित्य में पूर्वराग और प्रवास के विरह का ही स्वरूप चित्रण है। प्रवास भी यहाँ प्रिय का न होकर प्रिया का है। सीता को रावण हर ले गया है। अतएव इसे शुद्ध प्रवास कहना भी ठीक नहीं है। एक प्रकार से यह विछोह का विरह है। इस विरह का भी विस्तार नहीं और विविधता नहीं है।

पूर्वराग के प्रसंग

रामकथा में पूर्वराग के निम्नलिखित प्रसंग माने जा सकते हैं —

(क) शम्भु-पार्वती प्रसंग।

(ख) नारद-शीलनिधि-कन्या प्रसंग

(ग) राम-सीता-प्रसंग।

(घ) राम-लक्ष्मण-शूर्पणखा-प्रसंग।

इनमें सच्चे रूप से पूर्वराग के प्रसंग शंभु-पार्वती तथा राम-सीता के पूर्वराग के ही हैं। नारद और शीलनिधि-कन्या में नारद का पूर्वराग इन्द्रजालमय। विष्णु की माया के हटते ही प्रेम की स्थिति ही नहीं रह गई। राम लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा का आकर्षण रूप के कारण प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा हुआ था। इसका आधार काम था जिसमें प्रेम का अभाव था। सीता के प्रति रावण का आकर्षण प्रतियोग की भावना से उत्पन्न हुआ था जिसमें बाद में रूपाकर्षण का पुट भी मिला पर वह भी विशेष स्पष्ट नहीं है। रावण ने कभी भी अपने प्रेम का निवेदन नहीं किया है। उसने सदा अपनी शक्ति और वैभव का ही प्रदर्शन किया है।

पूर्वरागोदय

मानस में पूर्वराग का उदय निम्नलिखित प्रकार से हुआ है —

(क) प्रत्यक्ष-दर्शन द्वारा

राम और सीता के पूर्वराग का उदय पुष्प-वाटिका-प्रसंग में परस्पर प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा हुआ है।

(ख) गुण-श्रवण द्वारा

गुण-श्रवण द्वारा प्रेम की उत्पत्ति पार्वती के हृदय में हुई थी। नारद के

कथन से उनके अन्दर की जन्म-जन्मान्तर की सुप्त प्रीति जाग्रत हो उठी थी। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि नारद ने शिव के गुणों का विशेष वर्णन नहीं किया था। उन्होंने पार्वती के भावी पति के स्वरूप का संकेत किया था जिसे पार्वती ने सत्य जाना और जिसके फल-स्वरूप उनके हृदय में प्रेम उत्पन्न हुआ —

सुनि मुनि गिरा सत्य जियँ जानी। दुख दंपतिहि उमा हरषानी॥

× × ×

होइ न मृषा देवरिषि भाषा। उमा सो बचनु हृदयँ धरि राखा॥
उपजेउ सिव पद कमल सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू॥
जानि कुअवसरु प्रीति दुराई। सखी उछँग बैठि पुनि जाई॥

(मानस बा०, पृ० ६८)

कुछ-कुछ इसी प्रकार की प्रीति सीता के हृदय में भी नारद-कथन के फल स्वरूप उत्पन्न हुई थी जो कि बाद में राम के दर्शन से पुष्ट हुई थी।

पूर्वराग की सीमा

शंभु-पार्वती और राम-सीता दोनों ही के पूर्वराग विवाह के द्वारा समाप्त होते हैं। विवाह उनकी सीमा है।

पूर्वराग में प्रिय प्राप्ति के उपाय

शंभु को प्राप्त करने के लिए पार्वती प्रयत्नशीला हैं। महायोगी शिव को तपस्या द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और इसके लिए उन्होंने विकट तपस्या भी की। इस प्रयत्न में जो बाधाएँ आईं उनकी उन्होंने परवाह नहीं की। अन्त में उन्हें सफलता मिलती है।

राम-सीता में दोनों ही प्रयत्नशील नहीं हैं। सीता अपने पिता की प्रतिज्ञा से बँधी हैं। उनका एक मात्र अवलंब दैव-कृपा है। दूसरी ओर राम भी मर्यादा के बंधन से बद्ध हैं। सब बाधाओं के समाप्त होने पर और गुरु-आज्ञा से ही वे धनुर्भंग के लिए उठते हैं।

पूर्वराग में विरह

पूर्वराग में विरह का अभाव है। हाँ अभिलाषा चिंता स्मृति गुण-कथन जड़ता आदि काम की कुछ दशाएँ इस प्रसंग में अवश्य उपलब्ध हैं।

मान

इस साहित्य में मान का पूर्ण अभाव है।

विरह

है, जो विरह में उसे विछोह-जन्य कहना चाहिए। सीता-हरण पर कुटी को सूना पाकर सीता के लिए किया गया विलाप तथा उनकी प्राप्ति तक की स्थिति तक राम का विरह है। हरण के समय से लेकर रावण-वध तथा राम मिलन तक सीता का विरह है। यह विरह निम्नलिखित रूपों में व्यक्त हुआ है —

(क) हरण होने पर सीता का विलाप।
(ख) आश्रम को सूना देखकर राम का विलाप।
(ग) राम का वन में विलाप।
(घ) सीता से हनुमान का राम-विरह-कथन।
(ङ) सीता का विरह-स्वरूप।
(च) राम से हनुमान का सीता-विरह-कथन।

(क) हरण होने पर सीता का विलाप

सीता का यह विलाप अत्यन्त संक्षिप्त है। इसमें विरह के स्थान पर आर्त-पुकार है। यह एक परवश अबला की दीन पुकार है।

(ख) आश्रम को सूना देख कर राम का विलाप

लक्ष्मण द्वारा सीता को अकेला छोड़े जाने से राम पहले ही आशंकित हो उठे थे। अपनी कुटी को सूना देखकर वे धैर्य खो बैठते हैं और रोने लगते हैं। सीता के प्रत्येक कार्य उन्हें याद आने लगते हैं और यह स्मृति उनकी पीड़ा को और तीव्र कर देती है। इस विरह में वे विक्षिप्त-से हो जाते हैं और सीता को खोजने निकलते हैं। सीता की खोज में ही उनके विरह का यथार्थ रूप प्रकट होता है। उन्हें जड़ चेतन की पहचान भूल गई है और वे खग मृग मधुकर खंजन, शुक पिक कपोत आदि सभी से सीता का पता पूछते हैं। वे बार-बार सीता को पुकारते हैं। उनका विलाप एक कामी की भाँति का है। इसमें काम की अनेक दशाएँ मिलती हैं।

(ग) राम का वन में विलाप

यह विलाप कुछ अधिक विस्तृत है। इसकी योजना प्रकृति की पृष्ठ-भूमि में हुई है। इस विरह में प्रकृति दुःखदायी है। संपूर्ण प्रकृति अपने सुख में निमग्न है। सभी जोड़े अपने आप में मग्न हैं। उनको इस रूप में देखकर राम के हृदय में बार-बार यह बात खटकती है कि एक मैं ही नारी विहीन हूँ। उन्हें सारी प्रकृति कामदेव में मग्न प्रतीत होती है। ऐसा मालूम पड़ता है मानो कामदेव चतुरंगिणी सेना लेकर समस्त विश्व को चुनौती दे रहा है। ऐसे समय में कौन धैर्य धारण कर सकता है। इस विषम स्थिति में नारी से ही बचाव हो सकता है और वह प्रिया यहाँ बहुत दूर है। वन उपवन, गिरि-ग्राम आश्रम आदि सभी भयानक एवं

कथन से उनके अन्दर की जन्म-जन्मान्तर की सुप्त प्रीति जाग्रत हो उठी थी। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि नारद ने शिव के गुणों का विशेष वर्णन नहीं किया था। उन्होंने पार्वती के भावी पति के स्वरूप का संकेत किया था जिसे पार्वती ने सत्य जाना और जिसके फल-स्वरूप उनके हृदय में प्रेम उत्पन्न हुआ —

सुनि मुनि गिरा सत्य जियँ जानी। दुख दंपतिहि उमा हरषानी॥

× × ×

होइ न मृषा देवरिषि भाषा। उमा सो बचनु हृदयँ धरि राखा॥
उपजेउ सिव पद कमल सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू॥
जानि कुअवसरु प्रीति दुराई। सखी उछँग बैठी पुनि जाई॥

(मानस बा० पृ० १८)

कुछ-कुछ इसी प्रकार की प्रीति सीता के हृदय में भी नारद-कथन के फल-स्वरूप उत्पन्न हुई थी जो कि बाद में राम के दर्शन से पुष्ट हुई थी।

पूर्वराग की सीमा

शंभु-पार्वती और राम-सीता दोनों ही के पूर्वराग विवाह के द्वारा समाप्त होते हैं। विवाह उनकी सीमा है।

पूर्वराग में प्रिय प्राप्ति के उपाय

शंभु को प्राप्त करने के लिए पार्वती प्रयत्नशीला हैं। महायोगी शिव को तपस्या द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और इसके लिए उन्होंने विकट तपस्या भी की। इस प्रयत्न में जो बाधाएँ आईं उनकी उन्होंने परवाह नहीं की। अन्त में उन्हें सफलता मिलती है।

राम-सीता में दोनों ही प्रयत्नशील नहीं हैं। सीता अपने पिता की प्रतिज्ञा से बंधी हैं। उनका एक मात्र अवलंब दैव-कृपा है। दूसरी ओर राम भी मर्यादा के बंधन से बद्ध हैं। सब राजाओं के असफल होने पर और गुरु-आज्ञा से ही वे धनुर्भंग के लिए उठते हैं।

पूर्वराग में विरह

पूर्वराग में विरह का अभाव है। हाँ अभिलाषा चिंता स्मृति गुण-कथन जड़ता आदि काम की कुछ दशाएँ इस प्रसंग में अवश्य उपलब्ध हैं।

मान

इस साहित्य में मान का पूर्ण अभाव है।

विरह

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है इस साहित्य में प्रवास विरह का प्रकार

है, जो विरह में उठे विरह-जन्य कहना चाहिए। सीता हरण पर कुटी को सूना पाकर सीता के लिए किया गया विलाप तथा उनकी प्राप्ति तक की स्थिति तक राम का विरह है। हरण के समय से लेकर रावण-वध तथा राम मिलन तक सीता का विरह है। यह विरह निम्नलिखित रूपों में व्यक्त हुआ है :—

(क) हरण होने पर सीता का विलाप।
(ख) आश्रम को सूना देखकर राम का विलाप।
(ग) राम का वन में विलाप।
(घ) सीता से हनुमान का राम-विरह-कथन।
(ङ) सीता का विरह-स्वरूप।
(च) राम से हनुमान का सीता-विरह-कथन।

(क) हरण होने पर सीता का विलाप

सीता का यह विलाप अत्यन्त संक्षिप्त है। इसमें विरह के स्थान पर आर्त-पुकार है। यह एक परवशा अबला की दीन पुकार है।

(ख) आश्रम को सूना देख कर राम का विलाप

लक्ष्मण द्वारा सीता को अकेले छोड़े जाने से राम पहले ही आशंकित हो उठे थे। अपनी कुटी को सूना देखकर वे धैर्य खो बैठते हैं और रोने लगते हैं। सीता के प्रत्येक कार्य उन्हें याद आने लगते हैं और यह स्मृति उनकी पीड़ा को और तीव्र कर देती है। इस विरह में वे विक्षिप्त-से हो जाते हैं और सीता को खोजने निकलते हैं। सीता की खोज में ही उनके विरह का यथार्थ रूप प्रकट होता है। उन्हें जड़-चेतन की पहचान भूल गई है और वे खग मृग मधुकर खंजन, शुक, पिक कपोत आदि सभी से सीता का पता पूछते हैं। वे बार-बार सीता को पुकारते हैं। उनका विलाप एक कामी की भाँति का है। इसमें काम की अनेक दशाएं मिलती हैं।

(ग) राम का वन में विलाप

यह विलाप कुछ अधिक विस्तृत है। इसकी व्यंजना प्रकृति की पृष्ठ-भूमि में हुई है। इस विरह में प्रकृति दुखदायी है। संपूर्ण प्रकृति अपने सुख में निमग्न है। सभी पात्र अपने जोड़े में मग्न हैं। उस [illegible] रूप को देखकर राम के हृदय में बार-बार यह बात उठती है कि एक मैं ही नारी विहीन हूँ। उन्हें सारी प्रकृति कामातुर में मग्न प्रतीत होती है। ऐसा मालूम पड़ता है मानो कामदेव चतुरंगिणी सेना लेकर समस्त विश्व को चुनौती दे रहा है। ऐसे समय में कौन धैर्य धारण कर सकता है। इस विषम स्थिति में नारी से ही बचाव हो सकता है और वह प्रिया यहाँ बहुत दूर है। वन उपवन, हिम राज पावस आदि सभी नमामक एवं

भयभीत करनेवाले हैं। यह प्रकृति केवल दुःखदायिनी ही नहीं है बल्कि व्यंग करती-सी भी प्रतीत होती है। जब मृग-मृगी वन में भाग नहीं जाते क्योंकि ये राम तो कंचन मृग को खोजनेवाले हैं ऐसा सोचकर उनकी पीड़ा द्विगुणित हो जाती है।

यह प्रकृति कभी-कभी सुखदायक और सहायक भी हो जाती है। राम हंस हेंस कलानिधि खंजन कंज आदि को देखकर जीवन धारण करने में समर्थ हैं क्योंकि ये सीता के मुख नेत्र पद आदि के समान हैं।

इसी समय राम को सीता के पट-नूपुर आदि के दर्शन होते हैं। ये उनके विरह को पुनः उद्दीप्त कर देते हैं। उन्हें हृदय से लगाकर ही कुछ सांत्वना मिलती है। राम का वन का संपूर्ण विलाप अत्यन्त करुण है।

(घ) हनुमान का सीता से राम-विरह-कथन

अशोक वाटिका में सीता से राम के विरह का स्वरूप वर्णन हनुमान ने किया है। हनुमान कहते हैं राम का प्रेम आपके प्रेम से दूना है। उनके विरह को व्यक्त करना कठिन है। उनके लिए सभी कुछ विपरीत हो गया है। सभी सुख दायक वस्तुएँ दुःख देने लगी हैं। नव तरु किसलय सूर्य चन्द्र कमल वन सभी समान रूप से दुःखदायी हैं। वर्षा का जल तो ऐसा प्रतीत होता है मानो खौलता हुआ तेल हो। विरह से व्याकुल होकर वे सिंह की तरह कुञ्जों में बसने लगे हैं। केशर की क्यारियाँ देखकर उन्हें भय होता है। मयूर-शब्द सुनकर सर्प की भाँति कंदरा में घुस जाते हैं। भ्रमर की भाँति चंचल चित्त होकर वे वनों में घूमते हैं और रात्रि में योगियों की तरह जागते हैं और चातकों की तरह आपका नाम रटते हैं। उनकी पीड़ा को उनके सिवाय और कोई कह नहीं सकता है।" उनका यह विरह-वर्णन वियोग की तीव्रता को व्यक्त करने में पूर्णतः सफल है।

(ङ) सीता का विरह-स्वरूप

अशोक वाटिका में दिन में राक्षसियों से घिरी और रात में अकेली विरहिणी सीता का स्वरूप अत्यन्त हृदयद्रावक है। अत्यन्त कृश मलिन-वसना शृंगार-विहीना उनका रूप है। उनके नेत्रों से निरन्तर अश्रु प्रवाहित होता रहता है और उनके जिह्वा से राम-नाम की रट कभी टूटती नहीं है। विरह की ज्वाला और रावण के अत्याचार से पीड़ित सीता मृत्यु की आकांक्षा करती हैं। उनका वर्णन अत्यन्त करुण है।

राम की दुःखिता ... के विक्षिप्ता की भाँति उनका व्यवहार करुण लगता है। अचानक ... उन्हें आश्रम मिलता है। वे पूछती हैं कि कोमल चित्त

राम ने यह निष्ठुरता क्यों धारण कर ली है। उनके वचनों का उत्संभाषण करने का उन्हें अत्यन्त पश्चात्ताप है और वे मूर्छित हो जाती हैं।

सीता का संदेश अति संक्षिप्त पर अत्यंत करुण और द्रवित करनेवाला है। अपना प्रणाम अपनी विपत्ति हरने की प्रार्थना राम के पराक्रम की स्मृति और अपने जीवन की एक मास की अवधि यही उनका संक्षिप्त संदेश है। चतुर दूत हनुमान के लिए यही यथेष्ट था।

(च) हनुमान द्वारा सीता-विरह-कथन

सीता के विरह का वर्णन हनुमान ने अत्यंत कुशलता से किया है। राम सीता का वृत्तांत जानने के लिए व्याकुल हैं। हनुमान कहते हैं "आपके विरह में सीता के प्राण तो कभी के निकल चुके होते पर आपका नाम ले जो दिन रात रटती रहती हैं वह पहरेदार की भाँति है आपका निरन्तर ध्यान ही किवाड़ स्वरूप है तथा नेत्रों को अपने चरणों में लगाकर उन्होंने इन किवाड़ों में ताला डाल दिया है। इस प्रकार प्राण निकलने के समस्त मार्ग अवरुद्ध हो गए हैं फिर वे किधर से जाए।' सीता का संदेश कहते हुए हनुमान कहते हैं "उस दुःख दशा का कथन असंभव है। उस दुःख को सुनकर जड़ चैतन्य सभी दुःखी हो जाएँगे।" इतना कहने के बाद हनुमान सीता के करुण स्वरूप का उनका राम के नाम के निरन्तर जाप का, उनकी विक्षिप्तावस्था का उनकी मिलन की तीव्र अभिलाषा का और उनकी मृत्यु की अभिलाषा का ऐसा करुण वर्णन करते हैं कि सभी का हृदय द्रवित हो जाता है। राम रोने लगते हैं। उनके मुख से शब्द नहीं निकलते हैं पर शीघ्र ही उन्हें अपने कर्तव्य का भान हो जाता है, और वे सीता उद्धार के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। सीता के इस विरह में राम की लगभग सभी दशाएँ आई हैं।

संपूर्ण रूप में इस शाखा का विरह-वर्णन मात्रा में स्वल्प होते हुए भी प्रभावोत्पादक और प्रेम की पीड़ा से भरपूर है। साथ-ही-साथ यह नायक को कर्तव्य की ओर प्रेरित करनेवाला भी है। यह संक्षिप्त विरह-वर्णन उत्कृष्ट है।

कृष्णाश्रयी शाखा

कृष्णाश्रयी शाखा में विप्रलंभ की दृष्टि से वल्लभ-संप्रदाय सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसीमें शुद्ध पूर्वराग मान और प्रवास-विरह मिलता है। इसके अतिरिक्त राधावल्लभ संप्रदाय और सखी संप्रदाय अपनी विरह की विलक्षण कल्पना दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्य रूप से विरह को अस्वीकार करते हुए भी उन्होंने विरह का स्वीकार किया है। मीरों का विरह साम्प्रदायिक बन्धनों से परे और

स्वतन्त्र है। अतएव इस शाखा में प्राप्त विरह का अध्ययन सम्प्रदायानुसार करना ही समीचीन होगा।

वल्लभ संप्रदाय

हिन्दी साहित्य में वल्लभ संप्रदाय का ही सबसे अधिक अध्ययन हुआ है और इसमें भी इसके विरह-पक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। अत इस संप्रदाय में प्राप्त विप्रलंभ के स्वरूप का अध्ययन संक्षेप में ही किया जा रहा है।

विरह की स्वीकृति

इस संप्रदाय के कृष्ण का संपूर्ण जीवन स्वीकार किया गया है। उनकी व्रज मथुरा और द्वारका—तीनों ही लीलाएँ मान्य हैं। इन प्रकट लीलाओं के अतिरिक्त इनकी अप्राकृत नित्य-लीला भी वृन्दावन धाम में सदा चलती रहती है। इस प्रकार यद्यपि अप्राकृत कृष्ण-गोपियों का कभी भी वियोग नहीं होता है फिर भी प्रकट जगत में वह परिलक्षित होता है। इसी प्रकट विरह का वर्णन सभी कवियों ने किया है। इस सम्बन्ध में ध्यान यही रखना है कि कृष्ण की मथुरा एवं द्वारका लीलाएं स्वीकृत तो अवश्य हैं किन्तु उनका विस्तार से वर्णन अष्टछाप के कवियों ने नहीं किया है।

विरह का स्वरूप

वल्लभ सम्प्रदाय में विरह अनेक रूपों में प्राप्त है। विरह-वर्णन में जितनी विविधता इस साहित्य में है उतनी और किसी साहित्य में नहीं है। करुण-विप्रलंभ को छोड़कर जिसके लिए भक्ति-काव्य में कोई स्थान नहीं है शेष सभी विप्रलम्भ-स्वरूप इसमें उपलब्ध हैं।

पूर्वराग

अष्टछाप के कवियों ने पूर्वराग का अत्यन्त उत्साह से वर्णन किया है। यह पूर्वराग सामान्यत गोपियों का कृष्ण के प्रति है। राधा के सम्बन्ध में यह पारस्परिक है। राधा-गोपी और कृष्ण के बीच में इस पूर्वराग का प्रारम्भ प्रत्यक्ष दर्शन गुण-श्रवण बाल-स्नेह आदि अनेक रूपों में हुआ है। इनकी संक्षिप्त विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

प्रत्यक्ष-दर्शन

बचपन से ही कृष्ण के रूप की ठगौरी सारे व्रज में लगी थी। गोपियाँ उनकी अनेक प्रकार की क्रीड़ा-विलास करते देखती थीं। उनकी क्रीड़ाएँ भी ऐसी थीं कि सभी नर-नारियों का मन मोहनेवाली थीं। बड़े होने पर उनके इस

रूप के प्रभाव से कोई न बच सका। किशोर कृष्ण का अचानक जहाँ दर्शन हुआ वहीं ही प्रेम की सरिता फूट पड़ी। अपनी मनोहर मुस्कान से कृष्ण ने जिसे देखा उसीका मन हर लिया। छीत स्वामीका एक ऐसा ही पद निम्नलिखित है —

> भई भेंट अचानक माई।
> हौं अपने गृह तें चली जमुना उतते आये कान्ह कन्हाई॥
> निरखत रूप ठग्योरी लागी, उनको रूप भरि चाख्यो न जाई।
> छीत स्वामी गिरधरन कृपा करि मोतन चितए मुरि मुसिकाई॥

गुण-श्रवण

कृष्ण की केलि उनका गोपी प्रेम आदि गुणों को सुन कर प्रेम उत्पन्न होना स्वाभाविक है, यद्यपि ब्रज के सम्मुख वातावरण में गुण-श्रवण से प्रत्यक्ष-दर्शन ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतएव इस विधि से पूर्वरागोत्पत्ति के वर्णन प्राप्त नहीं हैं। नंददास की पदावली में ही इसका संकेत है —

> कृष्ण नाम जब तें श्रवन सुन्यौ री आली।
> भूली री भवन [illegible] हौं तो बावरी भई री॥

(नंददास ग्रंथावली—शुक्ल पृ० ३४१)

वेणु-श्रवण

गुण-श्रवण से कहीं अधिक प्रभावशाली उनकी वेणु-ध्वनि है। उसका मादक संगीत गोपियों का मन बरबस हरनेवाला है। इस वेणु का आकर्षण अमोघ है जिससे कोई भी गोपी न बच सकी। गोपियों के पूर्वराग में वेणु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस वेणु के संगीत का और उसके प्रभाव के अनेकानेक वर्णन मिलते हैं। उनके उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है।

बाल-स्नेह

बाल-स्नेह का किशोरावस्था में पूर्वराग में बदल जाना स्वाभाविक ही है। जिन गोपियों के साथ कृष्ण बचपन में खेले थे किशोरी होने पर उनका कृष्ण के प्रति प्रेम होना स्वाभाविक है। सूरदास ने राधा कृष्ण के प्रेम का विकास इसी रूप में दिखाया है। चकई भँवरा खेलते समय बालापन की जो मित्रता हुई थी वही किशोरावस्था में अत्यन्त प्रगाढ़ प्रेम के रूप में बदल गई।

लोक-कल्याण रूप

कृष्ण का लोककल्याणकारी रूप भी उनके प्रति स्नेह उत्पन्न करता रहा होगा। एक ओर अनेक दैवी-विपत्तियों से तो उन्होंने ब्रज की [illegible] रक्षा की ही थी दूसरी ओर अवसर-कुअवसर, संकट और [illegible]

संकट-ग्रस्त व्रजवासियों की सहायता करते रहे होंगे। यह सहायता गोपियों के हृदय में प्रेम उत्पन्न करनेवाली रही होगी। कालिन्दी की रपटीली राह पर एक गोपी की ऐसी सहायता से ही उसके प्रति उसके हृदय में प्रेम का अंकुरण करा दिया था। परमानन्द का एक ऐसा ही पद निम्नलिखित है —

मदन गोपाल देखो मेरी बहियाँ।
औघट घाट चढ़यो नहिं जाई रपटत हौं कालिन्दी महियाँ॥
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन देखि स्वरूप गुवाल अरुझानी।
उपजी प्रीति काम उर अंतर तब नागर नागरि पहिचानी॥
हँसि ब्रजनाथ गह्यो कर पल्लव जाते गगरी गिरन न पावै।
'परमानन्द' ग्वालिनि सयानी कमलनयन कर परस्योहि भावै॥

(परमानन्द सागर, ७१८)

प्रतिमा और स्वप्न-दर्शन

रूप-मंजरी के प्रसंग में नंददास ने प्रतिमा-दर्शन-विधि का उल्लेख किया है। रूप-मंजरी की सखी इन्दुमती गोवर्द्धन पर कृष्ण प्रतिमा के दर्शन करा कर रूप मंजरी के हृदय में प्रेम उत्पन्न कराने का प्रयत्न करती है। यह प्रेम उस समय पुष्ट होता है जब नायिका स्वप्न में अपने अनुरूप नायक कृष्ण का दर्शन करती है। यह पूर्वराग कृष्ण की प्रकट लीला से सम्बन्धित न होकर भक्त (रूप मंजरी) के जीवन से सम्बन्धित उसके भाव जगत का है।

पूर्वराग की अवस्था में विरह-वेदना रहती है जिससे बराबर मिलन की उत्कट कामना होती है। यह वेदना एक अद्भुत उत्साह उमंग और निराशामयी होती है। इसमें काम की अनेक दशाएं प्रकट हो जाती हैं। प्रिय की स्मृति मिलन की चिन्ता गुणकथन का स्मरण निद्राच्छेद आदि अवस्थाएँ नायिका को सर्वदा पीड़ित किए रहती हैं। परमानन्द ने एक पद में ऐसी ही स्थिति का सुन्दर वर्णन किया है। विरहाकुल नायिका अपना कष्ट गूँगे बालक के समान सहती है —

जब तें प्रीति स्याम सों कीनी।
ता दिन तें मेरे इन नैननि नेकहु नींद न लीनी।
सदा रहति चित चाक चढ्यो सो और न कछू सुहाय॥
मन में रहत उपाय मिलन को इहै विचारत जाय॥
परमानन्द प्रभु पीर प्रेम की काहू सों नहिं कहिए।
जैसे व्यथा मूक बालक की अपने तन मन सहिए॥

(परमानन्द सागर, ५४६)

पूर्वराग की विरहाग्नि का बड़ा ही सुन्दर वर्णन नंददास ने रूपमंजरी में

किया है। जिस प्रकार आतशी शीशे द्वारा सूर्य का प्रकाश पड़ने पर रुई प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार रूप-मंजरी के रुई रूपी शरीर पर हृदय-दर्पण द्वारा रवि रूपी प्रिय का प्रेम-प्रकाश पड़ते ही उसका तन विरहाग्नि से प्रज्वलित हो उठा —

हिय-हिय दरपन तन रुई पर्यो हुती पुइ पानि।
प्रीतम तरनि किरनि परसि जगि परी तन आगि॥

(नन्ददास ग्रंथावली पृ० १४)

मान

वल्लभ-संप्रदाय में मान का विशेष उल्लेख है। यह मान प्रणय और ईर्ष्या-जन्य दोनों ही प्रकार का है। सूरसागर में ही यह व्यवस्थित रूप से प्राप्त है। यह चार प्रकार का है —

(१) साधारण प्रणय मान

प्रणय के कारण राधा मान करती है। कृष्ण मनाने जाते हैं और राधा के न मानने पर लौट आते हैं। तब राधा का मान कपूर की भाँति उड़ जाता है। वह विरहातुर हो जाती है। ललिता दूती बनकर कृष्ण को मनाने जाती है; राधा की प्रशंसा करती है, तब कृष्ण आकर उसे हृदय से लगाते हैं और उसका विरह-ताप शांत होता है।

(२) विलक्षण मान

कृष्ण के हृदय में नारी का प्रतिबिंब देखकर राधा मान करती है। कृष्ण की सभी मनुहारें असफल होती हैं। कृष्ण दूती भेजते हैं जो दोनों की एकता बता जाती है जिससे मान भंग होता है।

(३) ईर्ष्या मान

कृष्ण तन पर अन्यत्र की हुई रति के चिह्नों को देखकर राधा के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न होती है। परिहास और कलह होते होते रुष्ट होकर अन्त में वे मान कर बैठती हैं। मान-मोचन के सभी प्रयत्न व्यर्थ जाते हैं। अंत में परस्पर के पुष्प चरित्र के संकेत द्वारा वे पसीजती हैं और मान भंग होता है।

(४) बड़ी मान-लीला

यह मान भी ईर्ष्याजन्य है। इस बार राधा ने कृष्ण को पर गृह से निकलते स्वयं देख लिया। राधा ने रुष्ट होकर दृढ़कर मान किया। मान-मोचन के सभी उपाय असफल हुए। राधा न तो अपनी प्रशंसा से प्रसन्न हुईं और न कृष्ण की दीन दशा देखकर पसीजीं। कृष्ण स्वयं दूती भी बनते हैं पर सब व्यर्थ

अंत में कृष्ण को एक उपाय सूझता है। वे राधा के सम्मुख दर्पण रखकर पीछे खड़े हो गए। दर्पण में दोनों के नेत्र परस्पर मिलते हैं। राधा का चेहरा खिल उठा। उसे निश्चय हो गया कि कृष्ण की प्रेयसी वही है। मान भंग हुआ।

मान का एक अन्य विस्तृत वर्णन नंददास की 'मान-मंजरी नाममाला' में है। इसकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार से है —

कृष्ण-हृदय में अपनी परछाँही देख कर राधा मान करती है। कृष्ण की आतुरता देखकर दूती राधा को मनाने जाती है। वह राधा के निकट अद्भुत अंजन लगा कर पहुँचती है।

दूती अनेक प्रकार से राधा-मान भंग करने का प्रयत्न करती है। वह कभी कृष्ण के प्रेम की और कभी राधा के प्रेम की बात कहती है। राधा इस पर भी न मानकर दूती को डाँटती है। अंत में दूती राधा की भर्त्सना करती हुई कहती है, मेरी बिंदी तवे पर की बूँद हो रही है। अब तुम्हारी क्या आज्ञा है ? मैं लौट जाऊँ।

यह सुनकर राधा का मान भंग होता है। वह हँसकर कहती है कि अब अर्द्धरात्रि हो गई है साथ चलूँगी। पर चतुर दूती कोई उत्तर न देकर उसकी चूनरी ले जाती है। राधा उसके साथ चली जाती है और दोनों का मिलाप होता है।

मान-मोचन

मान मोचन के लिए साम भेद और नति पद्धतियों का उपयोग किया गया है। एक-आध स्थल पर 'उपेक्षा' का भी प्रयोग हुआ है। मुख्यतः भेद-पद्धति अपनाई गई है।

साम-विधि में कृष्ण या उनकी दूती राधा को मनाती है। इसमें कृष्ण के प्रेम का तथा राधा वियोग में कृष्ण की विरहाग्नि का वर्णन कर राधा से मान छोड़ने की प्रार्थना की जाती है। कृष्ण अथवा दूती के प्रेम-वचनों को सुनकर राधा का मान भंग होता है। ललित स्वामी का एक ऐसा ही पद निम्न लिखित है —

अपनो मनायत हूँ बलिहारी।
वृथा मौन चित करति ललित मुख नैकु चितै इत प्यारी।।
तव मुख चंद चकोर नैकु मेरे प्यास बुझाउ बलिहारी।
रही दुखी जन दाह बिरह तन नैकु बोलि जसे होई
चंद चंद्रिका उजियारी।।

जो मति प्रकट करो मुख बंधन नख सों हुवै बिहारी ।
गोविंद प्रभु के प्रेम बचन सुनि छाँड़ि मान ह्वै लागि कुसुम सुकुमारी ॥

(४०६)

राधा का मान भंग करने के लिए अनेक प्रकार से भेद नीति का उपयोग हुआ है। कहीं दूती राधा को कुछ देर मनाने के बाद मनाना छोड़ देती है और कहती है "और मनाई मान करो कोटि करो फिर तो तुम और मोहन एक होगी ही।" मोहन का नाम सुनते ही राधा का मान भंग होता है। कहीं-कहीं दूती राधा को क्षणिक यौवन का उसके यहाँ उपभोग करने का मत्परामर्श देती है —

हरि सों कहा मान छबीली ।
× × ×
यह यौवन धन दिवस चारि को काहे को वृथा करत हो गर्वीली ॥

(गोविंददास, ४८६)

इन दो उपायों के अतिरिक्त कृष्ण स्वयं दूती बनते हैं कभी पाती भेजते हैं और कभी मुख-बीरी के साथ संदेश भेजते हैं। कभी दूती राधा की भर्त्सना करती है और कभी चतुरता से उनके द्वार पर कृष्ण के खड़े होने का कथन करती है जिससे राधा का मान भंग होता है।

अंत में दीन-हीन कृष्ण राधा के चरणों में गिर कर मान भंग की प्रार्थना करते हैं यथा—

राधिका तजि मान भया अब ।
तेरे चरन-सरन त्रिभुवन-पति मेटि कसर तू होहि प्रसन्न ॥

([illegible])

एक स्थान पर कृष्ण जब राधा की उपेक्षा कर उठ के [illegible] हैं तब वह चरणों से लपट जाती है यथा—

कमलनयन राधिका मनावत ।
उठि जब चले चरन लपटानी बोलत भये मुख [illegible] ॥

हार कपाट दियौ गाढ़े करि, कर आपनें बनाइ।
नकु नाहीं कहुँ संधि बनाई पौढ़ि रह्यो सब जाइ॥
इहिं अंतर हरि अंतरजामी—जो मन करैं सु होइ।
जहाँ नारि मुख मूँदि पौढ़ि रही तहाँ संग रहे सोइ॥
जो देखें तौ संग बिराजत चकी तिया अकुलाइ।
एक स्याम औरन ही कैसे इक पल रहे समाइ॥
तब धौं पै अति बिनय करत हैं रस अंकम भरि लीन्हौ।
सूर स्याम मनहरनि कथा यह मन हरि कै बस कीन्हौ॥

(सूर ११६८)

मान के प्रसंगों में ही स्वल्प विरह का भी उल्लेख है। इसमें विरहजनित पीड़ा नायक की उत्कंठा आदि का वर्णन रहता है।

विरह

वल्लभ संप्रदाय में विरह-वर्णन की बहुलता है किन्तु इसमें उस प्रकार के सूक्ष्म विरह का अभाव है जैसा कि राधावल्लभ या सखी संप्रदाय में है। सूक्ष्म विरह का जो स्वरूप अंकन इस संप्रदाय में माना जा सकता है वह केवल नंददास और सूर में ही अत्यल्प मात्रा उपलब्ध है। नंददास ने उसे प्रत्यक्ष और पलकांतर विरह कहा है। प्रत्यक्ष विरह प्रेमजन्य होता है। संयोग की स्थिति में भी यहाँ वियोग होता है। पलकांतर विरह भी संयोग में ही अंतर्गत होता है। पलक झँपने में जो दर्शन-बाधा होती है वही इसी विरह को उत्पन्न करती है। यह यथार्थ विरह न होकर उत्कट संयोग की अभिलाषा ही है।

वल्लभ-साहित्य में मुख्यता स्थूल विरह की है जिसमें प्रिय का वियोग होता है। नंददास ने विरह मंजरी में इसके दो भेद बताए हैं। प्रथम वनान्तर विरह है जो कि कृष्ण की गोचारण लीला एवं रात्रि-विश्रामजनित है। द्वितीय देशान्तर या प्रवास विप्रलंभ है जिसमें कृष्ण का मथुरा-द्वारका गमन है। देशांतर विरह ही प्रमुख है।

वनान्तर विरह के अंतर्गत ही रास के अवसर पर गोपी एवं राधा-विरह आते हैं। गोपियों को कृष्ण के अन्तर्धान होने पर आश्चर्य और व्याकुलता है। इस प्रकार छोड़ जाने के कारण वे अत्यन्त विरहातुर हैं उन्हें खोजती हैं तथा उनका गुण-गान और लीला अभिनय करती हैं। राधा का विरह और प्रखर है। कृष्ण ने उसे अन्य गोपियों से अधिक मान दिया इसलिए उसमें मद का होना स्वाभाविक ही है। जिस समय राधा प्रेम-गर्व के शिखर पर थी उसी समय कृष्ण उसे छोड़ जाते हैं। वह उस कामोद्दीपनकारी रात्रि में अपने सुख से विलग

अकेली ठगी-सी रह जाती है। उसकी स्थिति जल से निकाली गई मीन-सी हो गई है। उससे एक पग भी आगे बढ़ा नहीं जाता है। वह वन की द्रुम-लता से अपने प्रिय का पता पूछती है और सोचती है कि विरह में उसके प्राण नहीं बचेंगे —

पूछत है वन द्रुम द्रुम बेली।
तुमें तजि गये री पीताम्बर अकेली।।
अहो चम्पक मालती तमाला।
तुम्हें परसि गये नन्दलाला।।
क्यों गजराज बिना गज करनी।
कृष्ण सार बिन व्याकुल हरिनी।।
परमानंद प्रभु मिलहु न आई।
तुम दरसन बिन हंस उड़ाई।। (परमानंद सागर, २१६)

रास के प्रसंग में विरह-वर्णन सूर, नंददास और परमानन्ददास ने ही किया है, अन्य अष्टछापी कवियों ने उसके रस-रास और क्रीड़ा-पक्ष को ही लिया है।

प्रवास अथवा देशान्तर विरह का ही इस साहित्य में सबसे अधिक विस्तार मिलता है। इस विरह के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जा सकता था वह सब कुछ सूरदास ने कह दिया है। यह विरह कृष्ण के मथुरा-गमन से प्रारम्भ होता है और मिलन की आशा द्वारा ही शमन होने से बच जाता है।

इस साहित्य में प्रवास-विप्रलंभ दो रूपों में व्यक्त हुआ है। एक तो साधारण विरह तथा दूसरा भ्रमर-गीत। साधारण विरह के अन्तर्गत भ्रमरगीतेतर विरह-वर्णन आएँगे। इसके भी दो उपभेद किए जा सकते हैं। प्रथम गोपियों का विरह और द्वितीय राधा का विरह। इस विरह के अन्तर्गत गोपियों के विरह का ही विशेष वर्णन है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि राधा को विरह-व्यथा नहीं थी। एक तो गोपियों के विरह में ही राधा के विरह की अभिव्यक्ति हो गई और दूसरे उसकी वेदना इतनी गंभीर और अन्तर्मुखी थी कि उस पीड़ा का वर्णन करना उसके लिए असम्भव था। उसे न कोई शिकवा था न शिकायत। तड़ित चकित सी वह मौन हो गई थी। पर गोपियों की प्रत्येक उक्ति के पीछे से उसका विरह हृदय झाँकता रहता है। यथार्थ में राधा के गम्भीर प्रेम की एक झलक हमें गोपियों के विरह में मिलती है। गोपियों का विरह अधिक मुखर और विविध है। इसमें प्रेम की पीर अत्यन्त मर्मस्पर्शी रूप में व्यक्त हुई है। उनकी पीड़ा अवर्णनीय है। काम की समस्त दशाएँ उनके विरह में प्राप्त हैं।

गोपियों का विरह अपने सर्वोत्तम रूप में भ्रमर-गीत में प्रकट हुआ है। भ्रमर गीत की परम्परा हिन्दी-साहित्य से पूर्व की है और उसका अत्यन्त सुन्दर

रूप में इस संप्रदाय में विकसित हुआ है। इसके माध्यम से योग और ज्ञान पर ऐसी चोटें कसे गए हैं जो अपनी प्रभावशीलता में अद्वितीय हैं तथा जिनका रस अनिर्वचनीय है। हिन्दी में भ्रमर-गीत पर स्वतंत्र रूप से अध्ययन हो चुका है। इसमें व्यक्त विरह के सम्बन्ध में निम्नलिखित द्रष्टव्य है —

भ्रमर गीत में भी राधा के विरह का प्रत्यक्ष-वर्णन अल्प उसकी व्यंजना ही अधिक है। कृष्ण भी समस्त गोपियों को संदेश भेजते हैं, पर राधा के सम्बन्ध में मौन हैं। राधा ने भी उद्धव से न तो एक शब्द कहा और न ही कृष्ण को कोई संदेश भेजा। इतना मौन होते हुए भी उसका विरह सारे वातावरण पर छाया रहता है। गोपियों की प्रत्येक उक्ति में राधा के ही हृदय की धड़कन सुनाई पड़ती है। यही कारण है कि उद्धव ने भी सभी गोपियों को छोड़कर राधा की ही विरह-वेदना का उल्लेख श्री कृष्ण से निम्नलिखित हृदय-द्रावक रूप में किया है —

चित दै सुनौ स्याम प्रबीन।
हरि तुम्हारे बिरह राधा मैं जु देखी छीन॥
तज्यौ तेल तमोल भूषन अंग बसन मलीन।
कंकना कर बाम नाहीं दाहि भुज गहि लीन॥
जब सँदेसौ कहन सुंदरि गवन मो तन कीन।
छुटी छुद्रावलि चरन अरुझी गिरी बलहीन॥
कंठ बचन न बोलि आवै हृदय परिहस भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनौ ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यौं परम साहस कीन।
सूर हरि के दरस कारन रही आसा लीन॥

(सूर० ४७२२)

सूरदेव में भी राधा का स्वरूप अत्यन्त प्रेमनिष्ठ है। उसकी विरह की दारुण व्यथा को समझाने में कविगण ही समर्थ हैं। उसका यह रूप अत्यन्त दयनीय है।

राधा-गोपियों के इस विरह-वर्णन में काम की सभी दशाएं दृष्टव्य हैं। उनमें से राधा के मनोवेग तथा प्रिय-वस्तु के प्रति तीव्र आकर्षण का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है —

अति मलीन वृषभानु-कुमारी।
हरि स्रम-जल भींज्यौ उर-अंचल तिहिं लालच न धुवावति सारी।
अध मुख रहति अनत नहिं चितवति ज्यौं गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर बदन कुम्हिलाने ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी॥

हरि संदेस सुनि सहज मृतक भए इक बिरहिनि, दूजे अलि जारी ।
सूरदास कैसे करि जीवैं ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी ॥
(सूर० ४९९१)

जैसा कि पीछे भी कहा जा चुका है इस सम्प्रदाय में उपलब्ध विप्रलम्भ अपनी विविधता में अपनी गम्भीरता में अपनी प्रभावशीलता और करुणा में अद्वितीय है।

राधावल्लभ संप्रदाय

राधा-वल्लभ संप्रदाय में स्थूल विरह का अभाव है। राधा-कृष्ण के नित्य-संयोग तथा दोनों के एक पल के लिए भी न बिछुड़ने के कारण ऐसा है। यथार्थ में इस सम्प्रदाय में कृष्ण की मथुरा एवं द्वारका लीला मान्य नहीं है। ब्रज लीला में भी कृष्ण निकुंज में प्रिया के साथ सदा केलि रत रहते हैं। वे तो राधा के रूप का निरन्तर पान करते रहते हैं। अतः विरह का प्रश्न नहीं उठता। ध्रुवदास ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है 'ऐसे अद्भुत प्रेम में और रीति को विरह न संभवै। जो कुमति की नासा देखे कुम्हिलात ताको अधिपर को दिखाइबो अनीत। या प्रेम में न स्थूल प्रेम की समाई। न स्थूल विरह की समाई। न मान की।' एक रस यह प्रेम ही विरह रूप है। इसीलिए इस संप्रदाय में स्थूल विरह के स्थान पर सूक्ष्म विरह की कल्पना है।

राधावल्लभ संप्रदाय में विरह को अस्वीकार करके भी उसे सूक्ष्म विरह कहकर स्वीकार किया गया है। ऐसा क्यों है? ऐसा अनुमान है कि जिस समय श्री हितहरिवंशजी ने राधा-कृष्ण के नित्य-संयोग को अपने संप्रदाय का आधार बनाया होगा उसी समय उनके मन में तत्कालीन उपलब्ध साहित्य में प्राप्त राधा कृष्ण के विरह-स्वरूप और उसकी उत्कृष्टता तथा मार्मिकता का ध्यान आया होगा। वे जानते थे कि विरह-विहीन प्रेम में वह उत्साह और उत्कर्ष नहीं आ सकता है जो कि विरह के पुट से उत्पन्न होता है। इसलिए उन्हें विरह को अस्वीकार करके भी स्वीकार करना पड़ा। यह कार्य उन्होंने विरह की एक नवीन, सूक्ष्म और विलक्षण कल्पना द्वारा किया है। इस कल्पना द्वारा उन्होंने विरह को स्वीकार करके भी अस्वीकार कर दिया है। इस विधि से जहाँ एक ओर उन्होंने लोगों के आक्षेपों का समाधान किया वहाँ दूसरी ओर अन्य संप्रदायों में वर्णित प्रेम से अपने प्रेम के स्वरूप की श्रेष्ठता भी प्रमाणित की है। राधा-वल्लभ संप्रदाय की यह कल्पना सचमुच ही अपने में अनूठी है।

सूक्ष्म विरह का स्वरूप

डॉ० स्नातक ने अपने शोध-प्रबंध राधावल्लभ संप्रदाय में इस सूक्ष्म विरह

का स्वरूप निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है। सूक्ष्म विरह वह है जहाँ प्रिया-प्रियतम एक ही पर्यंक पर समासीन होते हुए भी अपने तन और मन के पार्थक्य को असह्य मानकर तादात्म्य की बलवती उत्कंठा से प्रेम-विह्वल होकर एक दूसरे में लीन हो जाना चाहते हैं। तन मन का पार्थक्य उन्हें विरह-जन्य वेदना का-सा प्रतीत होता है। निरंतर एक-दूसरे के रूप-सौन्दर्य का पान करते हुए भी मन में एक प्रकार की अव्यक्त अतृप्ति बनी रहती है और उसके कारण वे सूक्ष्म विरह का अनुभव करते हैं। इस विरह में एक निमेष का अन्तर, मुख मोड़कर सखी से बात करने का अन्तर भी असह्य विरह को उत्पन्न करनेवाला है। इस विरह की चाल अटपटी है। प्यासा जल न पीकर जल ही प्यास का पी जाता है। प्यास ही जल हो जाती है —

अटपटी प्रीति को विरह सुनि भूलि रहौ सब कोइ।
जल पीवत है प्यास को प्यास भयौ जल सोइ॥

(ध्रुवदास पृ० १८७)

कृष्ण-क्रोड़ में विराजमान राधा भी सहसा विरह से पीड़ित हो जाती है। ऐसा अद्भुत यह विरह है। इस विरह को भी हितहरिवंश की दो कुंडलियों द्वारा व्यक्त किया गया है। इसमें सारस और चकई दोनों के प्रेम की न्यूनताओं को दिखलाकर राधा-कृष्ण के प्रेम-विरह को व्यक्त किया गया है। सारस-युगल सदा संयोग रस का आनन्द लेता है। वियोग-जन्य दुःख की उसे अनुभूति नहीं होती है। चकवा-चकवी क्रमशः संयोग-सुख और वियोग-दुःख का अनुभव करते हैं, पर उनका यह सुख या दुःख एक समय में एक ही होता है। इसलिए सारस और चकवा दोनों का प्रेम पूर्ण उभय नहीं होता है। राधा-कृष्ण का संयोग सुख सारस युग्म के संयोग सुख से शतकोटि गुणित अधिक आनन्ददायक होते हुए भी चकवा-युग्म के वियोग-दुःख से शत कोटि गुणित अतृप्ति का दुःख उनके प्रेम-रस को विलक्षण बना देता है। यहाँ तृप्ति में ऐसी अतृप्ति है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यहाँ संयोग में भी ऐसा वियोग है जिसे संयोग और वियोग से परे की स्थिति का कहा जा सकता है। यही तृप्ति में अतृप्तिमय संयोग व वियोगमय इस विरह का रूप है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय का यह सूक्ष्म विरह-मिलन की स्थिति का है। यह प्रेम [illegible] विरह या समरसात्मक विरह कहा जा सकता है। इसीको ध्रुवदास ने निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया है — एक गात एक रूप उभय चन्द चकोर ज्यों नैनावन और मन महा कठिन यहां आहे अब देह न अपनों स्यारति नाहीं माहि

कति यह हूँ विरह मानत है।' (पृ० ५०) इस विरह का एक उदाहरण निम्न लिखित है —

कहा कहौं इन नैननि की बात।
ये अलि प्रिया वदन अम्बुज रस अटके अनत न जात।
जब जब रुकत पलक संपुट लट अति आतुर अकुलात।
लम्पट लव निमेष अन्तर तै अलप कलप सत सात॥
श्रुति पर कंज, दृगंजन कुच बिच मृग मद ह्वै न समात।
जै श्री हितहरिवंश नाभि सर जलचर जाचत सांवल गात॥

(हितचौरासी, १०)

पीछे कहा जा चुका है कि इस संप्रदाय में स्थूल विरह स्वीकृत नहीं है। सूक्ष्म विरह मिलन की स्थिति में ही होता है फिर भी हितहरिवंश के इस पद में स्थूल विरह का आभास मिलता है इसे अपवाद माना जा सकता है —

कमि चलहिं उठि गहर करत कत निकुंज बुलावत लाल॥
हा राधा राधिका पुकारत निरख मदन गज हाल॥
करत सहाय सरद ससि मारुत फूटि मिली उर माल।
दुर्गम तकत समर अति कातर, करहि न पिय प्रतिपाल॥
जै श्री हित हरिवंश चली अति आतुर श्रवन सुनत तेहि काल।
लै राखे गिरि कुच बिच सुन्दर सुरत सूर व्रज बाल॥ (११)

मान

विरह के समान ही सिद्धांत रूप में इस साहित्य में स्थूल मान का भी अभाव है। ध्रुवदास ने मान की स्थिति का संकेत इन शब्दों में किया है —

तहाँ मान कैसे बने अद्भुत सहज सुप्रेम।
भौंह चढ़ाय आसक्त रस कहु समाय बिच नैम॥ (पृ० ११५)

स्थूल मान की इस अस्वीकृति के साथ ही इस संप्रदाय में सूक्ष्म मान की कल्पना की गई है। यह मान सामान्यतः संभ्रम द्वारा उत्पन्न होता है। कभी-कभी बिना कारण ही यह प्रणय मान सहसा उत्पन्न हो जाता है। यह मान क्षणिक होता है पर इसमें विरहानुभूति अत्यन्त तीव्र होती है। संभ्रम मान में श्याम के वक्ष मुकुर में अपना प्रतिबिम्ब देखकर राधा मान करती है —

हरि उर मुकुर बिलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मान जुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोय प्रबोधित पिय प्रतिबिम्ब जनाय निहोरी॥
नेति नेति वचनामृत सुनि-सुनि ललितादिक देखति दुरि चोरी।
जै श्री हितहरिवंश करत कर धूनन प्रणय-कोप मालावलि तोरी॥

(हितचौरासी ३

का स्वरूप निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है। सूक्ष्म विरह वह है जहाँ प्रिया प्रियतम एक ही पर्यंक पर समासीन होते हुए भी अपने तन और मन के पार्थक्य को असह्य मानकर तादात्म्य की बलवती उत्कंठा से प्रेम विह्वल होकर एक-दूसरे में लीन हो जाना चाहते हैं। तन मन का पार्थक्य उन्हें विरह-जन्य वेदना का-सा प्रतीत होता है। निरन्तर एक दूसरे के रूप-सौंदर्य का पान करते हुए भी मन में एक प्रकार की अव्यक्त अतृप्ति बनी रहती है और उसके कारण वे सूक्ष्म विरह का अनुभव करते हैं। इस विरह में एक निमेष का अन्तर मुख मोड़कर सखी से बात करने का अन्तर भी असह्य विरह को उत्पन्न करनेवाला है। इस विरह की बात अटपटी है। प्यासा जल न पीकर जल ही प्यास को पी जाता है। प्यास ही जल हो जाती है —

अटपटी भाँति को विरह सुनि सुनि रहती सब कोइ।
जल पीवत है प्यास को प्यास भयी जल सोइ॥

(ध्रुवदास पृ० १८७)

कुंज-कोष में विराजमान राधा भी सहसा विरह से पीड़ित हो जाती है। ऐसा अद्भुत यह विरह है। इस विरह को भी हितहरिवंश की वा कुंडलिया द्वारा व्यक्त किया गया है। इसमें सारस और चकई, दोनों के प्रेम की न्यूनताओं को दिखलाकर राधा-कृष्ण के प्रेम-विरह को व्यक्त किया गया है। सारस-युगल सदा समान रस का आनन्द लेता है। वियोग जन्य दुःख की उसे अनुभूति नहीं होती है। चकवा-चकवी क्रमशः संयोग-सुख और वियोग-दुःख का अनुभव करते हैं पर उनका यह सुख या दुःख एक समय में एक ही होता है। इसलिए सारस और चकवा दोनों का प्रेम पूर्ण रसमय नहीं होता है। राधा-कृष्ण का संयोग सुख सारस-युग्म के संयोग सुख से अनन्तकोटि गुणित अधिक आनन्ददायक होते हुए भी चकवा-युग्म के वियोग-दुःख से अनन्त कोटि गुणित अतृप्ति का दुःख उनके प्रेम रस को विलक्षण बना देता है। वहाँ तृप्ति में ऐसी अतृप्ति है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वहाँ संयोग में भी ऐसा वियोग है जिसे संयोग और वियोग से परे की स्थिति ही कहा जा सकता है। यही तृप्ति में अतृप्तिमय संयोग में वियोगमय इस विरह का रूप है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय का यह सूक्ष्म विरह-मिलन की स्थिति का है। यह अद्भुत या चमत्कारपूर्ण विरह कहा जा सकता है। इसीको ध्रुवदास ने निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है — एक सेज पर रूप रसाल चन्द चकोर ज्यों नैनन और मन महा कठिन दशा हुई जब देखे हु अपनी प्यारी माझी महि

प्रकृति यह हूँ विरह मानत है। (पृ० ५०) इस विरह का एक उदाहरण निम्न लिखित है —

कहा कहौं इन नैननि की बात।
ए अलि प्रिया बदन अम्बुज रस अटके अनत न जात।
जब जब रुकत पलक संपुट लट अति आतुर अकुलात।
लम्पट लव निमेष अन्तर ते अलप कलप सत सात॥
श्रुति पर कंज, दृगंजन कुच बिच मृग मद ह्वै न समात।
जै श्री हितहरिवंश नाभि सर जलचर जाचत साँवल गात॥

(हितचौरासी ६०)

पीछे कहा जा चुका है कि इस सम्प्रदाय में स्थूल विरह स्वीकृत नहीं है। सूक्ष्म विरह मिलन की स्थिति में ही होता है; फिर भी हितहरिवंश के इस पद में स्थूल विरह का आभास मिलता है, इसे अपवाद माना जा सकता है —

बनि बनहि चलि मधुर करत कल निकुंज बुलावत लाल॥
हा राधा राधिका पुकारत निरखि मदन गज ढाल॥
करत सहाय सरद ससि मारुत, फूटि मिली उर माल।
दुर्गम तकत समर अति कातर, करहि न पिय प्रतिपाल॥
जै श्री हित हरिवंश चली अति आतुर श्रवन सुनत तेहि काल।
लै राखे गिरि कुच बिच सुन्दर सुरत सूर ब्रज बाल॥ (१२)

मान

विरह के समान ही सिद्धान्त रूप में इस साहित्य में स्थूल मान का भी अभाव है। ध्रुवदास ने मान की स्थिति का खंडन इन शब्दों में किया है —

जहाँ मान कहें अनें अद्भुत महँ यह प्रेम।
भीजें दोऊ आसक्त रस कहूँ समाय बिन नेम॥ (पृ० १९५)

स्थूल मान की इस अस्वीकृति के साथ ही इस संप्रदाय में सूक्ष्म मान की कल्पना की गई है। यह मान सामान्यतः भ्रम द्वारा उत्पन्न होता है। कभी-कभी बिना कारण ही यह प्रणय मान स्वतः उत्पन्न हो जाता है। यह मान क्षणिक होता है, पर इसमें विरहानुभूति अत्यन्त तीव्र होती है। भ्रमजन्य मान में कृष्ण के वक्ष मुकुर में अपना प्रतिबिम्ब देखकर राधा मान करती है —

हरि उर मुकुर बिलोकि अपनुपौ बिभ्रम बिकल मान जुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधित पिय प्रतिबिम्ब जनाइ निहोरी॥
नेति नेति बचनामृत सुनि-सुनि ललितादिक देखति दुरि चोरी।
जै श्री हितहरिवंश करत कर धूनन प्रणय-कोप मालावलि तोरी॥

(हितचौरासी, १

मान के सूक्ष्म-स्वरूप के अतिरिक्त उसके स्थूल रूप भी कहीं-कहीं मिल जाते हैं।

मानमोचन

इस संप्रदाय में मान-मोचन के छह शास्त्रीय उपाय—साम भेद दान, नति उपेक्षा और रसान्तर माने गए हैं। इनमें साम और भेद ही प्रमुख हैं। दान, उपेक्षा और रसान्तर का इस साहित्य में अभाव है।

साम-विधि में नायक प्रिय वचनों द्वारा नायिका को मनाता है। इसमें वह अपने विरह-कष्ट का वर्णन करते हुए राधा से कृपा की याचना करता है। भेद विधि का इस साहित्य में सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। नायक नायिका की सखी को मिला लेता है। वह सखी से अपने विरह का निवेदन कर उसकी कृपा की याचना करता है। सखी नायिका से नायक का विरह-निवेदन करती है उसे विविध प्रकार की सीख देती है ऊँच-नीच समझाती है और कभी-कभी उसकी भर्त्सना भी करती है। जिस विधि से भी संभव होता है वह मान-भंग कर नायक से उसे मिलाती है। राधा की कठोरता के लिए भर्त्सना करके उसके मान-भंग करने के एक ऐसे ही प्रयत्न का चित्र इस पद में बड़े ही सुन्दर रूप से किया गया है —

कबहूँ तैं काहू को कह्यौ न कियौ।
सुरत बसीठी तें सीठी करि डारी हठ करि कछु न लियौ ॥
नैननि तोहि पुतरिनता सिखाई औसर न हेत कियौ।
कठिन कुचन की संगति तौ कठिन ह्वै गयौ कठिन हियौ ॥
बिनु मनरायहिं सापु पियहिं तैं कबहु न चैन दियौ।
तरसत हू तैं कृपन अधर मधु, पिय न अघाइ पियौ ॥
सुनत सखी आतुर ह्वै आतुरता बिसरी सखियौ।
'व्यास' स्वामिनी सोवत ही मेरौ गोकुल चरन छियौ ॥

(व्यास ४६२)

सखी के अतिरिक्त कृष्ण कभी-कभी दूती का सहारा भी लेते हैं और उससे भी काम न बनता देखकर वे स्वयं दूति का रूप भी धारण करते हैं। कभी-कभी कृष्ण राधा के चरणों में पड़कर अथवा अनुनय द्वारा उनके मान का भंग करते हैं। मान के प्रसंगों में सर्वत्र नायक का विरह-क्लेश तथा उसकी आतुरता का उल्लेख है।

प्रवास विरह का इस साहित्य में पूर्ण अभाव है। सम्पूर्ण रूप से मात्रा में कम होते हुए भी यह एक नवीन भावना से प्रेरित सुन्दर और मोहक है।

सखी सम्प्रदाय

स्वामी हरिदास के सखी संप्रदाय के इष्टदेव कुंजबिहारी कृष्ण और कुंज बिहारिणी राधा हैं। इनका जन्म नहीं होता है वे गोकुल में नंद के यहाँ जन्म लेते

बाँके कृष्ण और वृषभानुनंदिनी राधा से भिन्न हैं। इनका नित्य विहार कुंजों में अबाधित रूप से चलता रहता है। यह विहार हरिदासी सहचरी के बल पर होता है।

विरह

इस संप्रदाय में भी विरह का अभाव माना गया है। कृष्ण को तो राधा का प्रवेश भी सह्य नहीं है और वे सदा तन-से-तन, हृदय-से-हृदय और नयन-से-नयन मिले रहने की प्रार्थना राधाजी से करते रहते हैं। इस प्रकार विरह को अस्वीकार करके इन्होंने भी राधावल्लभ संप्रदाय की भाँति सूक्ष्म विरह की कल्पना की है। यह कल्पना प्रेम की उत्कृष्टता व्यक्त करने के लिए की गई है। इसमें मिलन में ही उस गंभीर वेदना का अनुभव होता है जो कि अन्य को सामान्य विरह में होता है। इस विरह का कारण कृष्ण का भय और आशंका है। कृष्ण को सदा यह भय रहता है कि कहीं कभी लज्जा, कपट या मान के कारण राधाजी मं न कर दें। इसके द्वारा उद्भूत विरहानुभूति उनके प्रेम को प्रतिक्षण प्रगाढ़तर करती रहती है। इसी तत्व को हरिदास ने निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त किया है —

प्यारी जू एक बात को मोहि डर आवत है री।
मति कबहूँ कृपा करि जात॥ (केलिमाल)

इस संप्रदाय में पूर्वराग और प्रवासजन्य विरह का नितांत अभाव माना गया है। जो कुछ विरह है वह संयोग में आशंका और भयजनित है, जिसमें कृष्ण का कृपा-निवेदन और आंतरिक व्याकुलता ही प्रमुख है। हाँ मानजन्य विरह कुछ विस्तृत है किंतु वह भी स्थूल न होकर सूक्ष्म है। विरह की इस सांप्रदायिक मान्यता के बावजूद इस संप्रदाय के प्रमुख कवि बिहारिनिदेव में स्थूल विरह के तीन पद मिलते हैं। इन पदों में व्यक्त विरह सांप्रदायिक विरह से इस बात में भी भिन्न है कि यह लालजी (कृष्ण) का न होकर लाड़िलीजी (राधा) का है। ऐसे एक पद में राधा अपनी सखी से कहती हैं कि वे प्रिय रँगीली बातें कैसे विस्मृत हो सकती हैं। रसमग्न होकर प्रिय ने उन्हें तर मेरी एड़ियों पर अपने कुसुम हाथों से लिखा था। उन्हीं के रस-कुंज पर प्राण टिके हुए हैं किंतु काम बराबर घात कर रहा है। इससे तो कहीं अच्छा था कि मुझे विष घोल कर दिया होता। वे अपने प्रेम को भूल गए हैं। कब मेरे पत्र को पाकर वे फिर शरद रात्रि की याद कर मेरे दुःख को दूर करेंगे —

रँगीली क्यों बिसरें बतियाँ।
रतिपति रस बस भये परस्पर लिखि सुहस्त छतियाँ॥

कबहूँ पंकज प्रान रहत में करत काम बतियाँ ।
अब बिन छोरि पिवायो होती मनहित कित हूतियाँ ॥
स्याम सनेह बिसारि सखी सुनि कागद की पतियाँ ।
श्री बिहारीदास प्रभु बहुरि सुमिरहुँ सुखद सरद की रतियाँ ॥

मान

इस संप्रदाय में प्रिय प्रिया सूक्ष्म मान द्वारा मान रस का आनन्द उठाते हैं। रूठने और तूठने में जो आनन्द है उसे प्राप्त करने के लिए प्रिया-लीला से मान करती हैं किन्तु प्रेमी कृष्ण इसे भी नहीं सह पाते हैं। इसलिए सहचरी उन्हें मनाती है और वे भी क्षण भर में प्रसन्न होकर प्रिय को अंक में भर लेती हैं। वे प्रिय को निरंतर अनंग-रंग से सहाती रहती हैं। रूठने और फिर प्रसन्न होने में ही उन्हें रस मिलता है। इस रस के कारण ही उन्हें तूठने से रूठना अधिक प्रिय है —

नव नवीना प्रिया प्रिय आतुर चातुर केलि-कला गुन पावै ।
मांहि करै तब पाइँ परै हँस आसन यों मन मोद बढ़ावै ॥
श्री बिहारीदास कै प्रभु अनंग सुरंग में रंग अनंग बढ़ावै ।
रूठनी तूठनी मैं रस रूठनी तूठनै तें अति रूठनो भावै ॥

मान-मोचन

राधाजी का मान क्रीड़ात्मक होता है पर प्रिय उसीके विरह में प्राणान्तक पीड़ा का अनुभव करते हैं। वे स्वयं या सहचरी द्वारा मान-मोचन का प्रयत्न करते हैं। इसके लिए साम भेद और नति विधियों का प्रयोग होता है। साम-विधि के अंतर्गत कृष्ण अपने विरह की पीड़ा उल्लेख कर मान तजने की प्रार्थना करते हैं। कभी वे राधा की मधुर वाणी की प्रशंसा करते हैं कहीं अपने प्रेम का निवेदन करते हैं कभी अपने दोनों को एक कुंज का सखा कह करके मान भंग करने की प्रार्थना करते हैं। साम से भी जब मान नहीं छूटता है तब हरिदासी सखी की कृपा प्राप्त कर कृष्ण मान-मोचन का प्रयत्न करते हैं। चतुर सखी कृष्ण की विरह-पीड़ा का निवेदन करती है दोनों की प्रेमासक्ति का उल्लेख करती है एक बार बोलने की याचना करती है सुरत की बेला आ गई है इसकी याद दिलाती है और उसके मान करने की भर्त्सना करती हुई कहती है कि कौन ऐसी नारी है जो कि तुम्हारे सदृश है फिर क्यों मान करती हो। कभी-कभी कृष्ण स्वयं दूतिका बन कर जाते हैं और राधा की मान भंग के लिए प्रार्थना करते समय उसकी आँखें बंद कर बैठे हैं और तब कृष्ण को पहचानने से राधा का मान-भंग होता है।

मान के इन प्रसंगों से प्रकट होता है कि यद्यपि इस सम्प्रदाय में स्थूल मान नहीं माना गया है, पर उसका उल्लेख उपलब्ध है।

राधा कभी-कभी गुरु मान कर बैठती हैं। किसी भी प्रकार से वह छूटता नहीं है। अन्त में कृष्ण उनके चरण पकड़ लेते हैं। चतुर सखी उन्हें समझाती है और उनका मान भंग होता है। ऐसे प्रसंग स्वल्प हैं। ऐसा ही एक पद निम्न लिखित है —

कुंज के बैठे विनती करत चरन परत सुन्दर वर सुकुमार किशोर।
अति ही आतुर चातुर चपल धीरज न धरत चितवत छिन-छिन
मुख बिधु चकोर चोर।
अति दर्द करि पुचुकि फिरत सूचित मोहन नैन चकोर।
श्री बिहारी बिहारिनिदासि पिय प्याइ सुधारस ज्यौंधि हरे
तन-मन आनन्द न थोर॥

मान के प्रसंग में राधा के उत्तर उनके मान के स्वरूप को बतलानेवाले हैं। मान-मोचन होने पर राधा कहती हैं कि यह तो झूठ-मूठ का मान था। तुम तो मेरे प्रीतम और प्राण हो। तुमसे मान कैसा?

सुन ललित वचन सुनि श्याम के हौं नैननि में मुसिकाय।
व्याकुल विरह बिलोकि कैं प्यारी लिये हैं लाल उर लाय॥
मैं मान कियौ तुम सौं कबै हो कलपि कलपि कित लेत।
मेरे प्रीतम प्राण हो प्रिय जीवन तुमहिं समेत॥

मान का यह स्वरूप अन्य संप्रदायों में उपलब्ध नहीं है। मान-मोचन के बाद राधा-कृष्ण का मिलन होता है।

समग्र रूप में इस संप्रदाय में स्वल्प मात्रा में विरह उपलब्ध है। यह विरह मार्दवात्मक या मानमय है। मान भी यथार्थ में क्रीडात्मक है यद्यपि वह कभी-कभी दुःख हो जाता है। इस संप्रदाय में कृष्ण-पक्ष में विरह की अभिव्यक्ति है।

निम्बार्क सम्प्रदाय

निम्बार्क संप्रदाय में राधा-कृष्ण का पति-पत्नी सम्बन्ध है। फिर भी इसमें पूर्वराग और प्रवास का अभाव है। विरह मान और भ्रम का भी यहाँ प्रचार नहीं है। फिर भी स्वरूप-सम्बन्ध में विरह और मान के गुण का इस संप्रदाय के भक्त कवियों ने पढ़े हैं। मान का स्वरूप संभ्रम या प्रणय-रूप है। राग भय और भक्ति से यह भंग होता है। इसमें विरह मुख्य रूप से राधा का है। राधा के विरह का एक बड़ा ही भोला-भाला मोहक हृदय-भेदक और स्पष्ट वर्णन महावाणीकार ने किया है। अपने विरह का निवेदन करती हुई राधा अपनी सखी से कहती है मुझे प्रिय से मिला दो। वे मेरे प्राण हैं। मैं तेरा उपकार बहुमान मानूँगी। मेरे प्राणों की सत्ता अब तुझे है। क्या करूँ बिना देखे मुझे चैन नहीं पड़ता। मेरे

बिन सनेह नहिं मान, मान बिना न सनेह कछु।
जैसे रस मिष्ठान्न लौन सहित रोचक अधिक॥
जैसो जहाँ सनेह मान तहाँ तैसो गनैं।
ज्यों बरसे नित मेह सोभ न सुर प्रकाश बिन॥
मिसरी मान समान पूरत कर लागत कठिन।
जब लीजै रस पान, तब लागै रसना सरस॥

(माधुरीवाणी पृ० ८२)

मान की इस स्वीकृति पर भी इस साहित्य में मान का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है। मान का जो प्रसंग उपलब्ध है वह भी रंगभ्रम मान का है जिसमें राधा कृष्ण के वक्षस्थल पर अपना प्रतिबिंब देखकर मान करती हैं। इस मान का मोचन झीने पट द्वारा प्रतिबिंब को मिटा कर किया जाता है। मान के इन प्रसंगों में विरह का विशेष वर्णन नहीं है।

सम्प्रदाय-मुक्त कृष्ण भक्तों में रसखान और मीरां प्रमुख हैं। इनमें से रसखान मुख्यतः संयोग शृंगार के कवि हैं जिन्होंने भूले भटके ही विप्रलंभ का वर्णन किया है। उनका अधिकतर विप्रलंभ-वर्णन पूर्वराग का है। यह पूर्वराग कृष्ण के दर्शन से उत्पन्न है अथवा उनकी वंशी द्वारा। इनमें रूप का प्रभाव तथा नायिका के विरह का संकेत है। पूर्वराग का उनका एक ऐसा ही सवैया निम्न लिखित है —

आजु सखी नंद नंदन री, तकि ठाढ़ो है कदम्ब की छहियाँ।
नैन बिसाल की जोहन को तर बेधि गयी हियरा जिय माहीं॥
घायल घूमि सुमार गिरी रसखानि संभार रह्यो तन नाहीं।
ता पर या मुसकानि की डौंड़ी बजी ब्रज में अबला कित जाहीं॥

रसखान ने मान का वर्णन कुल एक पद में ही किया है जिसमें सखी राधा से कृष्ण के विरह का निवेदन कर मान मोचन के लिए कहती है।

प्रवास का रसखान ने वर्णन नहीं किया है। गोचारण गमन के विरह का उन्होंने उल्लेख किया है जिसमें नायिका की विरहाग्नि का संकेत है। इस विरह की अवस्था में जब नायिका कृष्ण के आगमन का समाचार सुनती है तब आनन्दातिरेक से उसके तन की ज्योति जाग उठती है अँखिया के द्वार खुलने लगते हैं मानों किसीने दीये की बाती ही उकसा दी हो। —

रसखानि सुन्यो है वियोग के ताप मलीन महादुति देह तिया की।
पंकज सो मुख गो मुरझाय लगी लपटें बिरहागिनि हिया की॥
ऐसे में आवत कान्ह सुने हुलसी सु तनी तरकी अंगिया की।
यों बन जोति उठी तन की, उसकाइ दई मनो बाती दिया की॥

रसखान में विरह की कसक को समझने की क्षमता थी, किन्तु प्रेम के संयोग पक्ष में ही उनका मन अधिक रमा है।

मीराँ

भक्तों में मीराँ का स्थान अन्यतम है। संभवतः वे किसी संप्रदाय में दीक्षित नहीं थीं। इसीलिए उनकी भक्ति-धारा स्वच्छन्द गति से प्रवाहित हुई है। उन्होंने गिरधर गोपाल पर तन मन वार दिया है और अपने प्रेम में वे आत्म विभोर हैं। उनके इस प्रेम में विप्रलंभ की तीव्र वेदना और मिलन की उत्कट आकांक्षा है। अन्य भक्त-कवियों के समान उन्होंने कृष्ण की लीला में सखी रूप से प्रवेश नहीं चाहा है। उन्होंने तो सदैव कृष्ण को प्रिय रूप में चाहा है। इस तरह से उनकी भक्ति सच्चे अर्थों में गोपी भाव की है। इसमें भी वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं किसीसे उन्होंने तादात्म्य नहीं किया है। इसीके कारण उनके काव्य में सच्ची सरल और सरस प्रेमानुभूति है जो अत्यन्त दुर्लभ है।

मीराँ का प्रेम प्रारम्भ से ही विरहयुक्त है। अपार्थिव कृष्ण से प्रेम में संयोग के क्षण स्वप्न और क्षणिक ही हो सकते हैं। उसके बाद केवल विरह ही विरह बच जाता है और इसीमें वे जीवन भर रहीं। विरह की यही वेदना छट पटाहट उनके काव्य में सर्वत्र व्यक्त हुई है।

मीराँ का प्रेम पूर्वराग से विकसित होता है। यह पूर्वराग रूप-दर्शन से उत्पन्न हुआ है। कृष्ण की रूप-माधुरी में मीराँ का मन ऐसा अटका है कि उन्होंने उनके पीछे लाज-मरजाद और कुल-कानि आदि सभीका त्याग कर दिया है। मीराँ ने इनके साथ-साथ अपने प्रेम को 'बालापन की प्रीत' और 'जन्म-जन्म की प्रीति' भी कहा है। इसके अतिरिक्त एक पद में उन्होंने स्वप्न में जगदीश से विवाह की चर्चा भी की है।

मीराँ के इस प्रेम में विरह-वेदना बहुत अधिक है। उसने बार-बार प्रिय से अपने प्रेम का और अपनी पीड़ा का निवेदन किया है। उनके इस प्रेम-निवेदन में अभिलाषा चिन्ता स्मृति गुण-कथन आदि अनेक काम की दशाएं दिखलाई पड़ती हैं।

मीराँ में मान का पूर्ण अभाव है। प्रवास के अनेक उल्लेख उन्होंने किए हैं। प्रवास में प्रिय-गमन और घर न आने तथा अपनी पीड़ा आदि का उल्लेख है। संदेश उपालंभ और पाती का भी कथन मिलता है।

मीराँ ने कृष्ण के मथुरा और द्वारका दोनों ही प्रवास का उल्लेख किया है। मथुरा प्रवास के प्रसंग में उनका मधुवन जाकर फिर न लौटना यहाँ की

प्रियों के प्रेम-फंद में फँसकर उसे भूल जाने का संकेत किया है। इसमें उपालंभ है।

मीरां ने द्वारका-प्रवास को लेकर भी काफ़ी कहा है। अन्य भक्तों में इसका अभाव है। कृष्ण जब तक मथुरा में थे तब तक मिलन की कुछ न कुछ आशा अवश्य थी। उनके द्वारका जाने से तो समस्त आशाएँ टूट गईं। द्वारका प्रस्थान करते समय उन्हें अपने तमाम वादों में से एक का भी ध्यान न आया। मीरां का ऐसा लगा मानों उसे टाला दे गए। कभी वह अपन बचपन की प्रीति की याद दिलाती है और कभी प्रिय-विहीन अंधकारमय गृह की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करती है। अपने अबलापन की दुहाई देकर वह अपने स्वामी को बुलाती है। उसका एक ऐसा ही पद निम्नलिखित है —

> निवर मत म्हासो माय जो हूँ तो थारे चरणा री दासी।
> मैं अबला तुम सबला स्वामी, नहीं मिलण की टाली रे।
> ढूंढ-ढूंढ पग थाके धरती पर, मति सयानी कोई कासी रे।
> आप तो जाइ द्वारका छाये हम सूं मैं गया टाली रे।
> बालपने को ज्ञान समझो, प्रीति वचन प्रतिपाली रे।
> थारि महिमा मायो सिपासो थारे महिमा उग्रिपाली रे॥
> कृपा करि मोहि दरसन दीज्यो अब ऋतु आयो बरसाली रे।
> सब जग म्हारी निंदा करत है कीन्ही भूली काली रे॥
> सरण तुम्हारी आई साँवरा तुम भी दियो छै म्हासूं टाली रे।
> म्हारो घर में भयो अंधेरो आन करो उजियाली रे।
> मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बिरह अगनि मत जाली रे॥
>
> (मीरां बृहद् पद संग्रह ५९)

प्रिय के प्रवास को अत्यंत कष्टप्रद बतानेवाली उनकी कृष्णा की प्रीति है। गोपियों की भाँति मीरां को भी इसका बड़ा दुःख है। ऐसी प्रीति के कारण ही उसे ऐसा प्रतीत होता है मानों अमृत में विष घोला जा रहा है। इसीसे वह कहती है कि निर्मोही से प्रीति नहीं जोड़नी चाहिए।

मीरां के विरह वर्णन में प्रिय-दर्शन की तीव्र आकांक्षा है। अपनी इस आकांक्षा को वे अनेक प्रकार से व्यक्त करती हैं। कभी वे कहती हैं कि प्रिय के दर्शनों के बिना नेत्र दुखने लगे हैं तो कहीं प्रिय के न आने के कारण दर्शनों के लिए तरसती हैं। वे बार-बार पुकारकर प्रिय से दर्शन देने की प्रार्थना करती हैं। वे अपनी दयनीय दशा का वर्णन बारहमासे में करके पूछती हैं कि कब दर्शन होंगे। वे अपने अनन्य प्रेम, अपनी कुल-मर्यादा-त्याग की ओर संकेत करती

और अपनी सुधि लेने के लिए कहती हैं। प्रिय-कृपा की आकांक्षा करते हुए वे बार बार दर्शन की प्रार्थना करती हैं। उन्हें प्रिय-कृपा का ही भरोसा है।

अपने विरह का उल्लेख उन्होंने पाती द्वारा किया है। इस पाती में वे अपने विरह का उल्लेख करती हैं तथा आने का संदेश भेजती हैं। इसके अतिरिक्त वे कृष्ण की पातियों की भी चर्चा करती हैं। वे कहती हैं पातियों का कौन विश्वास करे। हे हरि आकर खबर लो। तुम तो झूठी पातियाँ लिख-लिखकर भेजते हो उनका क्या लेना-देना। इतना होने पर भी वे प्रिय की पाती बार-बार पढ़ती हैं क्योंकि बिना पढ़े मन नहीं मानता है। प्रिय की पाती पढ़कर तो विरह और भी उद्दीप्त हो उठता है अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं, प्रस्वेद होता है और पाती पढ़ी नहीं जाती है। इसलिए वे किसी से पत्र बाँच कर सुनाने को कहती हैं।

मीरां ने उपालंभ द्वारा भी अपने विरह को व्यक्त किया है। प्रेम उपालंभों में वे कहती हैं विश्वासघात कर तुम मुझे छोड़ गए। जाकर मधुपुरी में रहने लगे। निर्मोही मैं तुम्हारी प्रीत जान गई। बताओ अमृत पिलाकर विष देना किस गाँव की रीति है। तुम कपट के मित्र हो। सारा संसार मुझे ताने देता है और तुम विदेश में छा गए हो। हे प्रिय तुम योगियों के समान हो फिर भला ही ब्रह्मचारी क्यों बन गए हो? दूसरे प्रकार के उपालंभ भ्रमरगीत से सम्बन्धित हैं जिनमें कृष्ण की निष्ठुरता और अपने दुर्भाग्य का कथन है।

मीरां ने अपने पदों में अपने विरह की वेदना की अभिव्यक्ति बार-बार की है। प्रेम पद मात्रा में अधिक और उच्चकोटि के हैं। इनमें मन न लगने, दिन रात रोने निरन्तर बाट जोहने विराम में करवट-करवट लेने प्रकृति के दुःखदायी होने आदि का उल्लेख है। मीरां की इस प्रेम-व्याधि को कोई नहीं समझ पाता है। लोग दवा-दारू लेकर दौड़ते हैं वैद्य बुलाते हैं पर वह जिस रोग से पीड़ित है वह तो तभी जा सकता है जब कन्हैया वैद्य बनकर आएगा। इन सभी विरह निवेदनों में संयोग की तीव्र कामना है। मीरां अपने जाते हुए यौवन का उल्लेख करती हैं प्रिय के लिए सेज सजाने को कहती हैं और फिर भी जब प्रिय नहीं आता है तो प्रेम न करने की ही सीख देने लगती हैं। मीरां की यह विरहाभिव्यक्ति अनेकानेक पदों में हुई है। यह हिन्दी साहित्य की निधि है।

स्पष्ट रूप से हिन्दी भक्ति-शृंगार में विप्रलंभ की अभिव्यक्ति अत्यंत विविध रूप में हुई है। इसकी महत्ता का यही प्रमाण है कि जिन सम्प्रदायों में सैद्धांतिक रूप से विरह को स्वीकृति नहीं है उन्होंने भी सूक्ष्म विरह की कल्पना द्वारा अपने साहित्य का श्री-सम्पादन किया है। यह विप्रलंभ अत्यंत व्यापक रूप में प्राप्त है और अपनी रमणीयता में यह अनुपम है।

उपसंहार

हिन्दी भक्ति-शृंगार के इस संक्षिप्त अवलोकन से दो-तीन तथ्य सामने आते हैं। सर्वप्रथम जो बात सामने आती है वह भक्ति शृंगार की आरम्भिक स्वीकृति और महत्व है। इसका कारण धर्म और शृंगार का ऐतिहासिक सम्बन्ध है। धर्म और शृंगार का सम्बन्ध संसार के सभी धर्मों में प्राप्त है। हिन्दू धर्म में तो इसकी अत्यंत स्पष्ट और पुष्ट परंपरा रही है। धर्म के विकास की जिस परंपरा में भक्ति का जन्म हुआ उसमें शृंगार की स्वीकृति स्वयमेव आ गई। भक्ति-काल में इष्टदेव के स्वरूप के कारण यह शृंगारिकता और भी निखरी है।

इस शृंगार के सम्बन्ध में जो दूसरी बात सामने आती है वह है कामशास्त्र का आधार। भक्त-कवियों ने अपने शृंगार-वर्णन में कामशास्त्र का जितना अधिक आधार लिया है उतना अधिक आधार न तो धर्मशास्त्रों का न साहित्य शास्त्र का और न ही भक्ति-साहित्य-शास्त्र का लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तों की कामशास्त्र में गहरी पैठ थी और उन्होंने कृष्ण राधा के शृंगारिक स्वरूप को कामशास्त्रीय कसौटी पर खरा उतारने का प्रयत्न किया है।

इस शृंगार ने अपनी कथाएँ साहित्यिक एवं लौकिक दोनों परम्पराओं से ग्रहण की हैं। साहित्यिक परम्परा में वैदिक और लौकिक संस्कृत-साहित्य, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य हैं। लोक-साहित्य में जन-समाज में प्रचलित कथाएँ तथा कृष्ण के लोक-प्रचलित एवं लोक-ग्राह्य रूप का ही इसमें चित्रण है। यथार्थ में इस साहित्य में साहित्यिक एवं लोक-तत्वों का ऐसा मणि-कांचन योग हुआ है जैसा कि अन्यत्र दुर्लभ है।

इस भक्ति शृंगार की शृंगारिकता को प्रतीकों द्वारा समझाने का आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा प्रयत्न किया गया है। यदि हम भक्त-कवियों की मूल भावनाओं पर ही कुठाराघात करना नहीं चाहते हैं तो प्रतीकात्मक व्याख्या का यह आग्रह करना अनुचित है। ऐसा प्रतीत होता है कि नायक-नायिका के अलौकिक होने तथा उनकी लीला के अप्राकृत होने में भक्तों का विश्वास है पर इसके आगे उनकी समस्त क्रियाएँ, लीलाएँ आदि यथार्थ हैं। वे सचमुच हुई हैं। उनकी आत्मा-परमात्मा रूप में व्याख्या नहीं की जा सकती है। यथार्थ में नायक-नायिका की अलौकिकता मान लेने के बाद उनकी लीलाओं का वर्णन पूर्णतः लौकिक धरातल पर हुआ है। उसमें प्रतीकात्मकता खोजना अनुचित है।

भक्ति-शृंगार की रचना के समय एक ओर संस्कृत का रस-शास्त्र पूर्णता को प्राप्त कर चुका था तो दूसरी ओर गौड़ीय वैष्णवों ने अत्यंत कुशलतापूर्वक शृंगार रस को भक्ति-शास्त्रीय रूप दे डाला था। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि

काल के कवियों ने शृंगार के शास्त्रीय पक्ष की अपेक्षा करके उसके स्वाभाविक रूप का ही चित्रण किया है।

भक्ति-शृंगार की श्लीलता और अश्लीलता का प्रश्न जटिल है। भक्तों ने इसकी रचना में तत्कालीन नैतिकता का ध्यान नहीं रखा ऐसा कहा जा सकता है। पर साथ ही साथ यह साहित्य भी सामान्य जनता के लिए नहीं था। इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका उद्देश्य अश्लील साहित्य का निर्माण नहीं था। अपने भावों में विभोर होकर भक्तों ने जो कुछ भी रचनाएँ की हैं उन्हें नैतिकता की कसौटी पर कसने की न उन्हें इच्छा थी न ही आवश्यकता। इसलिए संभव है कि कुछ लोगों को वे अश्लील लगें।

इस साहित्य में प्राप्त शृंगार अति विशाल और विविध है। शृंगार का शायद ही कोई अंग इन भक्तों से छूटा हो। उनका यह शृंगार-वर्णन सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट है।



सहायक ग्रंथ-सूची

अंग्रेजी

1 *Ancient Symbol Worship* — Westropp & Wake.

2 Bhagvat, its Philosophy its Ethics and its Theology — Bhaktivinode

3 Bhakti Cult in Ancient India — B K G Shastri.

4 Chaitanya and his Age — D C Sen

5 Chaitanya s Pilgrimage and Teaching — Jadunath Sarkar

6 *Collected Papers of Freud*

7 Critical Study of 'Rasa in the light of Modern Psychology — C. B. L. Gupta Rakesh'

8 The Dance of Siva — A Coomarswamy

9 Elements of Hindu Iconography — T A Gopinath Rao

10. Emotions of Mens — F H Lund.

11 Encyclopaedia of Religion and Ethics — Hasting.

12. The Evolution of Indian Mysticism — N. S Ramaswami Shastri.

13 General Introduction to Tantra Philosophy — S N Das Gupta

14 Hindu Medieval Sculpture — R. Burnier

15 Hindu Mysticism — M. N Sarkar

16. Hindu Mysticism — S N Das Gupta

17 History of Religious Architecture — E. Short

18 History of Sanskrit Literature — S. N Das Gupta & S. N D

19 A History of Indian Philosophy — S. N Das Gupta

20 The Interpretation of Religious Experience

21 An Introduction to Cultural Anthropology — R. H Lowiew
22. Indian Literature — Winterneitze
23 Literature and Psychology — F L. Lucas
24 Mysticism — E. Underhill
25 Mysticism, Freudianism and Scientific Psychology — K Dunlop.
26 Obscure Religious Cults — S B Das Gupta
27 Phallic Worship — G R Scott.
28 Philosophy of Anology & Symbolism — S T Cargill.
29 Philosophy in a New Key — S K. Langer
30. Principles of Anthropology — Chapple & Coon.
31 Principles of Tantra — A. Avalon.
32 Psychology and Religion — C G Jung
33 The Psychology of Emotions — Ribot.
34 Religion and Sex — C Cohan
35 Sex Symbolism in Religion — J B Hanny
36 Sexual life in Ancient India — J J Meyer
37 Shakti & Shakta — J Woodrogge.
38 Studies in the Psychology of Sex — H Ellis
39 Studies in the Tantra — P C Bagchi.
40. Symbolism and Belief — E. Bevan.
41 Symbolism — P Agarwal.
42. Vaisnavism Sarisim & other Minor Systems — Bhandarkar
43 The Varities of Religious Experience — W James
44 Yuganaddha — H V Guenther

संस्कृत

१ अग्निपुराण
२ अहिर्बुध्न्य संहिता
३ ऐतरेय ब्राह्मण
४ शतपथ ब्राह्मण
५ ताण्ड्य महाब्राह्मण
६ ऋग्वेद
७ छान्दोग्य उपनिषद्
८ बृहदारण्यक उपनिषद्

९ तैत्तिरीयोपनिषद्
१० मांडूक्योपनिषद्
११ श्वेताश्वतरोपनिषद्
१२ कात्यायन श्रौतसूत्र
१३ आश्वलायन श्रौतसूत्र
१४ आपस्तंब श्रौतसूत्र
१५ आपस्तंब गृह्यसूत्र
१६ पारस्कर गृह्यसूत्र
१७ वाल्मीकि रामायण
१८ महाभारत
१९ विष्णुपुराण
२० पद्मपुराण
२१ भागवतपुराण
२२ ब्रह्मवैवर्त पुराण
२३ नारद भक्तिसूत्र
२४ शांडिल्य भक्तिसूत्र
२५ साहित्य दर्पण
२६ हरिभक्ति रसामृतसिंधु
२७ उज्ज्वल नीलमणि
२८ दशरूपक
२९ कामसूत्र
३० मानस रंग
३१ गीत गोविंद
३२ अष्ट टीका भागवत

हिन्दी

(क) अप्रकाशित शोध-प्रबंध

१ हिन्दी साहित्य में नायिका भेद — डॉ० राकेश गुप्त
२ परमानन्द—जीवन और कृति — डॉ० श्यामसुन्दर दीक्षित
३ भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में राधा का स्वरूप — डॉ० द्वारकाप्रसाद मीतल
४ स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य — डॉ० गोपालदत्त शर्मा
५ कविवर परमानन्ददास और उनका साहित्य — डॉ० गोवर्द्धननाथ शुक्ल
६ हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि — डॉ० गिरधारीलाल शास्त्री
७ हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका — डॉ० रामनरेश वर्मा

(ख) हस्तलिखित वाणियाँ

१ श्री राधावल्लभ संप्रदाय के भक्तों की वाणियाँ
२ टट्टी सम्प्रदाय के आचार्यों की वाणियाँ
३ पुष्ट रस की टीका—गो० विट्ठलनाथ

(ग) मुद्रित ग्रंथ

१ कबीर ग्रंथावली — डॉ० श्यामसुन्दरदास
२ संत कबीर — डॉ० रामकुमार वर्मा
३ कबीर — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

सहायक ग्रन्थ-सूची

४ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय
५. संत काव्य
६ जायसी ग्रंथावली
७ जायसी ग्रंथावली
८ पद्मावत
९ चित्रावली
१० मधुमालती
११ ईरान के सूफी कवि
१२ तुलसी ग्रंथावली
१३ तुलसीदास
१४ तुलसी और उनका युग
१५ विद्यापति की पदावली
१६ सूरसागर
१७ नंददास ग्रंथावली
१८ गोविंदस्वामी
१९. कुंभनदास
२० परमानन्द सागर
२१ हित चौरासी
२२ व्यालीस लीला
२३ भक्त-कवि व्यासजी
२४ युगल शतक
२५ महावाणी
२६ माधुरी वाणी
२७ वल्लभ रसिक की वाणी
२८. केलिमाल
२९ मीरां बृहत् पद संग्रह
३० रसखान
३१ मीरां एक अध्ययन
३२ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय
३३ राधावल्लभ सम्प्रदाय और साहित्य
३४ राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय
३५. [illegible]

डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
परशुराम चतुर्वेदी
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
डॉ० माताप्रसाद गुप्त
डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
उसमान
संपादक—श्री सत्यजीवन वर्मा
मंझन
सं० डॉ० शिवगोपाल मिश्र
बांकेबिहारी
डॉ० माताप्रसाद गुप्त
डॉ० राजपति दीक्षित
खगेन्द्रनाथ मित्र
काशी नागरी प्रचारिणी सभा
उमाशंकर शुक्ल
विद्या-विभाग कांकरोली
विद्या-विभाग कांकरोली
डॉ० गोवर्द्धननाथ शुक्ल
हितहरिवंश
ध्रुवदास
सं० वासुदेव गोस्वामी
श्री भट्ट
श्री हरिव्यासदेवाचार्य
सं० बाबा कृष्णदास
सं० बाबा कृष्णदास
स्वामी हरिदास
पद्मावती शबनम
सं० चन्द्रशेखर पांडे
पद्मावती शबनम
डॉ० दीनदयालु गुप्त
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
[illegible]